अनुक्रमणिका :-

समर्पण

जलते प्रश्नों की ज्वाला से भाग्य-बद्ध,

उत्तर-प्रदेश के शिक्षा-मंत्री,

माननीय

श्री हरगोविन्द सिंह जी को

सादर समर्पित,

जिन्होंने अपने मनस्वी प्रयासों से सस्ती लोक-प्रियता

की चिन्ता न कर, शिक्षा और हिन्दी-क्षेत्र की

अनेक जटिल समस्याओं को अध्यवसाय,

साहस एवं दुर्दम्यता के साथ, एक

व्यवस्थित समाधान दिया !

—क्षेम

कुछ स्थापना-सूत्र—

छायावाद मरा नहीं, वैसे ही जैसे साहित्य का कोई सत्प्रयास नहीं मरता। जैसे फूल फल, और फल बीज तथा बीज नये पौधों में विकसित होता है, वैसे ही छायावाद जीवन को बल देनेवाली अनेक उप-धाराओं में फैल गया है।

× × ×

छायावाद स्वय अपने में निरपेक्ष कोई दार्शनिक मान्यता नहीं, वह एक व्यापक मानव-वादी साहित्यिक चेतना है जो जीवन-जगत् की जडता के विरुद्ध व्यक्ति-स्वाधीनता, आत्म-निष्ठता एव भाव-वादिता के मूल्यों की प्रतिष्ठापना करती है। वह 'वाद' नहीं एक जीवन-दृष्टि है। वह कुछ निश्चित व्यक्तिगत एव सामाजिक यथार्थों की मान्यता का प्रश्न है।

× × ×

छाया-युगीन काव्य मर्यादाओं (मूल्यों) के सघर्ष-काल की उद्भूति है। वह नवीन मर्यादाओं के प्रति सचेत है। 'छाया'-काव्य इसलिए एक विद्रोह है कि उसमें पुरातन रूढियों के प्रति तीव्र विरोध और प्रतिक्रिया है, किन्तु वह एक सास्कृतिक सृजन भी है जिसने प्राचीन और नवीन को मानव-मूल्यों की तुला पर तौलकर, ग्राह्य तत्त्वों का एक भाव-प्रेरक सश्लेषण प्रस्तुत किया है।

× × ×

छायावाद की 'छाया' आत्मा, परमात्मा या प्रकृति की छाया नहीं, वस्तु पर अन्तरीण अनुभूतियों की छाया है। छायावादी कवि बडा भावुक और अपने बन्धनों में अत्यन्त कल्पना-शील है। वह वस्तुओं की बाह्य-स्थूल रूप-रेखा की तुलना में अपनी अनुभूतियों को अधिक सत्य और विश्वसनीय मानता है। यही अनुभूति जब विषय-वस्तु के भीतर से बाहर छलकती भासित होती है, तो उस प्रोद्भास को ही 'प्रसाद' जी ने अपनी 'छाया' माना है। सभी छायावादी कवियों एव सच्चे पारखियों ने घूम-फिर कर, कवि की इसी स्वानुभूति या आत्म-निष्ठता को इसकी प्रमुख विशेषता मानी है।

× × ×

'छायावाद' शब्द अब स्वय-समर्थ एक पारिभाषिक बन गया है, और किसी भी एक जड दार्शनिक मान्यता से परे, अब यह उन सब विशेषताओं का सकेतक बन गया है जो इसके प्रमुख धर्मों के रूप में परिलक्षित होती हैं। नवीन परिस्थितियों मे बदले हुए जीवन के पर्यालोक (पर्सपेक्टिव) में, छायावाद ने जीवन के मानव मूल्यों और साहित्य की जड प्रणालियों का पुनर्मूल्याकन किया। इसने जीवन और साहित्य मे नये सौन्दर्य-द्वार खोले हैं।

आमुख

छायावादी काव्य के व्याख्या-विवेचन को लेकर 'छायावाद के गौरव-चिह्न', समीक्षा के क्षेत्र में मेरा द्वितीय प्रयास है। 'छायावाद की काव्य-साधना' नामक प्रथम प्रयास में मैंने छायावादी काव्य के प्रमुख एवं मोटे-मोटे पक्षों को लेकर विचार किया था। छायावाद पर पुस्तक-रूप में कदाचित् वह मेरा द्वितीय प्रयास था। श्री शम्भू नाथ सिंह का 'छायावाद युग' ग्रंथ इस प्रकार का प्रथम प्रयास है। उसमें विद्वान् समीक्षक ने समाजवादी आलोचना-पद्धति पर इस काव्य का गम्भीर विश्लेषणात्मक परीक्षण प्रस्तुत किया है। प्रथम प्रयास होने के नाते ही उन्हें इस काव्य की पृष्ठभूमि में जाकर सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को विस्तार से उद्घाटित करना पड़ा और इसी कारण उस, नींव से चलने वाले प्रयास में इस काव्य के संश्लेषणात्मक मूल्यांकन को उतना विस्तार न मिल सका; एक ही ग्रंथ में सब सम्भव भी न था। 'छायावाद की काव्य-साधना' में मैंने विश्लेषणात्मक परीक्षण की अपेक्षा संश्लेषणात्मक आस्वादन को आगे रखा। मैं काव्य को संश्लेषणात्मक प्रक्रिया को महत्त्व देने वाला हूँ और इसीलिए उसे परिस्थितियों की प्रेरणा ही मानता हूँ; प्रतिकृति या प्रतिछाया मात्र नहीं। कवि की कल्पना प्राप्त-सामग्री को नवीन रूप देती है और कवि की भावना उसे नयी शक्ति; इसी से काव्य-प्रक्रिया में ढला हुआ वस्तु-रूप वस्तु के पार्थिव रूप से अनेक बातों में विशिष्ट और परिमार्जित होता है। समीक्षा वैज्ञानिक विश्लेषण से आगे संश्लेषणात्मक रसास्वादन और सौन्दर्य का आकलन भी है। 'छायावाद की काव्य-साधना' में मैंने छायावादी काव्य के साहित्यिक मूल्यांकन के प्रयास को ही प्रमुख बनाया है; क्योंकि समाज या व्यक्ति साहित्य नहीं है, काव्य में अभिव्यक्त समाज या व्यक्ति साहित्य बनता है। मेरी बात और स्पष्ट हो जाय, यदि मैं कहूँ कि जैसे क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर अलग-अलग शरीर नहीं है, वरन् एक विशेष रूप में इनका संश्लेषण शरीर है। जैसे आग, पानी, वायु आदि का अलग-अलग विश्लेषण शरीर-सौन्दर्य की सच्ची व्याख्या और उसकी सच्ची उपलब्धि नहीं है, वैसे ही काव्य में गृहीत उपादानों का निरपेक्ष विश्लेषण काव्य-समीक्षण का वास्तविक कार्य नहीं। समीक्षण और काव्य-सौन्दर्य की उपलब्धि, काव्य में अभिव्यक्त जीवन की व्याख्या में ही सम्भव है। इसी मान्यता पर मैंने काव्य में प्राप्त उपादानों तक ही अपने को सीमित रखा है।

प्रस्तुत ग्रंथ में मैंने काव्य-रूप के परिवेश और परिसर को भी समझने का प्रयास किया है। छायावादी काव्य के सांस्कृतिक पक्ष, लोक-पृष्ठभूमि, बौद्धिक प्रभाव, मानसिक पृष्ठभूमि आदि से सम्बद्ध अध्याय इसी दिशा के प्रयास हैं। इसका प्रकृति-वर्णन की शैलियों से सम्बद्ध अध्याय 'काव्य साधना' के लिए ही लिखा गया था, पुस्तक-विस्तार के भय से वह उसमें न जा सका। उपादानों के विवेचन में मैंने उस 'छाया युगीन' मूल चेतना का सदैव ध्यान रखा है जिसने इस युग की चिन्तना को प्रभावित किया है और जो इस युग के काव्यरूप के ढलाव में भी प्रतिफलित होती रही है। प्रजातान्त्रिक युग के इन मानवीय जीवन-मूल्यों (मर्यादाओं) को भुलाकर, इस काव्य की व्याख्या और उसके सौन्दर्य का भावन करना बड़ा कठिन होगा। जीवन में काव्य की महत्ता और उपयोगिता निरन्तर बनी रहेगी, पर जीवन-मर्यादाओं के परिवर्तन के साथ-साथ काव्य-'वस्तु' और काव्य-'रूप' का परिवर्तन-विवर्धन भी अनिवार्य है। मेरा अपना विश्वास है कि छायावादी काव्य की वे समस्त विशेषताएँ जो पूर्व-कालीन काव्य से भिन्न और नई लगती हैं, इसी परिवर्त्तन के फल-स्वरूप अवतरित हुई हैं। प्रजातान्त्रिक मूल्य-व्यवस्था में व्यक्ति-स्वातत्र्य की मान्यता के कारण काव्य के 'साधारणीकरण' के बाह्य रूप में परिवर्तन आया है। काव्य में व्यक्तित्व-प्रतिष्ठा, स्वानुभूति-निरूपण की प्रवृत्ति, अभिव्यक्ति में प्रतीकात्मकता आदि की विशेष रुचियों के मूल में ये प्रजातान्त्रिक मूल्य भी क्रियमाण हैं। इस युग के कवि ने 'विशेष' के साधारणीकरण की अपेक्षा 'साधारण' के विशेषीकरण का प्रयास किया है और इस विशेषीकृत वस्तु-द्रव्य (अनुभूति) को मूर्तीकरण, लाक्षणिक चित्रात्मकता, नादार्थ-व्यजना, विशेषण-विपर्यय, विरोध प्रियता एव मानसीकरण द्वारा रुपायित कर पाठक-ग्राह्य बनाने का पथ पकड़ा है। इन कवियों की प्रवृत्ति, परपरागत प्रणाली पर रसपरिपाक न उपस्थित कर प्राय भावान्तरण की ओर होती है। अपनी अनुभूतियों को वे दूसरों में भी प्रस्थापित करना चाहते हैं, उन्हें काव्य-प्रक्रिया में उदात्त बनाकर रस-विभोर करने की चेष्टा से वस्तु एव अनुभूति की काट-छाँट में इनकी रुचि नहीं रमती।

मै छायावादी काव्य को, बदलती हुई मानव-मर्यादाओं के काल में लिखित, स्वच्छन्दतावादी काव्य-पद्धति का भारतीय परिसर में विकसित विशिष्ट रूप मानता हूँ, अतएव अगरेजी के 'रोमानी-पुनर्जागरण-युग' की प्रवृत्तियों और उनके विकास-इतिहास को भी दिग्दर्शित करने का प्रयास किया है। मैं स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा की भाँति ही छायावादी काव्य-धारा को भी एक काव्य प्रचलन मात्र नहीं मानता, मैं उसे एक विशिष्ट सामाजिक परिस्थिति,

तत्संभूत मानसिक स्थिति एवं जीवन को सुन्दरतर बनाने की वांछा-याचा का परिणाम मानता हूँ। इसी से मैं इस मत का विरोधी हूँ कि छायावाद एक अवांछनीय अनुकृति, विदेशी जूठन और नवीनता की छिछली वृत्ति से परिप्रेरित स्थूल ऐन्द्रियता अथवा उत्तरदायित्व से पलायन करने वाली व्यक्ति-चेतना का परिणाम है। छायावाद हिन्दी-काव्य-धारा की एक ऐतिहासिक आवश्यकता है मानव-जीवन की मर्यादाओं के विघटन में नये संतुलन के ढूँढने का जीवन-कामी प्रयास है। इसमें अतीत के परीक्षित मानव-मूल्यों के साथ वर्तमान की नवीन मर्यादाओं के सामंजस्य की प्रवृत्ति भी परिलक्षित है। मेरी स्थापना है कि यह काव्य धारा विद्रोह ही नहीं, सर्जना की ओर भी सचेत है।

'छायावाद' पहले, विरोधियों द्वारा विदेशी अनुकृति एवं अस्पष्टता के भाव की ओर व्यंग्य करने के लिए प्रचलित किया गया शब्द है। कुछ लोगों का कहना है कि छायावाद नाम 'प्रसाद' की 'छाया' नामक कहानी-संग्रह की कहानियों को दृष्टि में रखकर लिखा गया है। स्वर्गीय अवध उपाध्याय ने सम्भवतः सबसे पहले 'फैंटस्मेटा' शब्द की बात उठाई थी, जिसे आचार्य 'शुक्ल' जी ने भी अपने 'इतिहास' में दुहरायी है। आगे आचार्य 'शुक्ल' जी ने छायावाद की परिभाषा करते हुए अपने इतिहास में जब यह कहा कि 'छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करने वाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन', तो उनका मन्तव्य भी छायावाद को शैली-मात्र मानने से था जिसमें कवि जान-बूझ कर वैचित्र्य के नाते अपनी बात प्रत्यक्ष रीति से नहीं कहता। छायावादी कवि अपनी सर्जना में व्यस्त थे, इधर यह शब्द एक पारिभाषिक के रूप में सर्व-प्रचलित हो चला। छायावादी कवियों एवं इसके समर्थक नये आलोचकों ने इस नाम का खण्डन न कर इसे ही ग्रहण कर लिया और इसकी विशेषताओं द्वारा इस नाम को चरितार्थ करने को प्रस्तुत हो गये। 'प्रसाद' 'पन्त', 'निराला' एवं 'महादेवी' ने इस नाम को स्वीकार किया और अपने-अपने ढंग से वे इसे अर्थवत्ता देने के लिए सचेष्ट हो गये। 'प्रसाद' जी ने अपने 'यथार्थवाद और छायावाद' लेख में 'छाया' से अर्थ उस अनुभूति दीप्ति का लिया जो अपने रूप से वैसे ही झलकती रहती है जैसे मोती के भीतर से उसका पानी। इसे उन्होंने ध्वनि-वादियों के 'प्रतीय-मान' अर्थ और कुन्तक की विच्छित्ति का समस्थानीय भी माना। इसे ही उन्होंने अन्यत्र उसी निबन्ध में 'आन्तरिक स्पर्श से पुलकित' भाव और 'सम्यन्गायान्तरस्पर्शी वक्रता' एवं कुन्तक के शब्दों में 'उज्ज्वला छायातिशय रमणीयता' कहकर बोध कराना चाहा है। 'पन्त' जी ने इस छाया को नवीन

चेतना, सूक्ष्म अनुभूति और नवीन सत्यों का प्रतीक माना है और नवीन कवियों को इसी 'छाया-वन' का किशोर-विहग। 'निराला' जी ने वस्तु के पार्थिव अस्तित्व के पीछे छिपे आध्यात्मिक संकेतों को छाया का समानार्थी बताया। 'महादेवी' जी ने 'घटाकाश' के उदाहरण द्वारा 'छाया' को मानव की सीमित सत्ता में व्याप्त असीम सत्ता की स्थिति की अनुभूति का प्रतीक माना; इसीलिए स्वच्छन्द छन्द में चित्रित मानव-अनुभूतियों को छायावाद पुकारने में उन्हें कोई अनौचित्य नहीं लगा। 'प्रसाद' जी ने बाह्य वर्णन से भिन्न, वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति को छायावाद पुकारा जाते देखा। प्रतिबिम्बवादी डा० सत्य प्रकाश तथा वस्तुओं में आत्मा की छाया के अनुभव को छायावाद माननेवाले समीक्षकों का यह 'प्रतिबिम्ब' अथवा 'छाया' घुमा-फिरा कर 'स्वानुभूति' और 'आत्म निष्ठता' से भिन्न इतर कुछ नहीं है। वस्तु के स्थान पर कवि की स्वानुभूति अथवा वस्तु के बाह्य सौन्दर्य के स्थान पर उसके आन्तरिक सौन्दर्य के चित्रण में भी तत्त्वतः कोई भेद नहीं। यह भेद केवल द्रष्टा और वस्तु की दृष्टि से नाम-भेद है। वस्तु-पक्ष में जो अन्तःसौन्दर्य है, द्रष्टा पक्ष में वही स्वानुभूति है। किसी वस्तु के बाह्य सौन्दर्य से आगे बढ़कर उसके आन्तरिक सौन्दर्य का निरूपण उस वस्तु के प्रति जगी कवि की निजी कल्पना भावना के अतिरिक्त और क्या है? वस्तु-वर्णन में वस्तु निष्ठता की अपेक्षा कवि की आत्म-निष्ठता छायावाद का प्राण और 'छाया' शब्द की वास्तविक व्याख्या है।

यह निश्चित है कि 'छायावाद' नाम-करण के मूल में लघुता, घृणा, उपहास एवं विरोध का जो अर्थानुषग निहित था, वह आगे चलकर बदला है। बाद में धीरे-धीरे साधारण पाठक और विचारकों ने 'छायावाद' से उन समस्त लक्षणों एवं विशेषताओं का अर्थ लेना प्रारम्भ कर दिया जो इस काव्य का प्रमुख धर्म था। इस अर्थ-परिवर्तन के साथ छायावाद की 'छाया' का अर्थ भी परिवर्तित हुआ है, अब 'छाया' का अर्थ लाक्षणिकता, ध्वन्यात्मकता, प्रतीक-विधान एव उपचार-वक्रता आदि पद्धतियों से अभिव्यक्त कवि की 'स्वानुभूति' अथवा उसकी 'आत्म-निष्ठता' है। छायावादी काव्य में मानव के मानवीय महत्त्व की प्रतिष्ठा और पर-मुखापेक्षिता के स्थान पर उसकी वृहत्तर शक्ति सम्भावनाओ के प्रति विश्वास का प्रस्थापन हुआ है। यह काव्य न जीवन के प्रति निषेधवादी है और न शारीरिकता के प्रति आसक्तिवादी। मानव माहात्म्य और मानव के मानवत्व की स्वीकृति छायावादी कवि को इस जगत् के जीवन का विश्वासी भी बना देत है। ऐसी अवस्था में किसी निश्चित दर्शन के पूर्वा-

ग्रह को न स्वीकार करते हुए मैंने छायावाद की व्याख्या-परिभाषा में 'निगमन' अथवा 'निष्कर्ष-पद्धति' (डिडक्टिव मेथड) का आश्रय लिया है। मेरी दृष्टि में छायावाद काव्य की वह मानव वादी आत्म-निष्ठ प्रवृत्ति है जो प्रतीकात्मकता, लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और ध्वन्यात्मकता आदि के सहारे अपने को अभिव्यक्ति प्रदान करती है, जो इतिवृत्त-विरोधिनी, व्यंजना-प्रिय, चित्र-शीला एवं विरोधाभासिनी होती है। मैंने दर्शन के आग्रह को इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं माना कि सभी छायावादी पुकारे जाने वाले कवि किसी एक ही निश्चित प्रकृति-दर्शन या वाद में विश्वास रखते नहीं दिखलाई पड़ते। वस्तु-विशेष के वर्णन को निर्धायक सामग्री न मानने के पक्ष में मेरा यह तर्क है कि विषय-वस्तु का विस्तार-सकोच देश-काल का अन्तर है, काव्य-दृष्टि का नहीं, अनिवार्यतः किसी विशिष्ट मानसिक कोण का भी नहीं। अतः प्रवृत्ति के रूप मे छायावाद वस्तु की अपेक्षा वस्तु के आन्तरिक सौन्दर्य अथवा वस्तु के प्रति कवि के मन मे समुत्थित भाव-कल्पना-चित्रों की प्रधानता किंवा प्राथमिकता का काव्य है। यह कवि की आत्म-निष्ठता, अन्तरीणता, पुरानी एवं विघटित मूल्य-मर्यादाओं के विरुद्ध नवीन मर्यादाओं के भावन, अतीत के प्रति टीस, स्मृतियों के प्रति ममत्व, वर्तमान के प्रति क्षोभ एव भविष्य के प्रति आशा-मयता का काव्य होता है। मूल्य-सघर्ष अथवा मर्यादा-द्वन्द्व की इस स्थिति मे यह कवि कभी हतोत्साह कभी पराजित, कभी क्षुब्ध और कभी कल्पना-विहारी भी हुआ है, पर यह सब मूलतः जीवन-निवृत्ति, भोग निषेध एवं ससार-परित्याग में आस्था रखने के कारण नहीं, मानवीयता, जीवन और जगत् के प्रति सहज विश्वास के कारण हुआ है।

जीवन के स्थूल जंजाल के बीच उनसे असन्तुष्ट रहने के कारण छायावादी कवि नवीन सूक्ष्म सत्यों के उद्घाटन की ओर भी प्रयत्नशील होता है, क्योंकि इन्हीं की पुनः स्थापना एव प्रतिपादना से जीवन का नवीन परिप्रेक्ष्य और सामाजिक सम्बन्धों का नया परिसर प्रतिफलित हो सकेगा। मानव के मौलिक भाव-मूल्यों एवं सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन के तात्त्विक सत्याधारों की सूक्ष्मता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने की मनःस्थिति में, कथा और प्रबन्ध की स्थूलता का वहन नहीं हो पाता और न रुचिकर ही लगता है। प्रबन्ध या कथात्मक काव्य-प्रयास तो एक परंपरा की अनुगति में ही सम्भव होते हैं, नयी मर्यादा एव नवीन रूप से अनुभूत सत्यों की स्थिति इन कवियों को स्फुट गीतात्मकता की ओर प्रेरित करती है। इसीलिए 'छाया' काव्य में कथा-रूप का अभाव एवं एक आन्तर प्रवाह होता है जो विभिन्न आन्तरिक अनुभूतियों की विवृतियों में खोया-खोया-सा कहीं प्रकट और कहीं लुप्त होता चलता है।

छायावादी-काव्य में प्रकृति का व्यापक प्रसार है। प्रकृति इस काव्य-धारा में अनेक मधुर मोहक रूपों में बिखरी हुई दिखलाई पडती है। कहीं वह स्वतंत्र शोभा का मानवीवत् प्रकाश करती दिखलाई देती है, तो कहीं मानव-सुख-दुख के रगों में अनुरञ्जित होकर मानव-सापेक्ष्यता में अपनी सह-धर्मिणी लगती है। कहीं वह मानव-भाव-व्यापार के लिए उपयुक्त पृष्ठ भूमि प्रस्तुत करती दिखलाई पडती है, तो कहीं अपने नाना रमणीय उपकरणों से वह मानव के सौंदर्य का प्रतिमान लगने लगती है। 'पन्त' जी ने प्रारम्भ में यत्र-तत्र प्रकृति के प्रति रहस्यात्मक दृष्टि को भी व्यक्त किया है, पर आगे चलकर 'पन्त' के लिए भी प्रकृति की शोभा-भूमि मानव-सन्तोष की भूमि ही बनती गयी है। महादेवी जी के शब्दों में यह काव्य प्रकृति के बीच जीवन का उद्गीथ है। प्रकृति के इस अनेक-रूप विस्तार के बीच यह तथ्य कभी भी भूलने की वस्तु नहीं कि यहाँ भी प्रकृति या प्राकृतिक-दर्शन में विश्वास छायावाद की आधार-भूमि नहीं। छायावाद में यह 'जीवन' या 'मानव' और उसका गान ही प्रमुख है। कल्पना, भावना और विद्रोह का वेग, जीवन सुधार अथवा नये जीवन की रूप-रेखा को चित्रित करने के प्रयास के अग्रदूत हैं। व्यक्तिवादिता आत्म-विश्वास और परपरा-विद्रोह की सहवर्तिनी है।

छायावादी काव्य धारा हर देश के स्वच्छन्दतावादी काव्य की भाँति, मूल्य-सघर्ष अथवा मर्यादा-विरोध की विशिष्ट स्थिति में जगा हुआ कवि के आन्तरिक उल्लास-उच्छ्वास का मुक्त गान है। इस काव्य-धारा का कवि परम्परा की जडता और अर्थ हीनता के विरुद्ध सजग होकर, अपने आन्तरिक भाव-मानों एव रुचि-मापों से जीवन की नवीन सार्थकता और सामाजिक सम्बन्धों के नवीन समवाय की प्रतिष्ठा करता है। अपने भावों में समुत्स और कल्पना में तरग-शील इन कवियो ने अपने अन्तर्विश्वास की भूमि पर सत्यासत्य और शुभाशुभ का पुनः परीक्षण किया है। ये कवि अन्तर्मुखी होने के कारण आत्म-निष्ठ भले लगें, पर हृदय की पवित्रता और अनुभूतियों की सत्यशीलता के कारण इनकी स्वानुभूति जनानुभूति को सम-स्थानीया होती है। जैसे स्वार्थ मोह से मुक्त साधु-जन अपने 'स्वान्त. सुखाय' में 'लोक-हिताय' को तदाकार बना देते हैं, उसी प्रकार भावानुभूति क ईमान्दार ये रागी कवि भी अपने और परायों के प्रति सदा सच्चे होते हैं। कल्पना-प्रवेग और रागोद्रेक की अधिकता होने पर भी इन कवियों का जीवन और यथार्थ से एक बडा प्रबल सम्बन्ध होता है। अपने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में, यह सम्बन्ध ही इन आकाश-विहारी कवियों को यथार्थ की धरती की याद दिलाता रहता है, इसी की प्रेरणा से ये जीवन-द्वाल

को गीत-गुंजित रखते हैं, उसी के संवेदन से इनकी कल्पना-फुलवारी महमहाया करती है। ये कवि जीवन-वादी होते हैं; अपनी राग-कल्पना की पाँखों पर उड़कर ये नयी ज्योतियों के दर्शन करते हैं, नये मूल्य-वातायनों के मुक्त पवन और नये क्षितिजों की अछूती धूपों को भाव-कल्पना के सोपानों से नीचे उतारने का प्रयास करते हैं। इसी से ये हृदय शील (विजनरी) और सकल्प वादी (मिशनरी) होने के साथ-साथ स्वप्न शील (ड्रीमर) भी होते हैं।

मैंने अलग से आधार ग्रंथों की अनुक्रमणिका नहीं दी है। किसी की बात को बिना नाम उद्धृत नहीं किया है, उसे उसी स्थान पर नाम सहित रखा है। अन्त में कुछ व्यक्तियों के प्रति अपना आभार प्रकट करना सचाई के नाते मैं आवश्यक समझता हूँ। अग्रज प्रो० शिवाधार सिंह के उत्साहनों का मैं बड़ा ऋणी हूँ। वे जाने-अनजाने मेरे सुप्त सर्जक को जगाते रहते हैं। व्यावहारिक जीवन में मैं उनकी प्रशंसाओं को जितना ही कम महत्त्व देता हूँ, मेरा सर्जक सर्जन के एकान्त क्षणों में उससे उतना ही प्रोन्मेष ग्रहण करता है। उनके साथ वाद-विवाद के तर्क-कुतर्कों ने मेरी धारणाओं को स्पष्टता, मेरे चिन्तन को धार और मेरी सहानुभूतियों को विश्राम की भूमि दी है। बन्धुवर प्रो० शिवनारायण लाल ने मेरे कवि को जितनी ही प्रशंसा दी है, मेरा समीक्षक उससे उतना ही ईर्ष्यालु हुआ है। पूज्य आचार्य श्री हृदय नारायण सिंह जी, एम० एल० सी० भारवि के पिता की भाँति, मेरे कृती के चरणों में बिजली की गति का सचार करते रहते हैं। अपनी सदाशयता में सच्चे ब्राह्मण और आचार्यता में भी सच्चे मानव श्री डा० जगन्नाथ शर्मा के प्रोत्साहक शब्दों ने मुझमें लेखन की साधना को जाग्रत किया है। अन्त में, यदि मैं तिलकधारी महा-विद्यालय के पुस्तकालया-ध्यक्ष श्री रणजय सिंह की कल्पना-मूर्ति का स्मरण न करूँ तो बड़ा अन्याय होगा। पुस्तकालय का ध्यान करते ही सुरती-चूने की उनकी वह डिबिया, आवागमन की विनम्रता और पुस्तकों के न मिलने पर भी मन को गुदगुदाकर लौटा देने वाली मीठी बात—सभी कुछ मन में साकार हो उठती है।

हिन्दी-पाठकों, शोधकों एवं समीक्षकों ने 'छायावाद की काव्य साधना' पर मुझे बहुत उत्साहित किया है। उत्तर-प्रदेशीय सरकार ने ५००) और विन्ध्य प्रदेशीय सरकार ने 'द्वितीय रघुराज-पुरस्कार' देकर मेरा मन बढ़ाया है। उन्हीं के प्रोत्साहन पर 'छायावाद के गौरव-चिह्न' की अंजलि लेकर निकला हूँ, आशा है त्रुटियों के लिए क्षमा मिल जायगी।

—क्षेम

हिन्दी-विभाग, तिलकधारी डिग्री कालेज, जौनपुर।

छायावादी काव्य की मनोवैज्ञानिक पृष्ठ-भूमि

'छायावादी' युग हिन्दी-साहित्य में 'भाव' और 'कला' दोनों ही दृष्टियों से एक नवीन और महत्त्वपूर्ण देन है, इसमें सन्देह नहीं। इसने हिन्दी-साहित्य में क्रान्ति उपस्थित की है और प्रत्येक विकासशील और जीवन-सपुष्ट प्रेरणा की भाँति इसका सृजनात्मक अथवा विधायक पक्ष भी उतना ही जागरूक है, जितना कि उसकी क्रान्ति-चेतना और पुरातन-विद्रोह का पहलू। न वह 'विदेशी कलम' है और न 'बंगाल का प्रभाव', वह युग के जीवन से आया है और यदि युग का जीवन विभिन्न देशी-विदेशी परिस्थितियों से प्रभावित हुआ है तो इस बात के स्वीकार करने में उसकी कोई मान हानि नहीं कि जीवन को आन्दोलित करने वाले वे तत्त्व उसकी पृष्ठभूमि में कार्यशील रहे हैं। छायावादी-काव्य की रचना में उनका सक्रिय स्पन्दन हाथ की नाड़ी-गति की भाँति अनुभव किया जा सकता है। किसी भी युग के सच्चे साहित्य में हम दो बातें स्पष्ट रूप से देखते हैं। पहली बात यह कि उस साहित्य की आधार-शिला उस युग का जीवन होता है और दूसरी बात यह कि वह उस युग की कुहासा में मशाल की भाँति स्वय जलता हुआ भी प्रगति के भावी विकास-पथ को आलोक-प्रशस्त करता है। युग-दर्शन और भावी विकास का सकेत अथवा आगामी युग की पूर्व-झलक ये दोनों ही विशेषताएँ छायावादी युग के साहित्य में जीवन्त रूप मे उपस्थित हैं, इसलिए न तो हम पुरातन वादियों की भाँति यह ही कह सकते हैं कि यह केवल बालकों की शब्द-क्रीड़ा है और न समय से बहुत आगे बढ़कर घोषणा करने वालों की भाँति, यह ही कह सकते हैं कि 'छायावाद' प्रतिक्रिया-वादी अथवा जीवन से पूर्णत: पलायनवादी है। वह विद्रोह-सत्य से प्रस्पन्दित और स्वीकृति की चेतना से प्रस्फूर्त है—उसमें ध्वंस के आवेग के साथ सृजन की चेतना भी है। यह दूसरी बात है कि परिस्थिति अथवा देश-काल के अनुसार उसकी भी अपनी एक सीमा रही हो।

'छायावाद' एक कलात्मक प्रचलन (फैशन) मात्र ही नहीं रहा है। मात्र प्रचलन जीवन के अत्यन्त हलके और ऊपरी स्तर से पैदा होते हैं और जल में फेंकी गई लघु ककड़ी की भाँति, उसी को मात्र ऊपर से हिलाकर शान्त हो जाते हैं। जीवन के गम्भीर स्तरों के आलोडन-विलोडन से उनका सम्बन्ध नहीं होता, पर यह काव्य हमारे जीवन की परिवर्तित

परिस्थितियों और समस्याओं का साहित्यिक स्वरूप है : साहित्य-शृंगी से विनिर्गत, हमारे परिवर्तित समाज की आवश्यकताओं का मन्द्र-निर्घोष है। हमारे तत्कालीन जीवन से प्रादुर्भूत सभी प्रमुख मानसिक प्रेरणाएँ, उसमें चित्र की विभिन्न रेखाओं की भाँति संकलित हैं। अतएव, छायावादी साहित्य को, समझने के लिए उसकी मानसिक वीथिका को समझना अत्यन्त आवश्यक है कि सामन्त-वादी व्यवस्था के समक्ष व्यक्ति-स्वातंत्र्य के आधार पर एक औद्योगिक क्रान्ति जन्म ले रही थी और नये पुराने मूल्यों में संघर्ष प्रारम्भ हो चला था।

नवीन प्रजातन्त्रवादी विचार-धारा और 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' की लहर—भारतीय समाज संघटन श्रेयस्कर आदर्शों से जितना भी पूर्ण क्यों न रहा हो, इतना तो अवश्य ही है कि उसकी मूल चेतना, एकतन्त्रात्मकता और 'व्यक्ति स्वातन्त्र्य' के स्थान पर व्यक्ति-संयमन को ही प्राधान्य देकर चलने चली है। वैयक्तिक स्वेच्छा के स्थान पर सामाजिक नियन्त्रण का भाव सदा प्रबल रहा है। इसीलिए भारत के सुदीर्घ शासन-इतिहास में केन्द्रीकरण और एकतन्त्रात्मकता उसकी अपनी प्रकृति के अधिक अनुकूल लगते आये हैं। रूसो और वाल्टेयर जैसे क्रान्तिकारी विचारकों के चिन्तन और फ्रांस की राज्य-क्रांति के पश्चात् जनतावाद और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की जो भावना प्रबुद्ध हुई, वह निरन्तर बढ़ती ही गई और उसने पाश्चात्यों के भारत आगमन के साथ ही, यहाँ भी प्रसरित होना आरम्भ किया। प्राचीन संगठन की शिथिलता और प्राचीन सांस्कृतिक अनुबन्धों की ढिलाई के वातावरण ने उसे पुष्ट होने में सहायता दी। भारत की सामाजिक और आर्थिक संस्थाएँ घिसकर समाज की चूलों को ढीला कर चुकी थीं। जन-मानस में अतृप्ति और असन्तोष का ज्वार भीतर ही भीतर बल प्राप्त कर रहा था। पूँजीवाद की प्रेरक इस मध्यवर्गीय क्रान्ति ने सामन्तशाही को पश्चिम में ध्वस्त-ध्वस्त कर दिया था और उसकी आँच ने आंतरिक रूप से, पाश्चात्य सम्पर्क के झोंकों में आकर, यहाँ के मध्यवर्गीय जीवन को भी हिलाना प्रारम्भ कर दिया। प्राचीन नैतिकता के भार से भी स्वाधीनताकांक्षी व्यक्ति-चेतना ऊबने लगी और उसे परिवर्तित करने अथवा उसके अवांछित अंश को उतार फेंकने के लिए तत्कालीन समाज की चेतना-समष्टि करवटें लेने लगी। जाति व्यवस्था, छुआछूत, धार्मिक कट्टरता और रूढ़ आचार-वाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया सजग हो उठी। संवेदनशील साहित्य-हृदय ने प्राचीन रूढ़ियों से विद्रोह किया और 'द्विवेदी-युग' का इतिवृत्तात्मक अथवा बाह्य वर्णन की स्थूल पद्धति, उसे काव्य-हृदय पर मढ़ी लौह परिकर-सी अखरने लगी। समाज में व्यक्ति के स्वातन्त्र्य पर जहाँ नैतिकता की अतिरेकवादिनी-एकदेशीया शृंखला उसे अपनी स्वतन्त्र साहित्यिक अभिव्यक्ति

पर भी जकडी हुई दिखलाई पडी। उसने देखा कि व्यक्ति-हृदय की प्रकृत पुकारें साहित्य में नहीं आने पा रही हैं और उनके स्थान पर जड एव काल्पनिक आदर्श का एक रूखा स्वर खडखडा रहा है, तब वह अपने हृदय से रूढियों के उस मढे पत्र को उतार फेंकने के लिये उठ खडा हुआ और उसके भीतर युग से दबे उसके अवरुद्ध भाव, आषाढ की प्रथम वाष्पराशि की भाँति साहित्य-गगन में छा गये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसमें वर्षा के पहले मेघों की भाँति धूलि और ऊष्मा थी, किन्तु इसके साथ ही इस सत्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसमें जीवन की वे बूँदे भी थीं जो धरती से ही उठी थीं और जिसमें धरती की हरियाली का सत्य-स्वप्न-मय तत्त्व अन्तर्निहित था।

हमने इतने शीघ्र, अपनी चिरकाल की अर्जित परंपरा को कैसे तिलाजलि दे दी, यह विद्वानों के लिए जितना आश्चर्यजनक है, इतिहास के विद्यार्थी के लिए उतना शोचनीय और गर्हित नहीं। प्राचीन भारतीय परम्परा की दृष्टि से, 'छाया'-काव्य में समाज के आगे व्यक्ति, आदर्श के आगे यथार्थ और तितिक्षा के आगे आस्वाद का इस प्रकार महत्त्व पाना जितना ही विषम और विचित्र है, जीवन की तत्कालीन परिस्थितियों में उतना ही स्वाभाविक भी। यही कारण है कि हम उस साहित्य में, समाजगत स्वत्वों की प्रतिक्रिया में व्यक्ति को अपनी एक-एक साँस का इतिहास लिखने, एक-एक स्वप्न का पूरा मूल्य आकने और एक-एक स्पन्दन को पूरा-पूरा अकित करने को विकल पाते हैं। उस जर्जरीभूत-परिस्थितियों के वातावरण में, नयी आवश्यकताओं और नये चिन्तनों ने जनवादी एव व्यक्ति-स्वातत्र्य-मुखी विचारों का आधार पाकर नये सर्जनों का साहस किया। पुरातन की पुनर्व्याख्या और नवीन मूल्याकन भी सजग हुए। एक वाक्य में वह मूल-परिवर्तन का ऐतिहासिक विन्दु था।

जड नैतिकता से विद्रोह—रीतिकाल में स्त्री के स्थूल शरीर-सौन्दर्य को अनुचित रूप से महत्त्व मिला था। उसकी प्रतिक्रिया में उठने वाले नैतिकतावादी 'द्विवेदी युग' द्वारा उसे पूर्ण वहिष्कार मिला। हृदय की स्वाभाविक प्रेरणाएँ एक वाह्य जड आदर्श के सामने तिरस्कृत हुई थीं, अतः छायावादी साहित्य वाह्य के प्रति अन्तर, स्थूल के प्रति सूक्ष्म, कृत्रिम के प्रति प्रकृत, और नीरस नीतिमत्ता के प्रति जीवन-सहृदयता से प्रेरित मुक्त-हृदयता का विद्रोह लेकर उठ खड़ा हुआ। व्यक्ति के अन्तर की जितनी ही उपेक्षा हुई थी, वह उतना ही महत्त्वपूर्ण बन गया। प्रेम-प्रणय, करुणा-दया, आशाभिलाष, दुःख-दैन्य और शोषण-पीडन की दबी भावनाएँ मुक्त क्षेत्र पाकर साहित्य में छा गयीं।

हाँ, पूर्व-युग में मात्र शरीरी सौन्दर्य की अत्यधिक कुत्सा के कारण इसने उससे बचने का प्रयत्न भी किया और इसी कारण आदि में प्रेम-प्रणय और विरह-वेदना की उनकी अभिव्यक्तियाँ परोक्ष और अस्पष्ट भी रहीं। उसने आध्यात्मिक वातायनों को भी आलोकित किया और यही नहीं, वह प्रकृति के नारी रूप में भी आध्यान्तरित और प्रतिपालित हुई। बाद में जब प्रतिक्रिया का ज्वार उतरने लगा और छायावादियों के पदों मे आत्मविश्वास की दृढता बढ़ती गई तो वे चित्र अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट, प्रत्यक्ष और अनावृत भी होते गये। आगे आने वाले प्रगतिवादियों की 'जीवन को सत्य के रूप' में ग्रहण करने वाली प्रवृत्ति का मन्त्र-बीज भी छायावाद के ही गर्भ से प्रस्फुटित हुआ है, जिसे शायद भावी इतिहास अधिक निष्पक्षता से स्वीकार कर सकेगा। छायावादी कवियों ने नारी के प्रति परम्परागत निषेध-भाव का परित्याग कर उसकी सामाजिक उपयोगिता को महत्त्व दिया। माया की जगह वह सह-धर्मिणी और सहयोगिनी बनी। इन कवियों ने नारी के प्रेरणा-दायक शक्ति-रूप को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। प्रसाद जी ने नारी को श्रद्धा-स्वरूपिणी तथा विश्वास-रजत-नग के पद-तल में बहने वाली पीयूष-धार माना। इस काव्य ने सहृदयता, भावुकता और हार्दिकता का सबसे ऊँचा आचार माना।

मानव-वादी भावना—छायावाद के भीतर भारतीय अद्वैतवाद की स्वीकृतियों के स्वर भी सुनाई पडते हैं, किन्तु युग-परिस्थिति की यथार्थताओं के संघर्ष में उसमें संसार और जीवन को पूर्ण स्वीकृति दी है। उसमे वायवीय आदर्शों के स्थान पर मानव के 'प्रकृत मानव-रूप' को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। इसके पीछे पाश्चात्य भौतिकवादी विचारधारा भी सक्रिय रही जिसने इस जीवन को स्वप्न या माया मानकर त्याज्य और क्षणिक न कहा, वरन् उसके कठोर सत्य को स्वीकार किया। छायावाद ने मानव की महत्ता और जीवन के मूल्य को स्वीकार किया है। इसी से उसमें सामान्यरूप से हृदय में उठने वाली प्रवृत्तियों के विविध रूपों के अत्यन्त रमणीय चित्र प्राप्त होते हैं। यही प्रवृत्ति आगे चलकर मानव को देवताओं से भी श्रेष्ठ स्वीकार करने के रूप मे परिणत हुई। 'कामायनी' मे देवों की विलासिनी सभ्यता के ध्वंस पर ही मानवी सृष्टि की प्रतिष्ठा हुई है। 'श्रद्धा' और 'काम' सर्ग मानव-जीवन की बृहत्तर सम्भावनाओं के निरूपक हैं। 'पन्त' जी ने कहा—'क्या यही तुम्हें है त्रिभुवन में यदि बने रह सको तुम मानव!' भगवतीचरण वर्मा बच्चन एवं नरेन्द्र आदि ने मानव-प्रेम के गीत गाये।

स्त्री का गतिमान और प्रेरक चेतना के रूप मे ग्रहण—छायावाद ने युग-युग से खोये स्त्री के जीवन-मूल्य की प्रतिष्ठा की है। वह 'वीरगाथा-काल' में

भोग की एक सजीव सामग्री, 'भक्तिकाल' में माया और जड़ता की प्रतीक तथा 'रीतिकाल' मे काम-पुत्तलिका थी। 'द्विवेदो-युग' में उसकी जीवन-सापेक्ष्य रमणीयता की उपेक्षा हुई, किन्तु छायावाद ने उसके शरीर से अधिक उसकी उस आन्तरिक चेतना का मूल्याकन किया, जो प्रेम और सौन्दर्य के चेतना-स्वप्नों से मानव को गतिमान् बना रही है। इसी दिशा में उसे आग्ल साहित्य की १९ वीं शती की नई 'रोमानीधारा' से भी उत्साह मिला, जिसमें 'वर्डस्वर्थ', 'शेली' और 'कीट्स' आदि कवियों ने स्त्री की आन्तरिक सौन्दर्य-सत्ता के शत-शत आनन्द-चित्र रचे थे। चाहे इसे यथार्थ सामाजिक जीवन की अभुक्त और दमित यौन प्रवृत्तियों की कुठा कहा जाय या कल्पना-लोक में उसकी तृप्ति का प्रयत्न, किन्तु छायावादी कवियों ने स्त्री के भीतर प्रकृति की उदारता और प्रकृति मे स्त्री के आन्तरिक व्यक्तित्व की सूक्ष्मानुभूति का आरोप कर एक आदर्श-परिष्कार का स्वरूप उपस्थित किया है। इस अशरीरी सौन्दर्यप्रियता की वृत्ति ने प्रकृति और स्त्री दोनों की आन्तरिक मर्म-सुषमा को अभूतपूर्व रूप में व्यक्त किया है। नारी सौन्दर्य प्रकृति के रूप-रंगों में प्रशस्त हो उठा और प्रकृति नारी-हाव-भाव के शृगार से सजीव बन गयी। इस प्रकार प्रकृति में ऐन्द्रियता और नारी में अशरीरिता का समावेश हुआ। साधारण कवियों के विकृति-पूर्ण मामल चित्र इसी कला क मर्म को न हृदयंगम कर सकने की असमर्थता के उदाहरण हैं। नारी का यह चित्रण, पूर्व-युग से प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप में चली आती हुई स्त्री की उपयोगिता के प्रति नकारात्मक होने के विरुद्ध विद्रोह था। स्त्री की मगलमयी जीवन-प्रेरणा का रूप छायावादी कवि के सामने स्पष्ट था।

प्रकृति की ओर प्रत्यावर्तन—तत्कालीन जीवन की अनुदिन बढती जटिलता और अतिव्यस्तता ने प्रकृति के साथ उस युग की सम्पर्क-लालसा और प्रसुप्त सस्कारों को उदबुद्ध किया। उसने अगरेजी के स्वच्छन्दतावादी कवि 'शेली', 'कीट्स' आदि से भी लाभ उठाया, क्योंकि अगरेजी भाषा और साहित्य के प्रचार-प्रसार होने से यही युग उनकी मनःस्थिति के अधिक अनुकूल था। उसने मानव के समान ही प्रकृति में भी चेतना के अनुभव किये और उसमें अपनी अपूर्ण और अतृप्त भावनाओं को सजाकर एक इन्द्रियोत्तर तृप्ति पाने की चेष्टा की। मानव को प्रकृति के सम्पर्क में लाकर उसकी स्वाभाविकता और उदार निश्छलता का सकेत दिया। प्रकृति के मूक चित्रों मे मानवोपम हृदय की प्रतिष्ठा कर उसे मौन से मुखर और जड से गतिमान कर दिया।

कुछ कवियों ने अस्वस्थ प्रतिक्रिया के वशीभूत होकर प्रकृति के द्वारा मनुष्य को आदिम समाज की ओर प्रत्यावर्तित होने का सन्देश भी दिया, किन्तु

'प्रकृति की ओर' के इस नारे के पीछे तत्कालीन समाज की कृत्रिम यान्त्रिकता ही थी। प्रकृति के इस मानवीकरण के पीछे कहीं आलंकारिकता भी है जो हृदयस्थ भावों की संवेदना में पुष्कल रूप से सहायक है।

लघुता का मान—व्यवहारोत्तर आदर्श के परित्याग के साथ ही साथ उस समय लोगों में जीवन की छोटी-बड़ी सभी वस्तुओं के महत्त्व समझने और उनके मूल्यांकन की भावना जग गई। विज्ञान के उत्तरोत्तर प्रसार ने भी इस वस्तुवादी दृष्टि को बल प्रदान किया। वही दृष्टि काव्य में दीन-हीन कृषक, अनाथ, भिखारी आदि सभी के साहित्य-विषय बनने में सहायक हुई। काव्य-साहित्य की विषय-सीमा सम्पूर्ण जीवन का क्षेत्र ही हो गया।

साधारणता का दर्शन होने लगा। काव्य विषय-विषयक प्राचीन रूढ़ियाँ खण्डित हो गईं। लघुता के इस महत्त्वदान के पीछे जन-तन्त्र-वाद, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, वस्तुवाद, भौतिकवाद, आदि सभी सिद्धान्त थे जो उस समय मध्य-वर्गीय जनता के मानस के अंग बन रहे थे। इसी प्रवृत्ति ने भावी 'समाजवाद' की भूमि को प्रशस्त किया है।

'दुःखवाद', 'वेदना', 'करुणा' आदि का स्वीकार—लघुता की महत्ता बढ़ने और लोकसत्तात्मक भावनाओं के प्रसार के साथ-साथ तत्कालीन समाज के व्यक्ति में फैले असन्तोष, अतृप्ति और उत्पीड़न के भाव भी साहित्य के तारों से टकराने लगे। 'प्रसाद' जैसे कुछ कवियों ने करुणा और दुःख को जीवन के परिष्कार के लिए आवश्यक बतलाया। डा० रामकुमार और महादेवी ने तो इसे एक प्रकार की साधना ही मान ली थी।

दासता की दशा इस 'दुःख-वाद' और शोकाच्छन्नता को प्रगाढ़ बनाने में सहायिका हुई। व्यक्तिगत परिस्थितियों से उत्पन्न क्षोभ और निराशाजनक कुण्ठा 'बच्चन' जैसे कवियों के माध्यम से 'भाग्यवाद' के छोर तक पहुँच गई। इस दुःख वाद से संसार की क्षणिकता, सौन्दर्य की नश्यमानता और मनुष्य की परिस्थितियों के सम्मुख असमर्थता तथा नियतिवाद की प्रेरणा मिल गई। मानव-मनोभूमि की व्यंजना की चेष्टा भी सुख आदि के साथ उसके विरोधी पक्षों के लाने का कारण बनी।

स्वछन्द कल्पनातिरेक और स्वप्न-सर्जना—तत्कालीन समाज का मनो-विज्ञान तो विभिन्न स्वाधीनतावादी विचारों से समृद्ध हो गया था, पर समाज में उनकी पूर्ति का अवसर कम ही मिलता था; अतः दमित भावनाओं की पूर्ति उस समय व्यक्ति अपनी कल्पनाओं और उनसे निर्मित स्वप्न-चित्रों में करने को प्रेरित हुआ। मन ने तो इतने दिनों के लादे नैतिकता के रूढ़ि-भार को उतार

फेंका था, पर समाज की वस्तुस्थिति अभी वैसी सुविधा-जनक न थी। प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होने से कल्पना के लिए अवकाश था। बाह्य जीवन की अतृप्ति प्रकृति के सहारे अन्तर्जगत् में नाना वर्ण-चित्र-विधान में तृप्ति ढूँढने लगी। इन्द्रियों के स्वीकार से प्रत्येक विषय को इन्द्रियों का 'स्वार्थ' बनाने के लिए ऐन्द्रियता और चाक्षुष-प्रत्यक्षता का अधिकाधिक सहारा लिया जाने लगा, जिससे चित्रोपमता की प्रधानता हुई। 'रवीन्द्र' की चित्र-शैली की जगमगाहट भी तत्कालीन कवियों के सामने थी, जिसमें लिखी जाकर 'गीताजलि', 'नोबुल-पुरस्कार' प्राप्त कर चुकी थी।

शैली-गत विचित्रता—छायावाद 'द्विवेदी' युगीन अभिधात्मकता के विरोध में उत्पन्न हुआ था और मन की विविध ऋजु-कुटिल तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावनाओं को तद्वत् प्रकट करना उसका लक्ष्य था, अतः उसने अभिधा क स्थान पर लक्षणा का ही अधिक सहारा लिया। मन की अधिक से अधिक बातों को वह कह डालने के लिए आतुर था, और अपनी कोई अनुभूति वह अनभिव्यक्त नहीं छोड़ना चाहता था, अतः उसने व्यंजना के स्थान पर अभिव्यक्ति को ही प्रधानता दी और लाक्षणिकता का ही अधिकाधिक सहारा लिया। अपनी व्याकुलता की उत्तेजना में छायावादी कवि व्यंजनाओं को अपने मन में गुनने का अवकाश नहीं रखता था। उसे तो अपने विह्वल-पीड़ित और क्षुधित-तृषित हृदय को अनेक रंग-चित्रों की ऐन्द्रियता में उलझाना था; अतः वह लक्ष्यार्थ पर केन्द्रित रहा, जो काल्पनिक चित्र भी देता था और अभिधा की इतिवृत्तात्मकता से भी परे था। उसे सीधे कहने सुनने की रुचि ही नहीं थी। अतः वह वक्र-कथन, उपचार-वक्रता, प्रतीकारोप, नादार्थ-व्यंजना आदि वैचित्र्य पूर्ण रीतियों का सहारा लेता था। अपनी व्यस्तता में कभी-कभी छायावादी को भावों के अनुभावन का भी अवसर नहीं मिलता और वह कल्पना के सहारे अनुभूतियों को जगाने का प्रयत्न करता दिखलाई पड़ता है। नवीनता की प्रेरणा में वह पुराने शब्दों को नवीन ढंग से और नवीन अर्थ में प्रयोग करके नयापन लाना चाहता है, संस्कृत से पुराने शब्दों को चुनता है और हिन्दी में संस्कृत तथा बँगला के अनुकरण पर नये शब्द बनाता है, इसी से परम्परा-पोषित पाठक की कठिनाई बढ़ जाती है। वह नये-नये 'अप्रस्तुतों' का ग्रहण करता है, कभी कभी 'प्रस्तुतों' को गुप्त रखकर केवल 'अप्रस्तुतों' से ही भाव-समर्पण करना पसन्द करता है। छायावादी कवि अस्पष्टता से उत्पन्न सौन्दर्य का भी उपयोग करना चाहता है और मानवी भावों को सीधे न कहकर प्रकृति की पृष्ठभूमि से उन्हें प्रतिभासित करने का भी प्रयासी रहा है। इस प्रकार

कभी-कभी ठीक से सन्दर्भ न पाने के कारण परम्परित दृष्टि ऊबने भी लगती है। उसके नवीन छन्द-प्रयोग, तुक-विहीनता और संगीतात्मकता के पीछे भी उसकी यही नवीनता तथा वस्तु और छन्द को एक लय करने की प्रवृत्ति काम करती रही है।

छायावादी काव्य प्राचीन 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त का अनुगमन न कर, अनुभूति-चित्रण और भावान्तरण को ही प्रश्रय देकर चला है, और इससे जन-साधारण के लिए उतना सहज ग्राह्य नहीं होता, फिर भी वह भावों और वस्तुओं का अधिक गम्भीर और सूक्ष्म चित्र उपस्थित करता है। छायावादी काव्य धारा की इस मानसिक पृष्ठभूमि पर विचार करने से उसके अर्थ-बोध और सौन्दर्य विकास का ज्ञान बहुत कुछ सरल हो जाता है। अनेक कठिनाइयों से मुक्त होने पर भी 'छायावाद' ने हिन्दी-साहित्य का विषय विस्तार तो किया ही है, भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति को भी समृद्ध और पुष्ट बनाया है। छायावाद यदि न आया होता तो हिन्दी आज के जीवन, उसकी भाव-संकुलता और अनेक-विध सूक्ष्मताओं के चित्रण में बहुत कुछ असमर्थ ही रह गयी होती। छायावाद तत्कालीन जीवन की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। आकाश में रचित मिथ्या-कल्पना का जंजाल नहीं।

छायावाद और पलायन वृत्ति—साहित्य कवि के मन की एक सृजन-प्रक्रिया है। समाज एवं जीवन का जो भी उपकरण साहित्य का उपादान बनता है, उसे कवि-व्यक्ति की मानसिक प्रक्रिया को पार कर कला कृति का अंग बनना पड़ता है। यद्यपि प्रत्येक युग का साहित्य अपनी परिस्थितियों से निरपेक्ष नहीं हो सकता, किन्तु सापेक्ष्यता को इतना कठोर नहीं बनाया जा सकता कि हम साहित्य को युग की पार्थिव परिस्थितियों की पूर्ण अनुकृति अथवा प्रतिकृति ही कहने लग जायँ और उसके आगे जाने वाले साहित्यिक और कलात्मक विकास को अतिरिक्त और अनावश्यक स्वप्न रमण बतलाने लगें। खाया हुआ भोजन शरीर का मूल पोषक होते हुए भी, एकदम अपने वस्तु रूप में ही शरीर-ग्राह्य नहीं रहता, वरन् शरीर के पाचक अंग उसे स्वानुकूल परिवर्तन देकर ही ग्रहण करते हैं। उस भोजन-द्रव्य में परिवर्तन होता है और उसके सम्यक् पाचन के लिए उसमें विभिन्न रस-द्रव्यों का मिश्रण आवश्यक होता है। इसी प्रकार साहित्यकार की व्यक्ति-चेतना समाज के प्रभावों को मूलतः ग्रहण करते हुए भी उसे साहित्यिक प्रक्रिया से समन्वित और उदात्त भी बनाना चलती है। साहित्य-निर्माण में 'भूत' तत्त्व को सर्व—प्रधानता देने वाले महर्षि 'मार्क्स' भी कलाकार अथवा व्यक्ति की चेतना के महत्त्व को कला-सर्जना में सर्वथा

अस्वीकार नहीं कर सके हैं। पिछले अंश में छायावादी साहित्य की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के प्रकाश में विश्लेषण किया गया है। हिन्दी-साहित्य के कितने ही समालोचकों ने छायावाद पर पलायन शील होने का आरोप किया है। छायावाद का यह दुर्भाग्य अथवा सौभाग्य रहा है कि इसे पुरातनवादियों और आधुनिकतम प्रगतिशील—दोनों के विरोध की अग्नि-परीक्षा से अपना पथ बनाना पड़ा है। छायावाद ने अपने कंटक-मय पथ पर अग्रगति को ही वरण किया है, इसमें सन्देह के लिए स्थान नहीं।

यदि द्वन्द्वात्मक-सिद्धान्त से ही विचारें, तब भी स्थिति और गति दोनों ही जीवन के दो चरण सिद्ध होते हैं। गति है स्थिति के लिए और स्थिति है गति के लिए। दोनों में एक को ही सम्पूर्ण स्थान देकर यदि दूसरे को पूर्णतः निषिद्ध कर दिया जाय तो वह जीवन की स्वस्थ प्रवृत्ति नहीं होगी। फल की परिणति वृक्ष में है और वृक्ष की परिणति फल में है—दोनों की परिणति है एक अटूट परम्परा में। अन्तर और बाह्य के संघर्ष में ही मनुष्य का विकास है, किन्तु न तो अन्तर बाह्य को पूर्णत नकार सकता है और न बाह्य अन्तर को पूर्णत अस्वीकार कर सकता है। अन्य सामाजिक क्रियाओं से साहित्य की प्रक्रिया में व्यक्ति की चेतना का माध्यम अधिक स्पष्ट, तथा प्रबुद्ध होता है, किन्तु साहित्य का उद्देश्य केवल व्यक्ति की निजी परिधि तक ही नहीं परिबद्ध होता क्योंकि उसमें अभिव्यक्ति अनिवार्य है और अभिव्यक्ति जब तक पर-सम्वेद्य अथवा दूसरों तक तद्वत् प्रेषणीय न हो, तब तक उसका स्वरूप-निर्धारण और मूल्यांकन नहीं हो सकता। इसलिए वैयक्तिकता और सामाजिकता का संघर्ष इसके मूल में ही सचरित होता रहता है।

छायावादी काव्य का जन्म प्रतिक्रिया में भी हुआ है, अतः इसने वस्तु के अन्तरंग पक्ष को प्रधानता देकर अपने पथ पर प्रस्थान किया। कहना न होगा कि इस अतरगता अथवा अन्तर्वादिता की सीमा व्यक्तिवाद के छोर से मिली हुई है। वस्तुओं की वाह्य रूपरेखा का वर्णन अथवा कुछ इने-गिने स्थूल विभाव-अनुभाव सकेतों द्वारा इंगित करना उतना कठिन नहीं, जितना कठिन, वस्तु के द्वारा हृदय पर पड़े प्रभावों को उसी रूप में दूसरों के लिए सवेद्य बनाना।

'रीतिकाल' के कवियों की प्रवृत्ति, स्वभावोक्तियों में तो अगादि की चेष्टाओं अथवा परिस्थिति-विशेष में स्वभावतः कहे जाने वाले सुपरिचित और प्रकृत कथनों के द्वारा अपनी बात कह जाने की ओर थी तथा आलकारिक स्थलों पर रूप-साम्य अथवा गुण-साम्य के आधार पर चित्र-विधान करने की, किन्तु उन्होंने प्रभाव-साम्य पर कम ही ध्यान दिया। किसी वस्तु का कवि पर कैसा प्रभाव पड़ा और

वह प्रभाव किस प्रकार अन्य प्रभावों से भिन्न है और ठीक उसी प्रकार पाठक या श्रोता उसे कैसे ग्रहण करे, इसका ध्यान उन्हें विशेष नहीं। वे समाज की सुपरिचित बातों और अति निकट के स्थलों को लेकर अधिक से अधिक जन-प्राकृत ढंग से उसे झलका देना चाहते थे। भक्ति-काल के कवियों में भी सूर को छोड़कर इस प्रभाव-साम्य अथवा ऐन्द्रिय अनुभूति पर कम ध्यान दिया गया है। इसका कारण यह है कि भक्तिकालीन अथवा रीतिकालीन कवि अपने को द्रष्टा, और विषय को अपने से अपेक्षनया अलग मानकर दर्शक की भाँति उसका वर्णन करता था; किन्तु छायावादी कवि तदात्म और तद्‌गत होता हुआ वस्तु से अपने को सर्वथा विभिन्न और तटस्थ न मान कर उसे अपने में ही समेट लेता है। इसीलिए उसके वर्णनों में वर्ण्य-वस्तु प्रधान होकर कवि के हृदय पर पड़ा हुआ उसका प्रभाव या उस वस्तु के प्रति उसकी निजी अनुभूति प्रधान हो जाती है और छायावादी कलाकार उस प्रभाव को इतना सत्य और महत्त्वपूर्ण समझता है कि उसे संवेद्य और परानुभूति-योग्य बनाने के लिए उसका कोई अंश छोड़ना नहीं चाहता। जिस अनुभूति को उसने प्राप्त किया है उसके अखंड रूप को वह प्रकट करेगा और इसके लिए वह चित्रकार की भाँति प्रत्येक रेखा को अंकित कर देना चाहेगा। नहीं तो उसे लगता है उसने अपना अनुभूत, पूर्ण सत्य नहीं कहा, वह अपने और अपनी अनुभूति के साथ ईमानदारी नहीं कर रहा है।

इस प्रकार अपनी अनुभूति को महत्त्व देते-देते वह अपने को भी महत्त्व दे उठता है और व्यक्ति की निजी चेतना के प्रभावों की प्रधानता के कारण वह वस्तु के सामाजिक पहलू पर बल नहीं देता दिखाई पड़ता। वह समाज को अपने हृदय का तो प्रत्येक कोना आतुरता के साथ दिखा देना चाहता है, पर समाज के समष्टिगत हृदय में स्वयं बहुत कम झाँकता है। ऐसी अवस्था में यह कहना भी कि छायावादी काव्य समाज की उपेक्षा करता है, ठीक नहीं। छायावादी कवि तीव्र संवेदनाओं का व्यक्ति है। अतः समाज का कोई भी दर्द उसकी दृष्टि के सामने उपेक्षणीय नहीं, किन्तु वह रूढ़िबद्ध विचार और सिद्धान्त द्वारा किसी एक पक्ष को ही दृढ़ कर अन्यों की उपेक्षा करके चलने वाला भी नहीं। जीवन का प्रत्येक पक्ष चाहे वह दुःख का हो अथवा सुख का, जहाँ से उसे दिखाई पड़ा, उसके अनुभूतिशील हृदय ने वहीं से उसकी अभिव्यक्ति अपने हार्दिक प्रभावों के रूप में प्रारम्भ कर दी। वह समाज का ध्वनि-विस्तारक यन्त्र नहीं जो मात्र प्रतिध्वनियाँ पकड़ कर उसका प्रक्षेपण करता है, वरन् वह उस विद्युत्-स्तम्भ के समान है जो आसपास के वातावरण से शक्ति

और उपादान ग्रहण करता हुआ उसे अपने आन्तरिक प्रकाश के रूप में आलोकित करता चलता है। इसी से उसकी वाणी में व्यक्ति-स्वर की झनकार मिली रहने पर भी एक सार्वजनिकता और सार्वभौमता है जो उसके मर्म को पकड़ने की शक्ति रखने वाले सवेदनशील हृदय के तारों पर उसीका स्वर बनकर बजने लगती है। उसके व्यक्तिगत स्वर में समाज का स्वर है, और उसके सामाजिक स्वर में व्यक्ति की सवेदन-तरग। छायावादी कवि का अह ही इतना विस्तृत और उदात्त है कि उसमें समाज भा आ जाता है। भक्तिकाल के कवियों की वाणी जिस प्रकार व्यक्तिगत अनुभूति होते हुए भी जन-जन के कठ की शृगार है, उसी प्रकार छायावादी कवि की व्यक्तिगत चेतनाएँ भी अपनी मर्म-पूर्णता और तलस्पर्शी गम्भीरता के कारण प्रत्येक भावुक हृदय की निज की अनुभूति हैं। अनुभूति हृदय की जितनी ही अधिक गहराई से निकलेगी, भिन्नता के बीच मौलिक एकता के आधार पर दूसरों के लिए भी वह उतनी ही अन्त स्पर्शी होगी। छायावाद की अनभूतियाँ मार्मिक और मौलिक थीं, इसमें सदेह नहीं पर उनकी अभिव्यक्ति-कला कुछ इतनी नवीन और अभूतपूर्व थी कि परपरागत साहित्यसणियों के अभ्यस्त पाठक उसके मर्म को पूरा-पूरा हृदयंगम कर न सके।

इसी सबंध में छायावाद पर यह आरोप लगाया जाता है कि वह पलायन-वादी साहित्य है। अर्थात् छायावाद जिन परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ, उसने तत्कालीन समाज में उससे सघर्ष लेने की भावना न भरी। छायावाद के उदयकाल में समाज में अनेक सामाजिक और राजनीतिक प्रश्न उत्पन्न हो गये थे। जनता आर्थिक पीड़न और राजनीतिक शोषण से सत्रस्त थी। महत्वा-कांक्षी मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग के ऊपर ऐस पुरातन प्रादर्शों का ककाल लदा हुआ था, जिनका जीवन नि.शेष हो चुका था। देश अपने बन्धनों की पीड़ा अनुभव कर रहा था। विभिन्न कोणों स दबी कराह उठ रही थी। ऐसे समय में उन आलोचकों का कहना है कि छायावाद ने जनता की रूखी नसों में जीवन का सचार नहीं किया, उसने उनकी दयनीय और विवश अवस्था का सहानुभूति-पूर्ण चित्र न उतारा और न उन्हें उनकी दु खकथा के मूल कारणों से परिचित कराते हुए एक सगठित जन-शक्ति के निर्माण की दिशा में ही उद्बुद्ध किया। जनता को चाहिए थी कठोर सत्य की दृष्टि, छायावाद ने दिया एक मादक स्वप्नों का दृष्टिकोण, समाज को चाहिए थी अपने सघर्षों की लपटों में झुलस कर भी आगे बढ़ने की प्रेरणा, और छायावाद ने दिया अपनी परिस्थितियों की वास्तविकता से आत्मविस्मृत करने वाली एक नशीली भाव-कल्पना, जो

आकाश के फूलों से खेलना अधिक पसन्द करती थी, धरती के धुँवे से लड़ना कम। इस प्रकार उनका कहना है 'छायावाद' एक अतिरिक्त कुंठा से आविर्भूत काव्य है, जिसमें यथार्थ को सहन करने की क्षमता नहीं है और जिसने अपने विकारों से ग्रस्त होकर केवल काल्पनिक विलास में ही अपनी निर्बन्ध वासना को मुक्ति देकर संतोष पाना चाहा है।

आज का अधुनातन पदार्थवादी दृष्टि-कोण और वर्ग-संघर्ष की चेतना तब तक नहीं विकसित हो सकी थी। नारी के तत्कालीन सामाजिक बंधन भी इसकी प्रेरणा में सहायक हैं और पुरुषों पर नीतिवादिता के अतिरेक का रूखा और जीवन-रस-शोषी भार भी इसके लिए उत्तरदायी हैं, जो एक प्रकार से तत्कालीन सामाजिक बंधनों के प्रति विद्रोह का बाल्य रूप था जिसे आज की प्रगति में आगे विकास मिल रहा है।

इस वेदना से नवयुवक तथा परवर्ती कवियों के निराशा-स्वर भी आगे मुखरित हुए, जो आगे प्रस्फुटित होने वाले विद्रोह के अर्ध-प्रबुद्ध रूप हैं। 'प्रसाद' में प्रेम और विलास की लालसा है, किन्तु वह अपनी अनुभूति में न आकर अधिकतर स्मृतियों के रूप में प्रकट हुआ है और उसकी वेदना नक्रिय और निराशा आशामुखी है। इस विषय की विवृति के मूल में 'द्विवेदी'-कालीन प्रेम शृंगार के निरोध ने पर्याप्त मात्रा में काम किया। प्रेम और विरहानुभूति का प्रकाशन प्रत्येक अवस्था में पलायनवादी और प्रतिक्रियात्मक ही नहीं कहा जा सकता। यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो आधुनिक प्रगतिशील यौन-विचारों के सूत्र का एक छोर छायावाद की वीथिका से ही बँधा है। सत्य के नाते यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि छायावाद की वेदना और प्रेम-सम्बन्धी अभिव्यक्तियाँ अपनी युग-सीमा से सर्वथा मुक्त भी नहीं।

छायावाद पर स्वप्निलता का भी आरोप है। छायावादी कवि, कहा जाता है, अपनी अतृप्त और बाह्य जगत् में अभुक्त लालसाओं की तृप्ति एक मादक-मधुर किन्तु अलफल कल्पना के लोक में करता दिखलाई पड़ता है। स्वप्न आदि पर लिखी 'पन्त' की कविताएँ तथा 'प्रसाद' की कल्पना द्वारा प्रस्तुत रमणीय चित्र-विधानों के मादक उपकरण इस धारणा की पुष्टि में और सहायक हुए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि छायावाद में कल्पना का प्रचुर प्रयोग है। किन्तु वह काव्य सामग्री में नहीं, काव्य-सामग्री की अभिव्यक्ति में। यह बात नहीं है कि छायावादी कवि की अनुभूतियाँ सत्य और अन्तः-प्रसूत नहीं होतीं और वह उन्हें कल्पना के सहारे सोच लेता है। कल्पना की प्रधानता का अर्थ यही है कि छायावादी अभिव्यक्ति-विधान में कल्पना का अधिक सहारा लिया

जाता है और यह इसीलिए कि वह रूप और आकार-साम्य पर न जाकर अपनी अनुभूतियों के प्रभाव साम्य पर अधिक बल देता है। वह चाहता है कि पाठक अपनी 'ग्राहक कल्पना' के सहारे मन में ऐसा चित्र बनावे कि उसे देखकर वह स्वय अपनी इन्द्रिय-चेतनाओं के द्वारा उसे अनुभव-साम्य बना ले। एक आलोचक के शब्दों में छायावादी चित्र-विधान को 'जाग्रत् स्वप्न' मान सकते हैं। छायावादी कवि अपने साथ-साथ पाठकों को लेकर मार्गदर्शक की भाँति उसे बाह्य-रूपरेखा का परिचय नहीं कराता, वरन् वह पहले अपने विषय की सहजानुभूति करता है, तब उसे खूब सँवार-सुधार कर चित्रकार की भाँति पाठकों अथवा श्रोताओं के अन्तश्चक्षुओं पर चित्रित कर देना चाहता है। कल्पना और चित्र-विधान की इसी प्रणाली को दिवा-स्वप्न day-dreaming नाम से भी पुकारा गया है। जो हो किन्तु इस कला के हिमायती इस शब्द से यही अर्थ ग्रहण करते हैं कि छायावादी चित्र कल्पना-पटल पर ऐसा प्रभाव-शाली चित्र अंकित करता है कि अपनी ऐन्द्रिक–चेतनाओं से उसका रसमय बोध पाते हुए, हम क्षण मात्र को उसी प्रकार इतर वस्तुओं को भूल जाते हैं, जैसे स्वप्नावस्था में। यह छायावादी काव्य की दृष्टि–चेतना (sense of the eye) का विकसित रूप है।

> काम मगल से मंडित श्रेय,
> सर्ग—इच्छा का है परिणाम
> तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
> बनाते हो, असफल भवधाम।

छायावादी की नारी केवल शरीरी काम की उद्दीपक काम-पुत्तलिका नहीं, वरन् वह मन-प्राणों में शत-शत सौंदर्य-चित्रों की पुलकन गूथने वाली एक शक्ति है, जो जीवन के प्रति आकर्षित कर श्रेय को प्रेय बनाती है। प्रकृति के उदात्त रूप में उसका चित्रण भी छायावादी कवि के इसी दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। शृङ्गार का यह ग्रहण जीवन से पलायन नहीं, जीवन की स्वीकृति है, जिसे रीतिकाल की प्रतिक्रिया में द्विवेदी-युग भुला चुका था। छायावाद ने इन दोनों छोरों के बीच सन्तुलन स्थापित किया है।

'छायावाद' की वेदना में अनुभूतियों से ऊब कर आलचकों ने कहा, छायावाद के सामने केवल जीवन का कृष्ण-पक्ष है, उज्ज्वल नहीं, वह तो कवल पीडा में शान्ति ढूँढता दिखाई देता है। यह जीवन-सघर्ष में सुख से निराश उसकी पराजित भावना का लक्षण है। किन्तु इस वेदना में आनन्द की अनुभूति है, दु ख की नहीं। लगन है, अकर्मण्यता नहीं। साधना है भोग की निराशा

नहीं। इसी से प्रसाद जी के शब्दों में 'छायावाद में वेदना के आधार पर 'स्वानुभूतिमयी विवृति' होने लगी, और वे 'नवीन भाव आन्तरिक स्पर्श से पुलकित थे।' निराशा-जनित पीड़ा की स्वीकृति जीवन में अस्वस्थ वृत्तियों को उकसाती है, किन्तु साधना-जनित वेदना-स्वीकृति जीवन को नवीन आलोक से मंडित करती और उसे उदात्त बनाती है। महादेवी ने भी अपने काव्य में अभिव्यक्त होने वाली पीड़ा को उस समष्टि-पीड़ा का अवशिष्ट किन्तु साहित्य-कलात्मक रूप बतलाया है जिसे वे अपने व्यस्त सामाजिक सेवा के जीवन-व्यापारों में खपा नहीं पातीं। इस प्रकार इस पीड़ा की मूल-प्रेरणा निषेध नहीं, स्वीकृति है; अविश्वास नहीं लक्ष्य के प्रति अडिग आस्था है। जब महादेवी ने कहा कि—

'तुमको पीड़ा में ढूँढा
तुममें ढूँढूँगी पीड़ा'

तो उसका यह अर्थ नहीं था कि अब पीड़ा ही मेरा साधन और साध्य दोनों है, वरन् उसका स्पष्ट अर्थ यही है कि विश्व-प्रपंच में गुंथे पीड़ा-सूत्रों के सहारे ही वह अपने आराध्य तक पहुँचीं और अब वह उनकी प्राप्ति के वैभव का प्रसार, विश्व के पीड़ा-प्रसार में ही बिखेरना चाहती हैं, जहाँ से विश्व के असंख्य वंचित-पीड़ित प्राणी उसे अपना सकें। यह एक महान् उद्देश्य के सम्मुख एक निजी तुच्छ उद्देश्य के त्याग का आदर्श है जो विश्व-कल्पना का मूल है। हाँ, एक प्रश्न अवश्य हो सकता है कि छायावाद में विरह-पीड़ा अथवा प्रेम-पीड़ा का ही इतना प्रसार क्यों हुआ, अन्य पीड़ा-रूप क्यों इतने उदात्त रूप में न आ सके?

'छायावाद' के प्रेम के पीछे एक व्यापक और अशरीरी सत्ता का आदर्श है। जैसे उसने स्त्री का ग्रहण करते हुए भी उसके भीतर की चेतना से ही अपना सम्बन्ध दृढ़ किया, उसी प्रकार उसके प्रेम का आधार चाहे कोई अव्यक्त-अनन्त सत्ता हो अथवा कोई शरीर-धारी ससीम रूप, पर उसकी दृष्टि सदैव वर्ण्य की पार्थिव सीमाओं के पार ही छटपटाती रही। 'छायावाद' का प्रेम यदि 'असीम' और अनन्त के प्रति अथवा सृष्टि के मूल में छिपी 'रहस्यमय—सत्ता' के लिए आकुल आवेदन है, तो वह परम्परा से प्राप्त रहस्य-वादी धारा का युगानुरूप नया रूप है। यदि उसका प्रेम स्थूल लौकिक आधारों के साथ सम्बद्ध है, तो वह अवश्य ही आत्मा के उस स्तर पर पहुँचा हुआ है जहाँ से सामान्य शारीरिक पशु-प्रवृत्तियों का विस्फूर्जन बहुत नीचे छूट जाता है। उसे प्रतिक्रियावादी और प्रगतिशील कहने के पूर्व यह विचार तो कर ही लेना चाहिए कि क्या छायावाद ने हिन्दी-साहित्य और समाज का सचमुच

अहित किया ? यदि ऐसा हो तो निस्सन्देह वह अत्यन्त गर्हित और हीन मनोवृत्ति का काव्य है। किन्तु इसके निर्णय के लिए हमें छायावाद की तत्कालीन परिस्थितियों पर ही प्रकाश-पात करना पड़ेगा।

कौन सी ऐसी वस्तुएँ हैं जिनके आधार पर उस पर 'पलायनवादी' होने का आरोप किया जाता है ? कुछ प्रमुख आरोप निम्न-लिखित हैं—

१. प्रच्छन्न शृंगार।

२ वेदना और निराशा-भरा अलस प्रेम।

३. स्वप्निलता का तत्व।

४. व्यक्तिगत भावनाओं का प्रबल स्तर।

५. कर्म और संघर्ष की महत्ता के स्थान पर ऐन्द्रिय रूप-सौन्दर्य की लिप्सा।

६. अस्वस्थ और निराशा-जनित दार्शनिकता।

७ दु:ख का साधना-रूप में स्वीकार।

८. यथार्थ के स्थान पर कल्पना का अतिरेक।

९ साधना की कमी और एक प्रज्वलनशील असयम।

कहा जाता है छायावाद एक प्रकार से रीतिकालीन शृंगार का पुनर्जागरण है। आचार्य पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने इसे काया-वृत्तियों का प्रच्छन्न पोषण कहा। छायावाद में प्रेम और शृंगार का ग्रहण अवश्य हुआ है, पर वह रीतिकाल की भाँति हाड और मास की मासल पुकार नहीं, और न उसमें शारीरिक मिलन के ऐन्द्रिक सुख की रति याचना ही है। शृंगार अथवा काम-वृत्ति जीवन की एक स्थायी वृत्ति है और आत्मा के आत्म-विस्तारण प्रवृत्ति (Self propogation) की सहज पुकार है किन्तु जीवन का एक मात्र वही उद्देश्य नहीं बनाई जा सकती। 'छायावाद' ने शृंगार के एक अस्थि-मास के भीतर एक चेतना का अनुभव किया। उसका शृंगार शरीरी शृंगार नहीं, वरन् अशरीरी है। इस सूक्ष्म आकर्षण की भावना ने द्रष्टा की दृष्टि को ऊपरी शरीर तक ही नहीं सीमित रखा, वरन् उसके भीतर से उसने उस सौंदर्य के दर्शन किए जिसकी पूत प्रतिष्ठा से यह सृष्टि मगलमयी बनती है और हृदय में एक भूख न जगाकर उसे एक शीतल तृप्ति के रस से आर्द्र कर देती है। यदि शृङ्गार का कोई आत्मिक पक्ष हो सकता है जिसे हम धुर शरीरी शृङ्गार से अलग कर सकें, तो छायावाद हमें उसी शृङ्गार का दर्शन कराता है जहाँ रूप धीरे-धीरे एक चेतन आलोक में विलीन हो जाता है। इसीलिए छायावादियों ने इस नवीन शृङ्गार की व्यञ्जना के लिए प्रकृति के प्राचीन उपकरणों और अप्रस्तुतों में फिर से प्राण-प्रतिष्ठा की और नवीन-नवीन उपकरण भी चुने।

यही नहीं, जहाँ प्रकृति में एकत्र ही मिलने वाले परस्पर सहज-सम्बद्ध उपकरण पर्याप्त न हुए, वहाँ उसने दो दूर के, और कभी-कभी विरोधी एवं भौतिक जीवन में कभी एकत्र न मिलने वाले अप्रस्तुतों को भी मिलाकर, अपनी विधायक कल्पना से नवीन और अभूतपूर्व चित्र भी संश्लिष्ट किए, जो पुरातन-पंथियों को 'प्रकृति-दोष' और अस्वाभाविक लगे; किन्तु जिनके ताजे शीशों से सौन्दर्य के नवीन पारखियों ने शृङ्गार की नवीन ज्योतियों का दर्शन भी किया। पुराने साहित्यिकों ने कहा, यह शब्दों का खिलवाड़ और कविता का अपमान है। छायावाद ने प्रकृति के विराट् विस्तार में देखा—

"कर रही लीला-मय आनन्द महाचिति सजग हुई सी व्यक्त।
विश्व का उन्मीलन अभिराम, इसी में सब होते अनुरक्त॥"
['कामायनी']

अलक के नागिन, मुख के शशि होने, सर्प के मणि उगलने को तो हम बराबर सुनते आ रहे थे, पर प्रसाद के 'आँसू' में उन्हीं के नव-संघटित और एक नवीन सौन्दर्य-चेतना से अनुप्राणित रूप को देखकर हमें एक टटकी झलक का अनुभव होने लगता है—

"बाँधा था शशि को किसने, इन काली जंजीरों से।
मणि वाले फणियों का मुख, क्यों भरा हुआ हीरों से॥"

प्रकृति-प्रेम, अन्तः-सौन्दर्य और आन्तरिक स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति अपने में ही प्रतिक्रियात्मक, पलायन-प्रवण और पतनोन्मुखी नहीं है। जल का अवरुद्ध प्रबल प्रवाह जिस प्रकार द्वार पाने पर तीव्र गति से बह उठता है और अपनी अवरुद्ध-निरुद्ध अवस्था में इधर-उधर फैलकर दलदल, कीचड़ एवं दुर्गन्धि-युक्त गर्तों में परिणत होने लगता है, उसी प्रकार जीवन-जगत् एवं कला-सौन्दर्य से सम्बन्धित समाज की सहज प्रवृत्तियाँ जब अतिरिक्त-अनभीष्ट बोझ से भाराक्रान्त हो जाती हैं, तो उसमें भी भली बुरी विविध वृत्तियाँ प्रस्फुटित होने लगती हैं और जब समाज की अन्तः जीवनी-शक्ति समस्त अवरोधों से टकरा-कर अपनी अग्रगति के लिए विद्रोहशील हो उठती है, तो उसमें भी गति-विकास एवं स्वास्थ्य के उभारों के साथ-साथ बहुत सा झाग-फेन एवं अनिश्चित द्रव्य मिलकर बह उठते हैं। छायावादी-काव्य-साधना भी अपने से पूर्व के जीवन एवं तज्जन्य कला के क्षेत्र में उत्पन्न जितनी ही जड़ताओं के प्रति एक चेतन एवं जीवनवादी विद्रोह थी। इस विद्रोह की लहर में आहों के बुलबुले और वेदना का असंयत आवेग चाहे जितना भी रहा हो उसमें जीवन की स्वीकृति एवं प्राणमयता है, शक्ति एवं जीवन-मूल्य के सौंदर्य का अन्तरावेग है। वह जीवन-मूल्य के द्वारा और

जीवन के लिए हुआ विद्रोह है। छायावादी काव्य ने सर्वहारा-क्रान्ति और वर्गहीन समाज का नारा तो नहीं बुलन्द किया, किन्तु उसने आने वाली जीवन-व्यवस्था के लिए एक स्वस्थतर मार्ग अवश्य प्रस्तुत किया। उसने वर्तमान जीवन और उसकी ग्रंथियों को अपने ढंग से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया। अतीत के भीतर से 'स्वप्न-नीड' के दर्शन तो छायावादी कवियों ने अवश्य किए, किन्तु उनके लिए वह ऐसा 'स्वप्न-नीड' नहीं था जो उनके जीवनाकांक्षी पंखों को अपनी मृत परिधि में ही समेट कर आगे के सुख-नीड की कामना को सोख लेता। छायावादी कवियों के कंठों में, जीवन का संदेश देने वाले प्रातः-विहगों-सी काकली है, जिसमें टूटते हुए अंधकार की कम्पन के साथ-साथ नवीन अरुणोदय की प्रकाश-रश्मियों की खनक भी वर्तमान है। अतीत की ओर संकेत होने के कारण ही समस्त छायावादी काव्य-साधना को प्रतिक्रिया वादी (Reactionary) पतनोन्मुख (decadent) एवं पलायनवादी (Escapist) कहना इतिहास के एक अगले चरण को निन्दित करता है। छायावादी काव्य-मन्दिर की पुजारिनी सुश्री महादेवी वर्मा के इस कथन को, अपने दायित्व के प्रति सच्चा आलोचक शायद यों ही न उड़ा देना चाहेगा कि छायावाद ने 'जीवन में उमड़ते हुये विद्रोह को संगीत का स्वर और 'भाव का मुक्त-सूक्ष्म आकाश दिया।' ('अपरा' की भूमिका)। यदि सीना खोलकर सैनिक की भाँति लड़ना, प्यार और जीवन के गीत गाना तथा थकान मिटाने के लिए गुनगुनाना, तीनों बातें ही एक स्वस्थ जीवन-संघर्ष का अंग कही जा सकती हैं, तो छायावादी काव्य की रूप की खुमारी, वेदना से पुलकित गीत, आहों से काँपती साँसें और प्रेम के पथ पर झूमती रागिनी के साथ-साथ देश-प्रेम, सांस्कृतिक प्रयास और 'लघुता' की ओर दृष्टिपात की दिशा निश्चय ही हमारी साहित्य-शृंखला की एक अगली कड़ी है। मानव-हृदय की अवरुद्ध अन्तर-रागिनी को कला एवं सौन्दर्य के शक्तिमय स्वर प्रदान करने के साथ ही साथ, छायावादी काव्य में अपेक्षाकृत एक व्यापक एवं बृहत्तर जीवनानुभूति तथा उसे स्वस्थतर एवं अधिक मानवीय आधार देने का सक्षम प्रयास स्पष्टतः परिलक्षित है। जीवन के गहन अन्तराल में उतर कर उसके निरूपण-स्वरूपण का साहस यदि पलायन कहा जायेगा तो वाह्यार्थता एवं भौतिकता का एकान्त अतिरेक, मानव के अन्तः स्वरूप एवं आन्तरिक साधना को झुलसाने के साथ ही साथ अपने को भी झुलसाने का प्रयत्न ही कहा जायगा। नवीन उन्मेष जीवन की स्वीकृति है, निषेध नहीं। मार्क्स के दर्शन ने जन-अधिकारों की बात उठाई थी, फ्रायड आदि ने मानव-मन की तहों को उद्घाटित किया था। कवि के मन पर इन सबकी प्रतिक्रिया थी।

छायावादी काव्य के सांस्कृतिक विवेचन के अध्याय में यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी कि सारा का सारा जन-मानस किस प्रकार जीवन के नवीन मूल्यों और भाव-विचार की नयी मर्यादाओं के प्रति जागरूक हो उठा था। सौन्दर्य, प्रेम और सहानुभूति की उपयोगिता व्यक्ति ही नहीं, समाज के स्तर पर भी मान्य की गयी थी, स्त्री और पुरुष के बीच का सम्बन्ध सहज, अकृत्रिम एवं भाव-पूर्ण हो, इसे हर कवि ने अनुभव किया। 'बच्चन'—जैसे कवि इस पार की संगिनी नारी की परलोक-गत असम्भावना को सोचकर विषण्ण हो गये—"इस पार प्रिये तुम हो मधु है, उस पार न जाने क्या होगा ?" भगवती चरण वर्मा ने नारी के प्रेम को एक वरदान और विभूति की गरिमा दी, जिसकी कल्पना पर ही वे मतवाले हो उठते थे। नारी और पुरुष के बीच सहज आकर्षण के तथ्य को स्वीकार करते हुए इस युग ने दोनो के बीच निश्छल एवं हार्दिक आदान-प्रदान का समर्थन किया। सत्य का यह स्वीकार पलायन नहीं, एक सजग दृष्टि का उन्मेष था।

रागात्मकता, कल्पना-रमण, भावुकता, सौंदर्य-प्रियता, सुदूर सुधियों से प्रेम, अज्ञात रहस्यों के प्रति जिज्ञासा, नये मानों की खोज और प्रकृति के साहचर्य की कामना आदि सभी वृत्तियों के लिये युग-मानस का मथन अनिवार्य है। यह मंथन सिद्ध कर देगा कि बदलती स्थितियों में संघर्ष-शील मूल्यों की टकराहट मानव-मन को अनेक धक्के देती ही है, पर जीवन की जड़ता को झाड़ कर साथ ही उसे अग्र गति का वेग भी प्रदान करती है। यह वेग जीवन की सक्रिय सर्जनाओं में धीरे-धीरे ही उतरा है।

छायावादी काव्य-धारा के सांस्कृतिक तत्त्व

कुछ विद्वानों की ऐसी मान्यता-सी दिखलाई पडती है कि छायावाद काव्य में केवल एक कलावादी दृष्टिकोण है, अधिक से अधिक वे साहित्य के क्षेत्र में एक कलात्मक आन्दोलन तक मान सकते हैं। ऐसा कहने वालों का ऐसा संकेत होता है कि समाज में जैसे प्रचलन (फ़ैशन) चल पडते हैं और कुछ समय के बाद अपना आकर्षण खोकर बासी या पुराने पडकर मिट जाते हैं, उसी प्रकार पाश्चात्य-प्रभाव और बँगला की प्रेरणा से हिन्दी के कुछ नवीनता-प्रेमी कवियों ने एक नया आन्दोलन चला दिया, जो मूल, अन्तर्वर्ती धारा के ऊपरी तल की एक लहर-मात्र बनकर मिट गया। उनकी दृष्टि से छायावादी काव्य का हिन्दी-क्षेत्र के जन-समाज की जीवन-धारा और चेतना-स्रोतस्विनी से कोई सम्बन्ध नहीं। यह झोंका है, जो आया और बह गया।

ऐसे लोगों को दो श्रेणी में बाँटा जा सकता है। एक वर्ग उन लोगों का है, जो भारतीय रसवाद की शास्त्रीय सीमा-रेखाओं की स्थूलता से इस प्रकार अपने को परिबद्ध किए हुए हैं कि वे उसके आस-पास की भूमियों पर भी विचरण नहीं करना चाहते। तुलसी और सूर का काव्य उनके लिए सर्वोच्च काव्य है और उसके बाद का काव्य ह्रास की रेखा पर ही जा रहा है। उनकी धारणा साहित्य के बारे में कुछ वैसी ही है, जैसे जीवन में उन लोगों की जो 'सत्य-युग' को सबसे अच्छा युग मानकर उसके बाद पौराणिक मान्यता के अनुसार आगे ह्रास की ही सम्भावना में विश्वास करते हैं। वे धर्म के साम्प्रदायिक रूप को ही जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मानते हैं और उसे ही काव्य का श्रेष्ठ विषय भी, जीवन की लौकिकता को भी वे रीतिकालीन कवियों की भाँति अलौकिकता के आवरण में ही स्वीकार करते हैं और रस ध्वनि को काव्य का ध्येय, स्वयं जीवन भी जहाँ इनके सामने गौण हो जाता है। इन्हें पुनरुत्थानवादी भी कहा जा सकता है जो आज की आधुनिकतम शब्दावली में, 'प्राचीनता की ओर' को अपना सचालक उद्घोष मानते हैं।

दूसरी श्रेणी उन लोगों की है जो काव्य को सामाजिक उद्देश्यों का मात्र वाहन मानते हैं और ऐसा विश्वास करते हैं कि साहित्य और साहित्यकार का समाज-समष्टि के सामने कोई विशिष्ट महत्व नहीं और न कोई दूसरा दायित्व ही, वह वर्ग-विशेष का एक सगठन-पक्ष (फ्रन्ट) है, और वर्ग-विशेष के उद्देश्य-

विशेष के लिए साधन के पद से ऊँचा उनका कोई स्थान नहीं। साहित्य का साध्य-पद उन्हें स्वीकार्य ही नहीं। उनका कहना है कि अन्य रक्षा पंक्तियों एवं संगठन-भूमियों (फ्रन्ट्स) की भाँति साहित्य और काव्य भी अधिकार-युक्त वर्ग के हितों की रक्षा के लिए एक साधन है। जब काव्य-साहित्य सदा से ही एक वर्ग के विरुद्ध दूसरे वर्ग का रक्षा-अस्त्र रहा है, तो आज भी वह उसी रूप में क्यों न ग्रहण किया जाय? अतः वे अपने राजनीतिक एवं सामाजिक मत-वाद के प्रचार के साधन के रूप में ही, अन्य क्षेत्रों के श्रमिकों की भाँति कवि को भी एक श्रमिक मानते हैं। उनका विश्वास है कि समाज एवं व्यक्ति के जीवन में अर्थ तन्त्र का सर्वोच्च महत्त्व है। समाज और उनकी आश्रित इकाई, व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन-निर्माण ही इसी अर्थ व्यवस्था के साँचे में होता है। जहाँ पहला वर्ग साहित्य को पूर्ण समाज-निरपेक्ष अलौकिक एवं ब्रह्मानन्द-सहोदर मानता है, वहाँ दूसरा वर्ग उसे समाज अथवा वर्ग विशेष का दास, भौतिक एवं परतन्त्र कहता है। पहला वर्ग छायावादी काव्य को वाह्यिक, क्लिष्ट, असाधारणीकृत, चमत्कारवादी और घोर व्यक्तिवादी कहता है और दूसरा वर्ग उसे अकर्मण्य, नपुंसक, निराशा-वादी, सामाजिक यथार्थों के समक्ष पलायन-शील, प्रतिक्रियावादी, मध्य-वर्गीय विकृतियों का परिणाम एवं आभि-जातिक भ्रान्तियों या मनोग्रन्थियों से रुग्ण घोषित करता है। इस धारा के (उनकी दृष्टि से) विश्व के इस सर्वाधिक प्रगतिशील समष्टिवादी विचार-तटों में न बहने के कारण, वे उसे थोथे रूमान (रोमांस), दिग्भ्रान्ति एवं क्षय-ग्रस्तता के साहित्य से ऊँचा स्थान नहीं देते। पहला वर्ग, छायावादी अस्पष्टता को जानबूझ कर लाया गया उलझाव और घुमाकर नाक पकड़ना मानता है, दूसरा वर्ग उसे स्वयं कवियों की भ्रान्ति, वैचारिक त्रिशंकुता, अपने अन्तर्मन की ग्रन्थियों के अज्ञान एवं सामाजिक यथार्थ को न समझ पाने की असमर्थता का परिणाम मानता है। एक इसलिए अप्रसन्न है कि काव्य अति-लौकिकता और व्यक्ति-एषणाओं से अपवित्र क्यों किया गया? दूसरा इसलिए चिढ़ता है कि शीघ्र से शीघ्र मार्क्सवादी विचार-धारा में प्रशिक्षित दीक्षित होकर रक्त-ध्वज का विराट् उत्तोलन क्यों नहीं किया गया—लाल सेना और मास्को के अभियानों पर प्रयाण-गीत क्यों नहीं गाये गये? इन उभय-पक्षीय 'क्यों' के बीच में छाया-वाद कभी थोथा दर्शन कहा गया, कभी उत्तरदायित्वों से प्रकृति की ओर पलायन, कभी रुग्ण अहम् का रहस्य-गीत और कभी मध्यवर्गीय स्वप्नास्वादन।

एक वर्ग, चूँकि, काव्य के सामाजिक उत्तरदायित्व और जीवन की अभि-व्यक्ति के तत्त्व को गले के नीचे उतार ही नहीं पाता, अतः वह इस युग के

साहित्य के पीछे सक्रिय जीवन-शक्तियों और सामाजिक सत्यों को पहचानना ही नहीं चाहता, दूसरा वर्ग सामाजिक परिपार्श्व और अपने भौतिक बाह्यवादी सिद्धान्त से इतना सन्त्रस्त है कि वह परिस्थितियों के यथार्थ और व्यक्तिपर उसकी प्रतिक्रिया के स्वाभाविक सत्य को एक बाह्यारोपित पूर्वाग्रह के रगीन चश्मे से देखता है और साहित्य के निजी माध्यम, रचना-प्रक्रिया और साहित्यिक मूल्य को कुछ भी महत्त्व न देकर, अपने नपे-तुले साँचे की एकांगिता को ही सब कुछ समझ लेता है। दर्शन, राजस्व, संस्कृति और कला को वह वर्ग की सीमा-रेखा से आगे की वस्तु ही नहीं मानता। उसने सत्य-असत्य ग्राह्य त्याज्य और पाप-पुण्य के द्वन्द्व-रूपों को 'मार्क्सीय' और 'अमार्क्सीय' में सीमित कर दिया है—जो मार्क्सीय नहीं, वह सत्य नहीं, शिव नहीं, सुन्दर नहीं। मार्क्सवादियों का आग्रह मार्क्सवाद पर मार्क्स से भी बलवत्तर है, और जिसे मार्क्स ने भी अन्तिम सत्य के रूप में नहीं घोषित किया होगा, उसे वे अन्तिम और परम सत्य कहकर डटे रहने में तनिक भी हिचकते नहीं दिखलाई पड़ते।

काव्य वस्तुतः न तो जीवन-निरपेक्ष कोई स्वर्गीय वस्तु है और न समाज के वर्ग अथवा विचार-विशेष का क्रीतवाहक। वह इसी भूमि पर, इन्हीं भूमि-वालों द्वारा, इसी भूमि के कल्याणार्थ लिखा जाता है, इसलिए न तो वह मनोरंजन के छिछले स्तर पर केवल दिल-बहलाव है, न वैयक्तिक विकल्पना की मर्मर-चूड़ाओं का जीवन-निरपेक्ष सगीत और न वाद, विचार अथवा दल-विशेष का परवश पत्र-वाहक। जीवन-जगत् की अन्यान्य विद्याओं और चेतना-प्रेरक प्रक्रियाओं की भाँति, काव्य भी जीवन के लिए, जीवन में और जीवन्त व्यक्तित्वों द्वारा प्रस्तुत होता है। जीवन-कल्याण और उपयोगिता (सूक्ष्म या स्थूल जिस-किसी भी स्तर की हो) को अन्तिम साध्य मान लेने के बाद साधन पर ही ज्ञान-विज्ञान और कलाओं-उपकलाओं का विभाजन हो सकता है। इस प्रास्थानिक सत्य की पूर्ण स्वाकृति के बाद हम यह कह सकते हैं कि साहित्य अथवा काव्य का अमुक रूप है और अमुक पथ से चलकर अमुक प्रकार के प्रभाव से समन्वित होने पर उसे यह सज्ञा प्रदान की जायगी। जैसे जीवन की स्थितियाँ और उनकी प्रतिक्रियाएँ अनन्त हैं, उसी प्रकार इस अनन्त रूपधारी जीवन की एक विशिष्ट (साहित्यिक या काव्यात्मक) ढग से व्याख्या-व्यवस्था करने वाला काव्य-साहित्य भी कभी एक शैली-रूप या एक ही प्रेरणा-प्रभाव की कठोर इयत्ता में बन्दी नहीं बनाया जा सकता। काव्य और साहित्य एक सवेदन-शील, जागरूक एवं जीवन्त घटक (इकाई, व्यक्ति या व्यष्टि) के माध्यम से आगत सत्य और शिव की सौन्दर्य-रसात्मक अभिव्यक्ति है, वह यंत्र का सामूहिक एवं

एक रूप उत्पादन नहीं; इसलिए एकस्वरता और एक-प्रकारता का नारा वाच्यार्थ में वहाँ घटित नहीं किया जा सकता। इन विवशताओं और वस्तु-स्थितियों को समझते हुए ही जन-मंगल की अवतारणा एव जीवन-व्याख्या की शर्त का आग्रह साहित्यकार और कवि के साथ न्यायकारी होगा। साहित्यकार और कवि के सामने दुहरा उत्तरदायित्व होता है, उसे 'जीवन क्या होना चाहिए' की व्याख्या 'जीवन क्या है' के माध्यम से करनी होती है। 'है' और 'होना चाहिए' (यथार्थ और आदर्श) के बीच से चलने वाले कवि-साहित्यकार को केवल 'चाहिए' के मानदण्ड से कसना, जैसे एकांगी और साहित्य-प्रक्रिया की प्रकृति के विपरीत होगा, वैसे ही कुछ रूढ़ एवं पूर्वाग्रही रेखाओं पर उसका मूल्यांकन अत्यन्त भयंकर। फिर प्रश्न हो सकता है कि क्या साहित्यिकता सिद्धान्त-हीनता में ही निवास करती है ? उत्तर है, नहीं। काव्य सम्पूर्ण जीवन का प्रतिनिधि है और वाद एवं मत उसके अन्तर्भूत उपादान एवं साधक। अब तक का इतिहास यही सिद्ध करता है कि वाद और सिद्धान्त केवल जीवन को समझने के कोण ही रहे हैं, स्वयं जीवन नहीं। वाद-विशेष के साथ आसक्ति जीवन के व्यापक एवं महत्तर सत्यो की स्वीकृति में बाधिका भी हो सकती है। इससे सिद्धान्त विशेष की सीमाओं से अंध-मोह का त्याग सिद्धान्त हीनता नहीं वरन् साहित्यकार के दायित्वो का भार और अधिक बढ़ जाता है। जहाँ यह तटस्थता और ऊर्ध्व दृष्टि कर्त्तव्यों से पलायन और स्वार्थ रति की समर्थिका बनकर आवे, वहाँ वह अवश्य गर्ह्य एवं प्रत्यवधान-योग्य है।

काव्य और साहित्य व्यष्टि और समष्टि, व्यक्ति और समाज, भोग एवं त्याग तथा कर्त्तव्य और अधिकार के बीच एक स्वस्थ, कल्याण-मुखी, रस-सौन्दर्यात्मक समन्वय है। सन्तुलन उसका लक्ष्य है, पर मिथ्या भाग्यवाद, झूठे सन्तोष-दान और सामाजिक विषमताओ पर पलते निहित-स्वार्थों की रक्षा का सन्तुलन नहीं, सीमान्तों (इक्सट्रीम्स) की अस्वस्थ विकृतियों के निराकरण एव निरसन का सन्तुलन, जो द्वन्द्व-भरे जीवन-जगत् के बीच से मानव-समाज को सुख-शान्ति एव कल्याण की दिशा में आगे बढ़ावे, जो मानव की मानवीय वृत्तियों को पशुत्व से परिष्कृत कर उच्च मानवत्व की सुन्दर सम्भावनाओं को बल दे।

इस सन्तुलन को लाने के लिए हर काव्य-साहित्य को अपने परम्परागत दाय को सहेजना-सँभालना पड़ता है, उसे समझना-बूझना होता है और नवीन सामाजिक परिस्थितियों एव नव-वस्तु-सम्बन्धों की माँगों को मानव के सुख, शान्ति एव कल्याण की सम्भावनाओं के साथ समाधान देना होता है। जीवन-कल्याण के अन्तिम लक्ष्य और नवीन भौतिक परिस्थितियों के आवश्यकता-

चापों के समन्वय को सम्पन्न करने—परिस्थितियों के प्रकाश में उचित मनोव्यवस्था एवं जीवन-सत्ता के आन्तरिक मूल्यों की आवश्यकता में अनुकूल परिस्थिति-निर्माण के लिए साहित्य को अपनी पुरानी, वर्तमान और भावी विचार-भाव-सम्पदा एवं चिन्ता-मणियों का आकलन-विकलन करते रहना पड़ता है। वह मानव-विकास के अभियान के बीते डगों को बिचारता है, वर्तमान चरणों के औचित्य-अनौचित्य को गुनता तथा भावी पद-न्यास के निमित्त अनुकूल भूमियों का भावन करता है। यही साहित्य की सांस्कृतिक दृष्टि है। काव्य और साहित्य मानव संस्कृति का सजग पहरेदार है। मानव-अभियान की काली रातों में भी उसकी गहरी-भारी आवाज अवांछित चरणों को रोमांचित और ईप्सित पदों को अभिरक्षा का बल देती है। मानव-विजय के उजले प्रभातों में भी वह अशिथिल भाव से अपना कर्त्तव्य निभाता जाता है। हार के क्षणों में तो उसकी वाणी की सजगता, उसके चरणों का विश्वास और दूना हो जाता है। साहित्य संस्कृति का मधुरतम रूप और उसका सुन्दरतम साधन है।

छायावादी काव्य के वास्तविक मूल्य और उसकी सबलता-दुर्बलता का समाकलन तभी हो सकता है, जब हम उस युग के व्यक्ति मन और समष्टि-मानस का विश्लेषण करते हुए, उन विशिष्ट बाह्य परिस्थितियों में संघर्ष-शीला समग्र अन्तर्बाह्य चेतना धाराओं के घात प्रतिघातों से उत्पन्न तद्युगीन समस्त आलोडन-विलोडनों का निरूपण करें, उनके कार्य-कारणों का विवेचन करें।

छायावादी कवि वस्तुतः अपनी वैयक्तिक मनोविकृतियों से उत्पन्न दिवा-स्वप्नों एवं मानसिक उड़ानों में खोया निरपेक्ष अन्तर्मुखी रचनाकार नहीं है। वह अपनी बाहरी परिस्थितियों के प्रति पूर्णतः सचेत है। उसके समस्त स्वप्न एवं कल्पना-सर्जन बाह्य परिपार्श्व की प्रतिक्रिया में ही उद्भूत और रूपायित हैं। उसके समाधानों और निष्कर्षों की सीमाएँ हो सकती हैं, पर ये सीमाएँ निश्चित ही उसकी ईमानदारी की सीमाएँ नहीं कही जा सकतीं। बन्धनों के तोड़ने के साधनों की उपयोगिता-अनुपयोगिता तथा सामर्थ्य-असामर्थ्य पर वैमत्य हो सकता है, पर बन्धनों की अनुभूति और उससे मुक्ति की कामनापर सन्देह नहीं किया जा सकता। दस-एक वर्ष पूर्व आलोचना के ऐसे सन्त्रस्त स्वर भी सुनाई पड़ते थे कि छायावादी कवि देशद्रोही है और जबकि राष्ट्र स्वतंत्रता-प्राप्ति के संग्राम में, जीने मरने की स्थिति से गुजर रहा हो, वह स्वप्नों का विहाग छेड़े हुए हैं, उसे राष्ट्र की नसों में गर्म रुधिर जगाने तथा थके पगों में नवीन स्फूर्ति लाने के लिए ओजस्वी काव्य का भैरव-राग उठाना चाहिए। ऐसी छिट-फुट कटूक्तियाँ भी सुनने-पढ़ने को मिल जाती थीं कि छायावाद ने आकर हमारी

राष्ट्रीय मुक्ति-यात्रा को और लम्बी कर दिया...... । आज भारत स्वतंत्र है और छायावादी काव्य की छाया से हम पूर्णतः मुक्त भी नहीं हो सके हैं । ऐसी परिस्थितियों में हम उक्त कथनों के सार को स्वयं आँक सकते हैं; इतिहास के अमोघ चरण चूके नहीं, अपने आक्रोश-विक्रोश की अतिवादिताओं को हम आज निकट से देख सकते हैं । आज हमने राष्ट्रीय स्वतंत्रता और विदेशियों से राजनीतिक मुक्ति ही नहीं प्राप्त की है, हम एक चतुर्मुखी सामाजिक पुनर्निर्माण की दिशा में भी बहुत आगे बढ़ चले हैं । राजनीतिक तंत्र और अर्थ संघटन से सम्बद्ध प्रश्नों तक ही सीमित न रह कर, हमारे समाज की जागरूक चिन्तना नवीन सांस्कृतिकप्रयासों की ओर भी गतिमान् है । छायावाद हमें अफीम की नींद नहीं दे रहा था, वरन् हमारे रुद्ध मनोद्वारों को खोलकर भीतर घुटती ज्योति की प्यासों, नवीन समाज-सम्बन्धों और व्यक्ति तथा समाज के बीच नये सन्तुलनों के लिए आकुल चेतनाओं की अवरोधित तडपनों तथा खोखले आदर्शों के नाम पर मानव-इच्छाओं पर लदे मृत-भारों के विरुद्ध अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत, परिष्कृत एवं परिवर्धित चेतना-भूमियों पर विचरण करने की भूख-पीडा को बाहर फूटने का मार्ग दिया । उनका उन्मन अन्तर्गुंजन, सुषमा-सौन्दर्य के उच्चतर सोपानों के आरोहण, 'द्विवेदी'-युगीन कृत्रिम आत्म-पीडनों के आकाशी शिखरों से रक्त-मांस-मयी मानवता की हरी भरी उपत्यकाओं पर उनके आत्मीयता-भरे अवतरण, अतीत का रोना, भावी की सुखद कल्पना, नारी का नवीन अन्तर्दर्शन, भौतिकता के अतिरेकी कगारों के निकट आध्यात्मिक वंशी की ऋजु-कुंचित मीड-मूर्च्छनाएँ, मानववादी आस्था का उद्घोष, असुन्दर और नग्न जीवन-सत्यों का रम्य आलोकीकरण, प्रकृति में मानवीयता का सगुम्फन, अद्वैतवादी दर्शन का लाक-मुखी प्रकाश, अविश्वसनीय एवं अतृप्तिकर मानव-सम्बन्धों के बीच विरह-मिलन के रहस्य-झिलमिल पारमार्थिक सगीत—सभी कुछ उनके आन्तरिक आलोडन, आत्मिक मथन और बाह्य परिस्थितियों के तीव्र प्रतिक्रियात्मक असन्तोष का द्योतक है । छायावादी कवियों ने किसी सर्वथा नव्य दर्शन की स्थापना नहीं की और न एक स्वर से किसी एक सुनिश्चित दार्शनिक आन्दोलन का अभियान ही चलाया, किन्तु प्रत्येक कवि अपने युग के सांस्कृतिक अवरोधों से परिचित एवं प्रतिक्रियमाण था । समाज की मूल सांस्कृतिक परम्परा के काल-रुद्ध रूढियों की अनुपयोगिता को वे समझ रहे थे, वस्तुतः वे उसे इस प्रकार हिलाना चाहते थे कि उपयोगहीन जड झाल-जाल झड पड़ें और उनमें से चमकता उपयोगी द्रव्य अपनी श्री बिखेर दे । इसीसे छायावाद हमारी परपरा-गत संस्कृति के महा-वन में आँधी बनकर नहीं, प्रभात का वह मलय-पवन बनकर बहा है, जिससे हमारे आदर्शों के

चारों के समन्वय को सम्पन्न करने--परिस्थितियों के प्रकाश में उचित मनोव्यवस्था एवं जीवन-सत्ता के आन्तरिक मूल्यों की आवश्यकता में अनुकूल परिस्थिति-निर्माण के लिए साहित्य को अपनी पुरानी, वर्तमान और भावी विचार-भाव-सम्पदा एवं चिन्ता-मणियों का आकलन-विकलन करते रहना पड़ता है। वह मानव-विकास के अभियान के बीत डगों को विचारता है, वर्तमान चरणों के औचित्य-अनौचित्य को गुनता तथा भावी पद-न्यास के निमित्त अनुकूल भूमियों का भावन करता है। यही साहित्य की सांस्कृतिक दृष्टि है। काव्य और साहित्य मानव संस्कृति का सजग पहरेदार है। मानव-अभियान की काली रातों में भी उसकी गहरी-भारी आवाज अवांछित चरणों को रोमांचित और ईप्सित पदों को अभिरक्षा का बल देती है। मानव-विजय के उजले प्रभातों में भी वह अशिथिल भाव से अपना कर्त्तव्य निभाता जाता है। हार के क्षणों में तो उसकी वाणी की सजगता उसके चरणों का विश्वास और दूना हो जाता है। साहित्य संस्कृति का मधुरतम रूप और उसका सुन्दरतम साधन है।

छायावादी काव्य के वास्तविक मूल्य और उसकी सबलता-दुर्बलता का समाकलन तभी हो सकता है, जब हम उस युग के व्यक्ति मन और समष्टि-मानस का विश्लेषण करते हुए, उन विशिष्ट बाह्य परिस्थितियों में संघर्ष-शीला समग्र अन्तर्बाह्य चेतना धाराओं के घात अतिघातों से उत्पन्न तद्युगीन समस्त आलोडन-विलोडनों का निरूपण करें, उनके कार्य-कारणों का विवेचन करें।

छायावादी कवि वस्तुतः अपनी वैयक्तिक मनोविकृतियों से उत्पन्न दिवा-स्वप्नों एवं मानसिक उड़ानों में खोया निरपेक्ष अन्तर्मुखी रचनाकार नहीं है। वह अपनी बाहरी परिस्थितियों के प्रति पूर्णतः सचेत है। उसके समस्त स्वप्न एवं कल्पना-सर्जन बाह्य परिपार्श्व की प्रतिक्रिया में ही उद्भूत और रूपायित हैं। उसके समाधानों और निष्कर्षों की सीमाएँ हो सकती हैं, पर ये सीमाएँ निश्चित ही उसकी ईमानदारी की सीमाएँ नहीं कही जा सकतीं। बन्धनों के तोड़ने के साधनों की उपयोगिता-अनुपयोगिता तथा सामर्थ्य-असामर्थ्य पर वैमत्य हो सकता है, पर बन्धनों की अनुभूति और उससे मुक्ति की कामनापर सन्देह नहीं किया जा सकता। दस-एक वर्ष पूर्व आलोचना के ऐसे सत्रस्त स्वर भी सुनाई पड़ते थे कि छायावादी कवि देशद्रोही है और जबकि राष्ट्र स्वतंत्रता-प्राप्ति के संग्राम में, जीने मरने की स्थिति से गुजर रहा हो, वह स्वप्नों का विहाग छेड़े हुए है, उसे राष्ट्र की नसों में गर्म रुधिर जगाने तथा थके पगों में नवीन स्फूर्ति लाने के लिए ओजस्वीकाव्य का भैरव-राग उठाना चाहिए। ऐसी छिट-फुट कटूक्तियाँ भी सुनने-पढ़ने को मिल जाती थीं कि छायावाद ने आकर हमारी

राष्ट्रीय मुक्ति-यात्रा को और लम्बी कर दिया...... । आज भारत स्वतंत्र है और छायावादी काव्य की छाया से हम पूर्णतः मुक्त भी नहीं हो सके हैं । ऐसी परिस्थितियों में हम उक्त कथनों के सार को स्वयं आँक सकते हैं; इतिहास के अमोघ चरण चूके नहीं, अपने आक्रोश-विक्रोश की अतिवादिताओं को हम आज निकट से देख सकते हैं । आज हमने राष्ट्रीय स्वतंत्रता और विदेशियों से राजनीतिक मुक्ति ही नहीं प्राप्त की है, हम एक चतुर्मुखी सामाजिक पुनर्निर्माण की दिशा में भी बहुत आगे बढ़ चले हैं । राजनीतिक तंत्र और अर्थ सघटन से सम्बद्ध प्रश्नों तक ही सीमित न रह कर, हमारे समाज की जागरूक चिन्तना नवीन सांस्कृतिकप्रयासों की ओर भी गतिमान् है । छायावाद हमें अफीम की नींद नहीं दे रहा था, वरन् हमारे रुद्ध मनोद्वारों को खोलकर भीतर घुटती ज्योति की प्यासों, नवीन समाज-सम्बन्धों और व्यक्ति तथा समाज के बीच नये सन्तुलनों के लिए आकुल चेतनाओं की अवरोधित तड़पनों तथा खोखले आदर्शों के नाम पर मानव-इच्छाओं पर लदे मृत-भारों के विरुद्ध अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत, परिष्कृत एवं परिवर्धित चेतना-भूमियों पर विचरण करने की भूख-पीडा को बाहर फूटने का मार्ग दिया । उनका उन्मन अन्तर्गुञ्जन, सुषमा-सौन्दर्य के उच्चतर सोपानों के आरोहण, 'द्विवेदी'-युगीन कृत्रिम आत्म-पीडनों के आकाशी शिखरों से रक्त-मांस-मयी मानवता की हरी भरी उपत्यकाओं पर उनके आत्मीयता-भरे अवतरण, अतीत का रोना, भावी की सुखद कल्पना, नारी का नवीन अन्तर्दर्शन, भौतिकता के अतिरेकी कगारों के निकट आध्यात्मिक वंशी की ऋजु-कुंचित मीड-मूर्च्छनाएँ, मानववादी आस्था का उद्घोष, असुन्दर और नग्न जीवन-सत्यों का रम्य आलोकीकरण, प्रकृति में मानवीयता का सगुम्फन, अद्वैतवादी दर्शन का लोक-मुखी प्रकाश, अविश्वसनीय एवं अतृप्तिकर मानव-सम्बन्धों के बीच विरह-मिलन के रहस्य-झिलमिल पारमार्थिक सगीत—सभी कुछ उनके आन्तरिक आलाडन, आत्मिक मथन और वाह्य परिस्थितियों के तीव्र प्रतिक्रियात्मक असन्तोष का द्योतक है । छायावादी कवियों ने किसी सर्वथा नव्य दर्शन की स्थापना नहीं की और न एक स्वर से किसी एक सुनिश्चित दार्शनिक आन्दोलन का अभियान ही चलाया, किन्तु प्रत्येक कवि अपने युग के सांस्कृतिक अवरोधों से परिचित एवं प्रतिक्रियमाण था । समाज की मूल सांस्कृतिक परम्परा के काल-रूढ कड़ियों की अनुपयोगिता को वे समझ रहे थे, वस्तुतः वे उसे इस प्रकार हिलाना चाहते थे कि उपयोगहीन जड आल-जाल झड पड़ें और उनमें से चमकता उपयोगी द्रव्य अपनी श्री बिखेर दे । इसीमे छायावाद हमारी परपरा-गत सस्कृति के महा-वन में आँधी बनकर नहीं, प्रभात का वह मलय-पवन बनकर बहा है, जिससे हमारे आदर्शों के

संस्कृति-मुखी आत्माओं द्वारा ही सम्भव होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष भौतिक प्राप्ति-अप्राप्ति की प्रेरणाओं से आगे बढ़कर संस्कृति, सुन्दर से सुन्दरतर की ओर अपने चिरन्तन गति-क्रम में, जीवन के विविध सामाजिक सम्बन्धों के निर्धारण-निरूपण, व्याख्या-विश्लेषण एव विकास प्रकाश से लेकर उसके अन्तिम लक्ष्य एव परम ध्येयो तक लहराती रहती है। उच्च स्तर पर जीवन-जगत् को लेकर किया गया समस्त निरपेक्ष चिन्तन, जो स्वय अपने में ही एक उद्देश्य होता है, सस्कृति की प्राण-धारा है।

यह संस्कृति कोई जड या सर्वथा अपरिवर्तित द्रव्य नहीं है। सस्कृति के साथ जडता या अपरिवर्तन का दुराग्रह अथवा उसके विशिष्ट रूपाकारों या वाह्य सामाजिक परिणतियों को अन्तिम और शाश्वत मानकर चलना, स्वय सस्कृति की मूल चेतना के साथ अन्याय करना है। सस्कृति तो मानव-समाज की एक चिर प्रवहमान चेतना-धारा है, जो उसके अन्तर्बाह्य की प्रतिक्रियाओं, आवश्यकताओं एव पारस्परिक प्रतिफलनों के बीच समन्वय एवं सगति की कल्याणमयी कड़ियाँ जोडती हुई निरन्तर सत्यतर, शिवतर एवं सुन्दरतर की ओर प्रवण होती है : वह मानव-चेतना के उच्चाति-उच्च स्तरों के सूक्ष्म प्रकाशों की अवगति करती हुई उन्हें मानव के साक्षात्कारार्थ-भावनार्थ सामाजिक भूमि पर अवतरित करती चलती है। उसकी तुलना पौराणिक गगा से की जा सकती है जो विष्णु (व्यापक एव उच्चतम सत्य) का चरण जल है, जिसे कल्याण-नियोजनार्थ ब्रह्मा (भावक, साक्षात्कर्त्ता अथवा सर्जक) अपने कमंडल (क-मंडल, प्रवृत्ति-मुखी, अथवा लोक-हितोन्मुखी बुद्धि) में धारण करता है और जो पृथ्वी के भगीरथों द्वारा शिव की जटाओं में (विभिन्न कल्याण-मुखी सस्था साधनों के माध्यम से) घूमती हुई धरा-धाम (समाज, लोक-भूमि) पर लायी जाती है। वह सत्य के पाषाणों को फोडकर, उन्हें सरस बनाती हुई फिर लोक-हित-सिंधु में समा जाती है। विभिन्न मत मतान्तरों का जल लेती हुई और विविध भाव-विचार-भूमियों पर बहती हुई भी वह आदि से आज तक गंगा ही है, गगात्व का उसका मूल तत्त्व कभी मिटा नहीं और न उसने किसी भी कोण से बहकर आये जीवन-जल को अस्वीकार ही किया—

"एक नदिया, एक नार कहावत मैलो नीर भरो।
सब मिलि के जब एक बरन भय सुरसरि नाम परो॥"

सस्कृति की मूल सत्य शिव सुन्दरा धारा में वाद, सम्प्रदाय, मत और दृष्टि-कोण—सभी कुछ एक व्यापक सम्बद्धता एवं वृहत्तर सामजस्य में बहते रहते हैं। सस्कृति उस मानव-समाज का सूक्ष्म जीवन-जल है जिसकी सामयिक आवि-

लताएँ उसकी मूल स्वच्छता को चिर-काल तक बाधित नहीं रख सकतीं। उसमें सँकरे आग्रहों, निहित-स्वार्थ-मूलक दृष्टियों, साम्प्रदायिक कट्टरताओं और देश-कालावबाधित मतों-अर्थवादों का कोई स्थायी महत्त्व नहीं। 'सत्य, शिव और सुन्दर' के चिन्तन-अनुभावन की यह जाह्नवी शिलाओं को किनारे लगाती, गर्तों को उर्वर मिट्टी से भरती और रुद्ध बाधा-कगारों को छाँटती हुई सदा बहती आयी है, बहती रहेगी।

उपर्युक्त कथन से यह भ्रम कदापि न होना चाहिए कि मानव-चेतना और उसके आलोडन-विलोडन से भिन्न संस्कृति की कोई निरपेक्ष सत्ता होती है। वस्तुतः जाति की चेतना से असम्पृक्त अस्तित्व की बात कहना संस्कृति का दैवीकरण है, जो भ्रामक एवं त्रुटि-पूर्ण है। वह जाति-विशेष तक ही जडीभूत वस्तु भी नहीं है, सामान्यता के आधार पर उसका विश्व-रूप भी निर्दिष्ट किया जा सकता है। ऊपर के कथनों का संकेत यही है कि संस्कृति का एक विकास-क्रम होता है और अनजाने या स्वार्थ में भ्रान्त बना देने की सीमाओं के बावजूद उसका लक्ष्य मानव का निरन्तर परिष्कार-संस्कार ही होता है।

छायावादी काव्य की कुछ सांस्कृतिक प्रतिक्रियाएँ और उसका एक सांस्कृतिक लक्ष्य रहा है। कुछ लोगों ने राष्ट्रीयता के आवेग में उपनिषदों एवं 'अद्वैत'–दर्शन को इसकी मूल प्रेरणा माना, कुछ ने इसे शुद्ध रूप से भारतीय रहस्यवाद का विकास माना और कुछ ने इसे प्रकृति-वादी, सर्वात्मवादी अथवा पाश्चात्य रहस्यवाद का अनुकारी कहा। हीगल, डेकार्ट आदि की बातें भी उठी हैं और 'ससीम–असीम' के 'फाइनाइट'–'इनफिनिट' इंगलिश-पर्यायों को लेकर भी पाश्चात्य दर्शनों में खोज-बीन हुई है। इन विभिन्न कोणीय विचार-दृष्टियों से इतना संकेत तो निर्भ्रान्त रूप से प्राप्त हो जाता है कि इस युग के काव्य के पीछे एक सांस्कृतिक संघर्ष अवश्य सचेत रहा। वस्तुतः इन कवियों ने पूर्व को भी ताजी आँखों देखने का प्रयत्न किया था और पश्चिम को सर्वथा त्याज्य न समझ, उसे भी परखने की चेष्टा की थी। छायावादी युग न तो अतीत के पुनरुत्थान का आन्दोलन कहा जा सकता है और न पश्चिमवादी प्रतिक्रिया, पूर्व और पश्चिम का राग-विराग उनका प्रस्थान-बिन्दु नहीं। वह युग परम्परा की स्वस्थ रूढ़ियों के संग्रह के साथ-साथ वर्तमान के नवीन तत्त्वों के कल्याणमय सन्तुलन-सामंजस्य की चेतना के साथ गतिमान् हुआ था। पूर्व के अन्धमोह और पश्चिम के अन्धानुगमन के बीच, यह एक स्वस्थ, जीवन-पोषी एवं मध्यस्थीकारी पुनःसंघटन का शुभ अनुष्ठान है। अतएव इसके सांस्कृतिक परमाणुओं को परखने के लिए हमें उन स्रोतों पर निराग्रह विचार करना होगा, जहाँ से

संस्कृति-मुखी आत्माओं द्वारा ही सम्भव होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष भौतिक प्राप्ति-अप्राप्ति की प्रेरणाओं से आगे बढ़कर संस्कृति, सुन्दर से सुन्दरतर की ओर अपने चिरन्तन गति-क्रम में, जीवन के विविध सामाजिक सम्बन्धों के निर्धारण-निरूपण, व्याख्या-विश्लेषण एव विकास प्रकाश से लेकर उसके अन्तिम लक्ष्य एव परम ध्येयों तक लहराती रहती है। उच्च स्तर पर जीवन-जगत् को लेकर किया गया समस्त निरपेक्ष चिन्तन, जो स्वय अपने में ही एक उद्देश्य होता है, सस्कृति की प्राण-धारा है।

यह संस्कृति कोई जड या सर्वथा अपरिवर्तित द्रव्य नहीं है। सस्कृति के साथ जडता या अपरिवर्तन का दुराग्रह अथवा उसके विशिष्ट रूपाकारों या वाह्य सामाजिक परिणतियों को अन्तिम और शाश्वत मानकर चलना, स्वय सस्कृति की मूल चेतना के साथ अन्याय करना है। सस्कृति तो मानव-समाज की एक चिर प्रवहमान चेतना-धारा है, जो उसके अन्तर्बाह्य की प्रतिक्रियाओं, आवश्यकताओं एव पारस्परिक प्रतिफलनों के बीच समन्वय एवं सगति की कल्याणमयी कडियाँ जोडती हुई निरन्तर सत्यतर, शिवतर एवं सुन्दरतर की ओर प्रवण होती है : वह मानव-चेतना के उच्चाति-उच्च स्तरों के सूक्ष्म प्रकाशों की अवगति करती हुई उन्हें मानव के साक्षात्कारार्थ-भावनार्थ सामाजिक भूमि पर अवतरित करती चलती है। उसकी तुलना पौराणिक गगा से की जा सकती है जो विष्णु (व्यापक एव उच्चतम सत्य) का चरण जल है, जिसे कल्याण-नियोजनार्थ ब्रह्मा (भावक, साक्षात्कर्त्ता अथवा सर्जक) अपने कमंडल (क-मंडल, प्रवृत्ति मुखी, अथवा लोक-हितोन्मुखी बुद्धि) में धारण करता है और जो पृथ्वी के भगीरथों द्वारा शिव की जटाओं में (विभिन्न कल्याण-मुखी सस्था साधनों के माध्यम से) घूमती हुई धरा-धाम (समाज, लोक-भूमि) पर लायी जाती है। वह सत्य के पाषाणों को फोडकर, उन्हें सरस बनाती हुई फिर लोक-हित-सिंधु में समा जाती है। विभिन्न मत मतान्तरों का जल लेती हुई और विविध भाव-विचार-भूमियों पर बहती हुई भी वह आदि से आज तक गंगा ही है, गगात्व का उसका मूल तत्त्व कभी मिटा नहीं और न उसने किसी भी कोण से बहकर आये जीवन जल को अस्वीकार ही किया—

"एक नदिया, एक नार कहावत मैलो नीर भरो।
सब मिलि के जब एक बरन भय सुरसरि नाम परो॥"

सस्कृति की मूल सत्य-शिव सुन्दरा धारा में वाद, सम्प्रदाय, मत और दृष्टि-कोण—सभी कुछ एक व्यापक सम्बद्धता एवं बृहत्तर सामञ्जस्य में बहते रहते हैं। सस्कृति उस मानव-समाज का सूक्ष्म जीवन-जल है जिसकी सामयिक आवि-

लताएँ उसकी मूल स्वच्छता को चिर-काल तक बाधित नहीं रख सकतीं। उसमें सँकरे आग्रहों, निहित-स्वार्थ-मूलक दृष्टियों, साम्प्रदायिक कट्टरताओं और देश-कालावबाधित मतों-अर्थवादों का कोई स्थायी महत्त्व नहीं। 'सत्य, शिव और सुन्दर' के चिन्तन-अनुभावन की यह जाह्नवी शिलाओं को किनारे लगाती, गर्त्तों को उर्वर मिट्टी से भरती और रुद्ध बाधा-कगारों को छाँटती हुई सदा बहती आयी है, बहती रहेगी।

उपर्युक्त कथन से यह भ्रम कदापि न होना चाहिए कि मानव-चेतना और उसके आलोड़न-विलोडन से भिन्न संस्कृति की कोई निरपेक्ष सत्ता होती है। वस्तुतः जाति की चेतना से असम्पृक्त अस्तित्व की बात कहना संस्कृति का दैवीकरण है, जो भ्रामक एवं त्रुटि-पूर्ण है। वह जाति-विशेष तक ही जडीभूत वस्तु भी नहीं है, सामान्यता के आधार पर उसका विश्व-रूप भी निर्दिष्ट किया जा सकता है। ऊपर के कथनों का संकेत यही है कि संस्कृति का एक विकास-क्रम होता है और अनजाने या स्वार्थ में भ्रान्त बना देने की सीमाओं के बावजूद उसका लक्ष्य मानव का निरन्तर परिष्कार-संस्कार ही होता है।

छायावादी काव्य की कुछ सांस्कृतिक प्रतिक्रियाएँ और उसका एक सांस्कृतिक लक्ष्य रहा है। कुछ लोगों ने राष्ट्रीयता के आवेग में उपनिषदों एवं 'अद्वैत'-दर्शन को इसकी मूल प्रेरणा माना, कुछ ने इसे शुद्ध रूप से भारतीय रहस्यवाद का विकास माना और कुछ ने इसे प्रकृति-वादी, सर्वात्मवादी अथवा पाश्चात्य रहस्यवाद का अनुकारी कहा। हीगल, डेकार्ट आदि की बातें भी उठी हैं और 'ससीम—असीम' के 'फाइनाइट'—'इनफिनिट' इंगलिश-पर्यायों को लेकर भी पाश्चात्य दर्शनों में खोज-बीन हुई है। इन विभिन्न कोणीय विचार-दृष्टियों से इतना संकेत तो निर्भ्रान्त रूप से प्राप्त हो जाता है कि इस युग के काव्य के पीछे एक सांस्कृतिक संघर्ष अवश्य सचेत रहा। वस्तुतः इन कवियों ने पूर्व को भी ताजी आँखों देखने का प्रयत्न किया था और पश्चिम को सर्वथा त्याज्य न समझ, उसे भी परखने की चेष्टा की थी। छायावादी युग न तो अतीत के पुनरुत्थान का आन्दोलन कहा जा सकता है और न पश्चिमवादी प्रतिक्रिया; पूर्व और पश्चिम का राग-विराग उसका प्रस्थान-बिन्दु नहीं। वह युग परम्परा की स्वस्थ रूढ़ियों के संग्रह के साथ-साथ वर्तमान के नवीन तत्त्वों के कल्याणमय सन्तुलन-सामंजस्य की चेतना के साथ गतिमान् हुआ था। पूर्व के अन्धमोह और पश्चिम के अन्धानुगमन के बीच, वह एक स्वस्थ, जीवन-शोधी एवं सत्य-स्वीकारी पुनःसंघटन का शुभ अनुष्ठान है। अतएव इसके सांस्कृतिक परमाणुओं को परखने के लिए हमें उन स्रोतों पर निराग्रह विचार करना होगा, जहाँ से

वे आये या आ सकते थे। इन स्रोतों को हम दो प्रधान वर्गों में विभाजित कर सकते हैं, एक परम्परागत, दूसरा नवीन।

परम्परागत भारतीय दर्शन में औपनिषदिक विचार-धारा अपना बहुत बडा महत्त्व रखती है। 'प्रस्थान-त्रयी' में इसका प्रथम पद है। समर्थक, व्याख्याता, अथवा विकासक-प्रकाशक मतों की बात तो छोडिए, विरोधिनी धाराओं ने भी उनका सहारा लिया और उसकी मुद्रा से मुद्रित करके ही अपने मतों की पुष्टि करते रहे। यह विरोधियों के भी शीश पर चढ़कर बोलने वाला जादू रहा है। अनेकानेक ऋषि-मनीषियों द्वारा रचित ये उपनिषद् एक सामान्य दिशा की व्यापकता में इस प्रकार विस्तृत हैं कि दार्शनिक दुराग्रह तो मिलता ही नहीं, किसी एक कठोर दर्शन को गढ कर लादने का भगीरथ प्रयास भी परिलक्षित नहीं होता। ये उपनिषद् वस्तुतः दार्शनिक आग्रहों से प्रेरित ग्रथ नहीं हैं। ये विभिन्न ऋषियों द्वारा विभिन्न कालों में प्रणीत हैं। इनके रचयिताओं का लक्ष्य जीवन-जगत् के मूल तत्त्वों एव आत्मा-परमात्मा-सम्बन्धी प्रत्यक्षीभूत, अनुभव किये गये सत्यों की विवृति थी। उपनिषदों ने दार्शनिक कठोराग्रह के स्थान पर आत्मिक मुक्ति एव शान्ति को ही सर्वाधिक महत्त्व दिया। ब्रह्म उनकी समस्त जिज्ञासाओं का समाधान एव प्रश्नों का एक मात्र उत्तर था, आत्मानुभव उनका साधन-मार्ग। उन्होंने घोषणा की कि ब्रह्म ही सत्य है, वही सबका कारण है। वह वाणी और मन के लिए अगोचर है। कठोपनिषद ने ब्रह्मज्ञान के लिए कहा कि उसे वही जानेगा जिसे वह स्वय इसके लिए चुनेगा। ब्रह्म, जीव और जगत् के सम्बन्धों की सूक्ष्म वैज्ञानिकता में जाने पर इन उपनिषदों में कठोर एकरूपता नहीं मिलेगी। विश्व को ब्रह्म का ही रूप माना गया है, कहीं उसे ब्रह्म का गृह बताया गया है ('हिरण्यमय पात्र', ईशोपनिषद्, १५)। आत्मा को भी ब्रह्म बताया गया है और कहीं पर (मुडकोपनिषद्) आत्मा की परमात्मा से अग्नि-उदच्चिवत् उत्पत्ति संकेतित की गयी है। इस प्रकार ब्रह्म को ही मात्र और अन्तिम सत्य मान शेष सब कुछ का उसमें अन्तर्भाव कर उपनिषदों ने मानव-मात्र की एकता और अभेदता का विश्व-श्रेष्ठ सदेश प्रदान किया है। आज के इस तर्काकुल एवं बुद्धि-प्रबुद्ध युग में साधना का कुछ महत्त्व हो या न हो, किन्तु प्रजातन्त्र के विकास के साथ मानव-मात्र की अभेदता और समानता का मूल्य आज भी महान् है और स्यात् आज का युद्धातंकित विश्व इसे और भी अधिक आतुरता के साथ अनुभव करने और कराने को व्याकुल है।

वैज्ञानिक आविष्कारों ने जहाँ एक ओर देश-काल की सीमाओं को

अत्यन्त लघु बना दिया है, वहीं सत्य के नवीन अन्वेषणों ने कितनी ही पूर्व मान्यताओं को बदल दिया है। रहस्य खुल गये और कितनी ही गुत्थियाँ खुल गयीं। धार्मिक और साम्प्रदायिक आग्रह शिथिल हो गये और अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क और गमनागमन ने मानव मानव को निकट ला दिया है। देश-काल की दूरियों के साथ मनों की दूरियाँ भी कम हुईं। भयंकर विश्व-युद्धों ने मानव के मन पर यह सत्य पाषाण-रेखा की भाँति स्पष्ट कर दिया कि भेद और वैषम्य नहीं, मानव-मानव की अभेदता एवं समानता पर ही विश्व का कल्याण सम्भव है। विश्व-मानव की यह चिन्ता अद्वैतवादी भारत को न छुए, आश्चर्य की बात थी।

श्री पं० सुमित्रानन्दन पन्त पर इस धारा का बड़ा ही गम्भीर प्रभाव पड़ा है। मानव-कल्याण के चिर-स्वप्न-दर्शी पन्त जी ने निम्न पंक्तियों में मानवता को अविभाज्य एवं अखंड माना है, जिसमें सभी भेद मिथ्या हैं। मानव शाश्वत ज्योतिस्वरूप है—

"गा कोकिल सन्देश सनातन !
मानव दिव्य स्फुलिंग चिरन्तन,
वह न देह का नश्वर रज-कण,
देश-काल है उसे न बन्धन,
मानव का परिचय मानव-पन।"—['युगान्त']

'बापू' को उन्होंने इसीसे महान् आत्मा का अवतार कहा—

'जड़वाद जर्जरित जग में,
अवतरित हुए आत्मा महान्।'—[वही]

तभी तो उन्हें 'अस्थि-शेष' कहते हुए भी 'अस्थि-हीन' कहा और उन्हें केवल शुद्ध-बुद्ध आत्मा घोषित किया, जो विश्व-संस्कृति का आधार बनेंगे—

"तुम शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर-पुराण, हे चिर नवीन !

× × ×

आधार अमर होगी जिस पर
भावी की संस्कृति समासीन।"—[वही]

कोकिल से अग्नि-कण बरसाने की अभ्यर्थना एवं जगत् के जीर्ण पत्रों से झरने का अनुरोध सांस्कृतिक उद्देश्य का ही प्रमाण है, जहाँ वे मानवात्मा के चतुर्दिक् घिरे आन्त-जाल को निराकृत कर देना चाहते हैं। आत्मा

और ब्रह्म के उपनिषदीय विचार तार निम्नलिखित पंक्तियों में भी सुने जा सकते हैं, जो चाँदनी के प्रति हैं'—

"वह है, वह नहीं, अनिर्वच,
जग उसमें, वह जग में लय,
साकार चेतना सी वह,
जिसमे अचेत जीवाशय।"—['गुंजन']

कुछ आलोचकों ने (यशदेव· 'पन्त का काव्य और उनका युग', पृ० १४७) इसके काव्य सौन्दर्य पर ही नहीं, सार्थकता पर भी सन्देह किया है। हमारा लक्ष्य यहाँ काव्य-सौन्दर्य का विवेचन नहीं और न अपने पूर्वाग्रह की घोषणा ही है, हम तो 'पन्त' के काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की ओर ही संकेत करना चाहते हैं। 'पन्त' जी तो गंगा की धारा में अपना अस्तित्व खोकर अमरत्व को भी अनुभव कर लेते हैं—

"मैं भूल गया अस्तित्व-ज्ञान,
जीवन का यह शाश्वत प्रमाण,
करता मुझ को अमरत्व-दान।"—['गुंजन']

'पन्त' जी की सांस्कृतिक दृष्टि आगे चलकर 'पल्लव' के पश्चात् विकसित ही होती गयी है। 'गुंजन' में उन्होंने कहा—

"मैं प्रेमी उच्चादर्शों का,
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का,
जीवन के हर्ष-विमर्शों का;
लगता अपूर्ण मानव-जीवन,
मैं इच्छा से उन्मन, उन्मन।"

महादेवी का रहस्यवाद उपनिषदों से बहुत कुछ ग्रहण करता है। वे आत्मा को गायक ब्रह्म की बीन भी कहती हैं और रागिनी भी। जैसे गायक वीणा के माध्यम से अपना स्वर मुखरित करता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी आत्मा (जीवात्मा) के माध्यम से अपने को व्यक्त करता है और स्वयं जीवात्मा का चेतन अस्तित्व उसकी प्रेरणा की अभिव्यक्ति भी है—

'बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।"

वे परमात्मा के प्रति आत्मा की कामना भी व्यक्त करती हैं—

"मेरे बिखरे प्राणों में
सारी करुणा ढुलका दो,
मेरी छोटी सीमा में
अपना अस्तित्व मिटा दो।"

जाग्रत आत्मा के लिए नये परिचय की आवश्यकता ही क्या?

'तुम मुझमे प्रिय, फिर परिचय क्या?'

वे 'विश्व-वीणा' में मिल जाने को उत्सुक हैं—

'विश्व-वीणा मे अपनी आज
मिला लो यह अस्फुट झंकार।'

—['नीहार']

'परिवर्तन'—कविता में 'पन्त' जी विश्व मे एक ही असीम उल्लास को विविध आभासों में फैला देखते हैं—

'एक ही तो असीम उल्लास, विश्व में पाता विविधाभास।'

'प्रसाद' जी विमल इन्दु, सिन्धु और नदियो के गान में—सर्वत्र उसी ब्रह्म को व्यापक देखते हैं। 'चित्राधार' से 'कानन-कुसुम' में प्रवेश करते ही उनका आत्म-बोध जगता-सा दिखाई पड़ता है। वे इस समस्त सृष्टि में ही ब्रह्म-विलास देखते हैं—

'विमल इन्दु की विशाल किरणें प्रकाश तेरा बता रही हैं!'

उनकी ब्रह्म-जिज्ञासा इस पुस्तक मे प्रबुद्ध दिखलाई पडती है। वे विश्व-वीणा में ब्रह्म के महा-सगीत का अनुभव करते हैं। वे कभी इस विश्व को उसका पावन मन्दिर मानते हैं, कभी उसे विश्व-गृहस्थ का रूप देते हैं। कभी उन्हें यह विश्व आनन्द-भवन है तो कभी बाहर-भीतर एक ही वसन्त छाया हुआ अनुभव होता है—

"दृश्य सुन्दर हो गये, मन में अपूर्व विकास था,
आन्तरिक और बाह्यसबमे नव वसन्त-विलास था।"

वे 'विश्वात्मा' को आत्म-समर्पित करने का सकेत करते हैं—

"आत्म समर्पित करो उसी विश्वात्मा को पुलकित होकर,
प्रकृति मिला दो विश्व-प्रेम मे, विश्व स्वयं ही ईश्वर है।"

—['प्रेम-पथिक']

आत्मा-परमात्मा के रहस्यात्मक सम्बन्ध और विश्व मे परमात्मा की झलक के दर्शन की प्रवृत्ति, उपनिषदों की आत्मानुभूतियों और उनके भावात्मक

प्रकाशनों के साथ बहुत कुछ सजातीया है। जीवों के आत्मा-गत साम्य की मान्यता छायावादी काव्य में शत-सहस्र रूपों में आयी है।

शांकर अद्वैतवाद का भी इस युग की काव्य-पृष्ठभूमि में स्पष्ट प्रभाव पड़ा है। यह अद्वैत मत भी उपनिषदों का सहारा लेता है। उपनिषदों में किसी तर्क-सम्मत वाद की स्थापना का सचेष्ट प्रयास नहीं परिलक्षित होता। उनका ब्रह्म वाद भी वादाग्रह की अपेक्षा आत्मा की मुक्ति और विस्तृति का ही सन्देश देता है। अद्वैत-दर्शन एक ठोस तर्क-भूमि पर आधारित एक सर्व-सम्बद्ध दर्शन है। शकराचार्य ने अपनी विराट् तर्क-प्रतिभा से अनेक विवादों का सबल उत्पादन कर अनेकानेक मतान्तरों को छाया में डाल दिया। अद्वैतवाद ब्रह्म को ही एक मात्र सत्य मानता है। माया जो स्वय मिथ्या एव भाव-मात्र है, ब्रह्म-स्वरूप जीव को अज्ञान में डालकर अपने को दु'खी, भिन्न एवं ब्रह्म से अलग अनुभव कराती है, अन्यथा पारमार्थिक दृष्टि से जीवात्मा ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। सत्ता-हीन माया स्वय कुछ नहीं। संसार या जगत् भी माया-कृत और मिथ्या है। शकर ने तीन सत्ताएँ स्वीकार की हैं--पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक। ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है। ससार व्यावहारिक सत्य है, यह पारमार्थिक दृष्टि से तो असत्य और ब्रह्म का उसी प्रकार विवर्त्त है जैसे अन्धेरे में रस्सी का साँप विवर्त्त है। व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्य में केवल अशों (डिग्री) का अन्तर है। रस्सी भी असत्य है और साँप भी, अन्तर यही है कि रस्सी देर में नष्ट होती है और साँप का भ्रम अपेक्षाकृत जल्दी। ब्रह्म शुद्ध चैतन्य-स्वरूप स्वय-प्रकाश एवं निर्विकार है, वह निष्प्रयत्न भी है, पर ज्ञान और माया दोनों से ही युक्त ईश्वर ही माया के साथ खेलता हुआ, जीव को कृपा कर ज्ञान देता है। विकार द्रव्यगत परिवर्तन और सत्य है तथा विवर्त्त मिथ्या भ्रान्ति। ससार के ब्रह्म-विवर्त्त होने से इस मत को 'विवर्त्तवाद' और माया की प्रधानता से 'मायावाद' भी कहा गया है, पर एक और केवल एक ब्रह्म को सत्य मानने के कारण, जीवात्मा-परमात्मा अथवा ब्रह्म-जीव की अनन्य एकता ही 'अद्वैतवाद' का मूल सन्देश मानी जायगी।

शाकर मत से जीवात्मा में, ससार के मिथ्यात्व और ब्रह्म से अद्वैतता का ज्ञान ही मुक्ति है। वह कर्म नहीं, ज्ञान को ही मुक्ति का साधन मानता है। शकराचार्य कर्म के ससार-मुखी और भक्ति के द्वैत-मूलक होने से, दोनों को मिथ्या मानते हैं।

शंकराचार्य भी ज्ञान को अनुभव और स्वयं प्रकाशित होने वाला मानते हैं—वे उसे तर्क से उच्चतर कहते हैं, पर वे उपनिषदों से इस बात में सर्वथा

भिन्न हैं कि वे संसार को मिथ्या मानते हैं, जब कि उपनिषद् ऐसा कभी नहीं कहते। शकर के इस मत का विरोध उनके बाद की अद्वैत-मूलक धाराओं-विशिष्टाद्वैतवाद आदि द्वारा ही हुआ था। आधुनिक युग मे स्वामी रामकृष्ण परमहस, स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ जी ने भी अद्वैतवादी दर्शन को ही स्वीकार किया, पर इन लोगों ने उसकी व्याख्या को आधुनिक युग के परिपार्श्व में प्रतिष्ठित किया है।

पाश्चात्यों के प्रवेश के साथ साथ भारत में उनके सम्पर्क की प्रतिक्रिया हुई। पश्चिमी धर्म-प्रचारकों ने अपने 'मिशनों' द्वारा भारतीय सनातन-धर्म पर बडा गहरा प्रहार प्रारम्भ किया। अछूत, विधवा, मूर्तिपूजा, खान-पान एव वर्ण-व्यवस्था आदि की रूढियों को लेकर उन्होंने हिन्दू-धर्म की खिल्ली उडाई और भोली जनता उनकी आलोचनाओं से प्रभावित होने लगी। अछूत और दलित जातियों पर उनका प्रचार-प्रलोभन तो सफल होने ही लगा था, शिक्षितो के ऊपर भी नवीन पाश्चात्य प्रणाली की शिक्षा का पर्याप्त प्रभाव पड रहा था। अगरेजी पढ़े-लिखे व्यक्तियों के भीतर पाश्चात्य विचारधारा का प्रवेश होने लगा था। विज्ञान के प्रचार-प्रसार ने भारतीय आस्थाओं की जड हिलाना प्रारम्भ कर दिया। सुदीर्घ दासता की छाया में जाति पराभूत तो हो ही चुकी थी; अतः भारतीय विचारादर्शों की मूल कल्याण-मयी चेतना प्रसुप्त होने लगी थी, प्रचलनों का स्थूल ढाँचा ही सामान्यतः अन्धानुगत हो रहा था। पाश्चात्य धक्कों ने सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था एव उसकी स्वप्नायित चेतना को एक बार कसकर झकझोर दिया। पुनर्जागरण एवं पुनरुत्थान का उदय होने लगा तथा विचार-शील तत्त्व प्रबुद्ध होने लगे। 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना भारतीय चिन्ता का ऐसा ही जाग्रत प्रयास था। राजा राममोहनराय ने बंगाल में 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना की। यह समाज भारतीय औपनिषदिक दर्शन को लेकर चला। इन लोगों में, अछूतों, विधवाओं, जातिगत विषमता एव मूर्तिपूजा को लेकर जो कटु आलोचनाएँ चल रही थीं, उन्हें लेकर भारतीय 'ब्रह्म-वाद' के द्वारा मानव-मानव की समानता, जाति-गत भेदों, मूर्ति-पूजा की स्थूलता एवं अछूत-समस्या के निराकरण का मार्ग प्रशस्त किया। इनके दो कार्य थे, एक तो वे पाश्चात्य आलोचनाओं को उपनिषदों के दर्शन द्वारा खण्डित कर यह सिद्ध करते थे कि मूल हिन्दुत्व अथवा भारतीयता मानव-ऐक्य, ज्ञान-साधना, ब्रह्म-चिन्तन आदि के व्यापक और उदार सिद्धान्तों में निहित है, दासता की परिस्थितियों मे उत्पन्न विकृत रूढियों में नहीं जो परिस्थिति-गत, ऊपरी, अल्पकालिक एवं असत् हैं। दूसरी ओर वे भीतर ही भीतर प्रचार द्वारा भारतीय समाज की संकुचितता, रूढि-ग्रस्तता एव

पतितावस्था को भी दूर करना चाहते थे। राजाराम मोहनराय ने सतीप्रथा का बड़ा विरोध किया था। केशवचन्द सेन एवं महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने 'ब्रह्म-समाज' को बड़ा बल दिया।

'आर्य-समाज' की स्थापना कर स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने जाति-पाँत के विरोध, विधवा-विवाह, अछूतोद्धार, मूर्ति-पूजा-खण्डन, अनमेल विवाह, शुद्धि एवं विधर्मियों के प्रबल प्रत्युत्तर—आदि समस्याओं को समाज के सामने खोलकर रखा। 'आर्य-समाज' ने न केवल सनातन धर्म के खोखलेपन का भण्डाफोड़ किया, वरन् उसने विदेशियों-विधर्मियों के ईंटों का उत्तर भी पत्थर से निर्भीक होकर दिया। आर्य-समाज 'त्रैतवादी' है। इसने एक साथ ईसाइयों, एव सनातन-धर्मियों के साथ मग्राम चलाया। नव शिक्षित जनता ने 'ब्रह्म-ममाज' एव 'आर्य-समाज' के द्वारा एक ओर तो अपने अतीतवैभव का पुनर्मूल्याकन किया और दूसरी ओर समाज में उन कुरीतियों के विरुद्ध एक सशक्त स्वर का पथ भी प्रशस्त पाया, जिन्हें नवीन वैज्ञानिक तर्कों ने अस्वीकार कर दिया था। इस प्रकार जाति-गत ही सही, एक सामान्य अपनत्व का भाव फैला और हमने अपनी कुरीतियों एव स्थूल धर्माभासों की सीमाएँ तोड़कर, अन्ध-भावाग्रह के स्थान पर एक बुद्धि-ग्राह्य जीवन-दृष्टि की प्रतिष्ठापना की। सनातन-धर्म सँभला, आर्य-समाज की कट्टरता ने हिन्दुओं की नींद को तोड़ा, ब्रह्म-समाज ने एक उदार, एकता-मूलक व्यापक, मानव-सम्बन्ध एव आत्म-चेतना को उभारा।

रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द एव स्वामी रामतीर्थ जी ने 'अद्वैत-दर्शन' के आधार पर भारतीय सनातन-धर्म का उद्धार-परिष्कार किया। जाति-भेद एवं अछूत-समस्या के लिए एक द्वैत-रहित मानव-साम्य का समाधान सामने रखा गया। मूर्ति-पूजा के प्रतीकात्मक एवं साधनात्मक मूल्य का उद्घाटन करते हुए, लोगों की डिगती अस्था को बल दिया। इन साधकों-दार्शनिकों ने साधना एवं जीव-ब्रह्म की एकता पर अधिक बल दिया और ससार की असारता की सिद्धि पर कम। वस्तुतः ये महात्मा एव इनके अनुगामी, इस ससार से पलायन एव जगत् के मिथ्यात्व को सिद्ध कर लोगों को लोक-विमुख एव अकर्मण्य बनाने वाली प्रवृत्तियों के विरोध में उठे थे, अतः लोक-नैराश्य-मूलक भावों पर बल न देकर, मानव-मानव एव व्यक्ति-व्यक्ति के बीच के भेद को दूर कर, अभेदता की स्थापना करनेवाले पक्ष पर ही उनका अवधारण रहा। ईसाइयों के बन्धुत्व-भाव एव इस्लाम के ऐक्य संगठन से आगे बढ़कर इन साधक आत्माओं ने भारतीय समाज के लिए एक ऐसा भारतीय आदर्श उपस्थित

किया, जो विदेशी भी नहीं था और जिसने तत्कालीन सामाजिक सांस्कृतिक नव-जागरण की नयी आवश्यकताओं के लिए नया क्षेत्र खोल दिया।

परमहंस जो नवीन शिक्षा से दूर एक सच्चे साधक थे। वे देवी के उपासक एवं कट्टर सनातन-धर्मी थे। उन्होंने स्वय कुछ भी न लिखा। उनके शिष्य मास्टर मोशाई (महेन्द्र कुमार) ने उनके मत पर कई पुस्तकें लिखीं। 'पालब्रंटन' ने भी अपनी पुस्तक ('गुप्त भारत की खोज'—हिन्दी संस्करण) मे मास्टर मोशाई का उल्लेख किया है। उनके विचारों पर बँगला में 'श्री राम-कथामृत' ५ भागों में प्रकाशित हुआ। अंग्रेजी मे 'दि गोस्पेल आव श्रीरामकृष्ण' नाम से और हिन्दी में श्री 'निराला' जी द्वारा, उसका अनुवाद भी प्रकाशित है। हिन्दी में 'श्री रामकृष्ण वचनामृत' नामक संक्षिप्त पुस्तक भी उनके विचार-सार को प्रकाशित करने मे एक समर्थ साधन है। अद्वैतवादी होते हुए भी उन्होंने मूर्ति-पूजा में अपना विश्वास प्रकट किया। मूर्ति-पूजा का स्थूल अर्थ लगाने वालों के समक्ष उन्होंने उसके साधनात्मक मूल्य को स्पष्ट किया। उनमें भक्ति-भाव की प्रधानता थी। मूर्ति और भक्ति के साधन एवं साध्य को स्पष्ट करते हुए, इन्होंने भारतीय शिक्षित समाज को बाह्य प्रचारों के खोखलेपन से सावधान किया। इतना होते हुए भी परमहस जी ने दार्शनिक भूमि पर कोई समन्वय नहीं किया, उनका समन्वय व्यावहारिक ही कहा जायगा। पाश्चात्यों की कटु आलोचनाओं से सन्त्रस्त भारतीय समाहित हुए।

स्वामी विवेकानन्द जी ने भी सनातन-धर्म का खण्डन नहीं किया। वे 'ब्रह्म-समाज' के भी विरोधी न थे। अपने गुरु से आगे बढकर स्वामी जी ने दार्शनिक भूमि पर भी भक्ति, ज्ञान और योग का समन्वय किया और तीनों को एकलक्ष्य-गत तीन मार्ग कहे। परमहंस जी का मूल जहाँ अनुभव था वहाँ स्वामी विवेकानंद जी का आधार उनका विस्तृत दार्शनिक अध्ययन था। उन्होंने पाश्चात्य दर्शनों का भी गम्भीर पारायण किया था। इस विस्तृत एव गम्भीर अध्ययन के फल-स्वरूप उन्होंने 'राज-योग', 'ज्ञान-योग', 'कर्म-योग' और 'भक्ति-योग' की पुस्तकें लिखीं और अपनी विराट् दार्शनिक प्रतिभा ने पूर्व ही नहीं, पश्चिम को भी चकित कर दिया। 'दि ईस्ट एण्ड दि वेस्ट' उनके पूर्व-पश्चिम के अध्ययन की गहराई का प्रमाण है। उन्होंने उस समय बढते हुए नास्तिक्य एवं अनास्था को रोक कर एक नवीन दार्शनिक परितोष एव प्रशान्ति का तेज प्रदान किया। आस्तिकता के मधुर आलोक से पूर्व का हृदय जगमगा उठा। अपने गुरु की भाँति वे उतने बडे साधक नहीं थे। वे मूलतः दार्शनिक थे। अमेरिका और यूरोप ने भी भारतीय अद्वैत-दर्शन का, उनके विचारों-

'कण' के प्रति कवि की उक्ति भी अद्वैत-मुखी ही है—

> "तुम हो अखिल विश्व में
> या यह अखिल विश्व तुम में,
> अथवा अखिल विश्व तुम एक
> यद्यपि देख रहा हूँ तुममें भेद अनेक ?
>
> × × ×
>
> पाया हाय न अब तक इसका भेद।
> सुलझी नहीं ग्रन्थि मेरी, कुछ मिटा न खेद।"

कवि 'निराला' ने प्रजातान्त्रिक व्यक्ति-जागरण और राष्ट्रीयता को उठाने के लिए अद्वैतवाद का सहारा लिया, इसे 'निराला' द्वारा पाश्चात्य प्रजातान्त्रिक व्यक्ति-वाद को भारतीय अद्वैतवादी भूमि देना भी कहा जा सकता है। भारतीय अद्वैत-वाद से बढ़कर व्यक्ति की (जीवात्मा के) महत्ता का प्रतिपादक कदाचित् ही कोई दूसरा दर्शन हो। 'निराला' जी पर अद्वैतवाद के मायावादी, निराशावादी अथवा दुःखवादी पक्ष का लोक-औदास्य हावी नहीं है, वे परम हंस जी एवं विवेकानन्द महाराज की अद्वैतवादी नवीन व्याख्याओं से प्रभावित थे। 'अनामिका' के द्वि० सं० में 'गाता हूँ गीत तुम्हें सुनाने को' और 'नाचे उस पर श्यामा' कविताएँ स्वामी जी के गीतों के अनुवाद हैं।

स्वामी विवेकानन्द जी ने आज के युग की व्यापक भौतिकतावादी शंकालुता एवं बौद्धिकता के समक्ष, अद्वैत-दर्शन का पुनर्मूल्यांकन किया। संसार की क्षणिकता प्रतिपादित करने के कारण, उसे पलायन-शील कहनेवाले आक्षेपों का निराकरण करते हुए स्वामी विवेकानन्द जी ने आत्मा और ब्रह्म तथा ब्रह्म और संसार की एकता-अभेदता पर बल दिया। अपनी 'दि साइन्स एण्ड फिलासफी आव रेलिजन' नामक पुस्तक में विज्ञान की आधुनिकतम स्थापनाओं के ही आधार पर उन्होंने पदार्थ और गति दोनों का शक्ति में परिणमन तथा अणु और लहरों को शक्ति के ही दो रूप सिद्ध किये। उन्होंने कहा कि गम्भीरता में उतरने पर हर वस्तु सूक्ष्मतर होती जाती है और जो वस्तु जितनी सूक्ष्म हो, उसका निरूपण परीक्षण उसी सूक्ष्म स्तर पर होना चाहिए। इन्द्रिय-जगत् तक सीमित रहने से मानव और पशु का भेद मिट जायगा, अतएव उन्होंने इन्द्रिय, बुद्धि और आत्मा के क्रमशः उच्चतर सोपानों का निरूपण किया। अद्वैत-दर्शन पर लगाये गये अकर्मण्यता-प्रेरण के आक्षेप के उत्तर में उन्होंने कहा कि उच्चतम आदर्श और उच्चतम दार्शनिक

सत्य से विरोध नहीं है, वरन् उच्च आदर्श उच्च सत्य पर प्रतिष्ठित होकर ही उच्चता पाते हैं। अपने 'प्रैक्टिकल वेदान्त' में उन्होंने यह स्पष्ट किया और बल देकर कहा कि उच्च दार्शनिक सत्यों पर विश्वास करने से आदर्श और आचरण घटता नहीं और न उच्च सत्य को झुका कर हम वास्तविक कल्याण की प्राप्ति कर सकते हैं, कल्याण उन पर विश्वास करके ही हो सकता है। ज्ञान और मानव-कल्याण में स्वामी जी के मत से कोई विरोध नहीं। इस प्रकार उन्होंने वेदान्त पर लगाये गये अकर्मण्यता-प्रेरण और सदाचार-विघटन के आरोपों का अत्यन्त तर्क-सम्मत उत्तर प्रस्तुत किया। उन्होंने अकर्मण्यता और आलस्य का भी भेद किया। वेदान्त भी कर्मण्यता शान्ति से चिर-समन्वित है, क्योंकि यही सफलता का दृढ़ा-धार है। स्वामी जी ने वेदान्त का सन्देश उत्तरदायित्वहीन उच्छृङ्खलता नहीं, आत्म-शक्ति में दृढ़ विश्वास घोषित किया। अपने 'प्रैक्टिकल वेदान्त' के पृष्ठ १९ पर उन्होंने स्पष्टतः कहा कि अपने आप में विश्वास न करने वाला नास्तिक है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक स्थापनाओं के प्रकाश में यह युग व्यक्तित्व को बड़ा महत्त्व देता है और वेदान्तानुसार ब्रह्म में आत्मा के लीन होने की बात उठाकर वह अद्वैतवाद में व्यक्तित्व के विनाश की सिद्धि कर, उसे गर्हित सिद्ध करता है। स्वामी जी ने व्यक्तित्व के नाश और उसके वास्तविक दर्शन का अन्तर भी सबल तर्कों से सिद्ध किया। उन्होंने डार्विन के विकास-वाद के मूल में निहित जड-तत्त्व के स्थान पर आत्मा के ही विकास की बात पुष्ट की। इस प्रकार छायावादी काव्य में आये अद्वैतवादी स्वर को अकर्मण्यतावादी या अ-लोकमुखी या लोक-विरोधी नहीं कहा जा सकता। इस दर्शन के अनुयायी 'निराला' के व्यक्तित्व की संघर्ष-शीलता और सामा-जिक चेतना की जागरूकता ही इसका पुष्ट प्रमाण हो सकती है। 'परिमल' का जागरण-प्रगीत 'जागो फिर एकबार' इसका स्पष्ट उदाहरण है, जिसमें आत्म-बोध की व्यापक सीमा में राष्ट्रीय मुक्ति और सांस्कृतिक जागरण भी घिर आया है। 'निराला' जी की तटस्थता आसक्तियों के सामने झुकने से अस्वीकार की तटस्थता है, कर्त्तव्यों से बचने का वैराग्य नहीं। कवि तो 'दो टूक कलेजा' कर देनेवाले के भग्न उत्साह को अपने 'रक्त से सींच कर अभिमन्यु' का-सी कृत कर्तव्यता चाहता है। 'निराला' जी ने नैतिकता को बाह्य और अनावश्यक नहीं, वरन् नैतिकता के उच्च सत्याधार की आवश्यकता की प्रतिष्ठा की, एक उच्चतर नैतिकता की आवश्यकता स्वीकृत की है। इस प्रकार, नैतिकता की पुष्टि, सन्यास ही नहीं, गृहस्थ जीवन में भी मुक्ति-प्राप्ति की सम्भावना और

ससार के मिथ्यात्व की अपेक्षा ब्रह्म और संसार की एकता की अनुभूति—आदि दृष्टि-कोण स्वामी विवेकानन्द को आज के युग के लिए अधिक ग्राह्य और अनुकूल बना देते हैं। 'निराला' जी ने स्वामी विवेकानद के 'नाचुकताहाते श्यामा' कविता का सुन्दर अनुवाद किया है जो विराट् शक्ति के रूढि-भंजन का सकेत करती है।

इस प्रकार इस 'अद्वैत-वाद' की भूमिका पर व्यक्ति-स्वातंत्र्य, दासता-विरोध, आत्मोन्नयन, रूढि भजन एव नव्य विकास-भूमियों को स्वीकृति मिली। अतीत-गौरव और पुनरुत्थान की चेतना जगी, असत्-मूलक अवरोधों के विरुद्ध उद्दक्षता की दृढता को समर्थन मिला और नव-निर्माण के भावों को बल मिला।

अरविन्द-दर्शन—छायावादी कवि 'पन्त' अरविन्द जी के दर्शन से बहुत प्रभावित हैं। महर्षि अरविन्द के 'नव्य चेतन-वाद', 'महा-मानव वाद' आदि दर्शन-कोणों ने 'पन्त' जी को बहुत आकृष्ट किया है। महर्षि अरविन्द ने पूर्ण ईश्वरत्व, अनन्त ज्ञान, असीम प्रसार, अपरिमित आनन्द और पूर्ण उन्मुक्ति को मानव की विकास-दिशा का चरम लक्ष्य और मानव की इच्छा की मुख्य दिशा निश्चित की है। उनके अनुसार आदि से ही मानवीय विकास यही चाहता रहा है और उसी ओर बढ रहा है। उनके अनुसार भविष्य में भी मानव यही इच्छा करता रहेगा।

श्री अरविन्द की एक महादेन है पदार्थ (भौतिक क्षेत्र) और चेतना (आध्यात्मिक क्षेत्र) के स्वभावज विरोध का उत्पाटन कर दोनों में अविरोध की स्थापना। शकराचार्यादि दार्शनिकों ने इह-लोक की उपेक्षा की, जब कि आज का विज्ञान आत्मा का निषेधकर भूत-योग तक ही सीमित है। इससे, इस वैषम्य की भावना के फल-स्वरूप जीवन के सहज विकास में बडी ग्रथियाँ आयीं और सामाजिक जीवन को भी इस एकागिता ने काफी झकझोग है। इस प्रकार पदार्थ और चेतना के सामरस्य का निरूपण कर आज के खडित, एकागी एवं अतिरेक-विभाजित ससार की समष्टिगत चेतना को महर्षि ने एक अत्यन्त सन्तुलित-व्यावहारिक दृष्टि एव समन्वयशील अध्यात्म की शान्ति-मयी भूमिका प्रदान की है। ससार की वैचारिक एकागिताओं से पीडित एवं विक्षुब्ध विचारकों के समक्ष यह दर्शन एक शीतलता एवं शान्ति का सदेश लेकर अव-तरित हुआ। भारत ही नहीं अमेरिका और यूराप के विचारकों को भी इस दर्शन ने आकृष्ट किया और उन्होंने इसकी ओर विश्व-समस्याओं के समा-धानकारी विचार-दर्शन के आदर से देखा। उपनिषदों में भी पदार्थ का ब्रह्म में घेर दिया गया है। हम आज की भौतिक उपलब्धियों को प्रत्यक्ष देखकर

भौतिक विज्ञान को भी झूठा नहीं कह सकते और न साधना से प्राप्त प्राचीन आध्यात्मिक सत्यों को ही मिथ्या घोषित कर अनुपयोगी कह सकेंगे । महर्षि ने भौतिकता और आध्यात्मिकता के बीच के सम्बन्ध और उनकी सामरस्य-समस्या के सुलझाव के लिए ईश्वर अथवा ब्रह्म के रूप में एक सर्व व्यापी सत्ता को स्वीकार किया । यही सत्ता दोनों को गौरव एवं सार्थकता प्रदान करती है । उन्होंने पदार्थ चेतना एवं उस सत्ता के बीच एक सूत्रता से लिए एक विकासवादी दर्शन की उद्भावना की है । उन्होंने उपनिषदों के ब्रह्मवाद का पाश्चात्य विकास-वाद से समन्वय किया है; इस प्रकार जड-मूलक विकासवाद भारतीय 'ब्रह्मवाद' से मिलकर पूर्ण हो गया । महर्षि ने पूर्व और पश्चिम की इस समन्वय-गति का स्वयं भी संकेत किया है । अपने 'भागवत जीवन' ('लाइफ़ डिवाइन') में उन्होंने सत्य के गत्यात्मक और स्थिर, दोनों ही रूपों को सत्य माना है । उन्होंने उक्त पुस्तक के प्रथम भाग में ब्रह्म (स्थिर सत्य) और चेतन-शक्ति के विकसित सत्य को महत्त्व देते हुए उनके पारस्परिक सम्बन्धों के समझने और साक्षात्कार करने पर बल दिया है । इस प्रकार विशुद्ध सत्ता (ब्रह्म) के साथ-साथ विश्व-सत्ता को भी महत्त्व दिया गया है; भले ही 'शुद्ध चैतन्य' सर्व-निरपेक्ष और अगोचर हो और सत्य के स्थिर और गति-शील पक्ष हमारी बुद्धि के ही आरोप हों, पर उन्हें मानना तो पड़ेगा ही । महर्षि जी ने भी स्थिर सत्य और चेतना (शक्ति) के बीच अभेदता मानी है । उनके अनुसार ब्रह्म सनातन रूप से चेतन शक्ति की क्रीडा करता आ रहा है, यह उसका स्वभाव-सा है । ब्रह्म अपने को सृष्टि में अभिव्यक्त करता है ।

अरविन्द जी ने एक विकास-क्रम स्वीकार किया है, पर वे विकास करने वाली शक्ति को जड न मानकर चेतन मानते हैं, क्योंकि सृष्टि के भीतर एक सोद्देश्यता एवं उपयोगिता है । वे ब्रह्म और चेतन-शक्ति की अभेदता मानते हैं । उनके विकास के दो पक्ष हैं एक तो 'इनवोल्यूशन' दूसरा 'इवोल्यूशन' (अधोविकास और ऊर्ध्व-विकास); प्रथम में 'ब्रह्म' से 'अतिमन', अतिमन से 'मन' और फिर क्रमशः प्राण और पदार्थ आते हैं और दूसरे में पदार्थ-गत चेतना क्रमशः प्राण, मन और अतिमन को जन्म देती हुई ब्रह्म में लीन हो जाती है । ब्रह्म की सर्जनात्मक शक्ति माया है जो 'मन' तक निम्न और 'अतिमन' से उच्च-पदीय कही गयी है । उच्च माया भेद-नाशक है । महर्षि ने अत्यन्त बलशाली रूप में यह घोषित किया है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतएव पदार्थ से चेतना उत्पन्न नहीं होती, वरन् वह उसी में निहित होती है । यहाँ वे भौतिकवादियों से पूर्णतः अलग हैं ।

महर्षि की दूसरी महत्त्व-पूर्ण स्थापना है कि उत्तरोत्तर विकास करने पर और उच्चतर सोपानों पर अधिष्ठित होकर, निम्नतर सोपानों का त्याग अनुचित है; अतएव ससार को हमें मिथ्या भी न कहना चाहिए। हमें निम्न मूल्यों का भी उपयोग कर उन्नति करनी चाहिए।

मानव को वे ससार में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, क्योंकि वही बुद्धिशाली है और अन्य प्राणि-वर्ग की अपेक्षा उसी में 'अतिमन' या 'उच्चतर मन' ('सुपर माइड') का उदय होता है। तभी वह अपनी व्यष्टिगत सत्ता का विस्तार कर अभेदता की अनुभूति करता है। उनका कहना है कि सम्पूर्ण मानव-समुदाय ही 'उच्चतर मन' की ओर बढ रहा है। फिर वहाँ से मानव ब्रह्मत्व की ओर बढेगा। उक्त पुस्तक के पृ० ५६ पर महर्षि ने कहा है "जीवन में ईश्वरत्व की अवतारणा ही मनुष्य का मनुष्यत्व है" (टु फुलफिल् गॉड इन लाइफ इज मैन्स मैनहुड)। मानव-गरिमा, जीवन की सत्यता एव ससार के अपरित्याग का यह सन्देश अद्वैतता की नूतन व्याख्या और आज के लोकाभिमुखी विश्व क समक्ष उसके अस्तित्व की सोद्देश्यता एक नवीन विचार-क्रान्ति के रूप में ही ग्रहण की जायगी।

कविवर 'पन्त' ने 'अन्तश्चेतनावाद' 'नव्य-चेतना' एवं 'नव मानव' की इसी सुनहली शिखा से 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' का काव्यागण आलोकित किया है। जड-चेतन के निरन्तर चलते चक्र के बीच उन्होंने मानवता के विकास-रथ का अग्रगमन घोषित किया है—

"जड़ चेतन के चक्र निरन्तर
घूम रहे चिर प्रलय सृजनकर,
जय-ध्वनि हा-हा-रव में बढता
युग-पथ पर मानवता का रथ।"
—['उत्तरा']

'पन्त' जी ने 'उत्तरा' की भूमिका में अपने विचार विस्तृत रूप से व्यक्त किये हैं। यही आगरा-विश्व-विद्यालय की बी० ए० कक्षाओं के हिन्दी-गद्य-सकलन में 'रचनाओं की पृष्ठभूमि' के शीर्षक से भी सकलित हुआ है। इसमें उन्होंने एकान्त भौतिकवाद और एकागी अध्यात्म वाद दोनों का ही खण्डन किया है। उन्होंने मार्क्सवाद की वर्ग-चेतना के आशिक मूल्य को मानकर भी वास्तविक प्रगति को उमसे कहीं अधिक विस्तृत तथा ऊर्ध्व माना है (पृ० ३-४)। वे जनतत्र वाद की आध्यात्मिक परिणति को ही 'अन्तश्चेतना-वाद' अथवा 'नव-मानव-वाद' कहते हैं। जो विकास सामाजिक संघर्ष के सामान्य धरातल पर

प्रजातंत्र-वाद है, वही ऊर्ध्व सांस्कृतिक धरातल पर 'अन्तश्चेतना' या 'अन्तर्जीवन' है। महर्षि अरविन्द के ही अनुसार, उन्होंने इस युग के जड तथा चेतन के संघर्ष में 'अन्तश्चेतना' या 'भावी मनुष्यत्व' के पदार्थ मे सामंजस्य ग्रहण करने का भावी सकेत किया है (पृ० ४, 'उत्तरा' की भूमिका)। नये समाज और नवीन संस्कृति की उद्भावनाएँ 'पन्त' जी के विचार-तारों को 'ज्योत्स्ना' काल से ही झकृत करती आ रही हैं।

उन्होंने इस भूमिका में स्पष्टतः मध्य-युगीन अध्यात्म-वादियों के संसार-माया-वाद के साथ ही आधुनिक-युगीन भूतवाद के चेतना को जड का अति विधान माननेवाले अतिरेक का भी विरोध करते हुए, सामंजस्य के पथ को सत्य का पथ माना है। इसी भूमिका पर उन्होंने पृथ्वी और उसके जीवन आदि के विराट् रूपक बाँधे हैं और शृंगारात्मक उक्तियाँ भी कही हैं। निम्नस्थ चित्र कितना विशाल है—

"अर्ध विवृत जघनों पर तरुण सत्य के शिर धर,
लेटी थी वह दामिनी सी रुचि गौर कलेवर,
गगन भंग से लहराये मृदु कच अंगों पर,
वक्षजों के खुले घटों पर ललित सत्य कर।"

उपर्युक्त शृंगारिक चित्र अतिरंजित भी लग सकता है, पर वह दर्शन के शुष्क सत्य को सरस करने का काव्यात्मक प्रयास ही है, अतः यशदेव जी का भ्रू-भग भी किंचित् अतिरंजित ही हो गया है, (पृ० २९४, 'पन्त का काव्य और युग')। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य में आलोचना की यह 'उखाड़' शैली प्रगतिवादी अतिवादिता का अजीर्ण ही है। 'मैं सुधांशु बन भरता दिव-स्वप्नों से जन-मन' जैसी पंक्ति मे चाँद की स्वप्न भरने वाली सुखद कल्पना और उसके भावना-सौन्दर्य को भी जब आलोचक नकारने बैठ जायगा, तो फिर यही कहना होगा कि बस, चाँद को देखकर एक उजली रोटी की ही कल्पना कदाचित् अधिक न्याय्य है।

ऊर्ध्व-सचारी मानव की शक्ति का संकेत निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

"ऊर्ध्व संचरण में रे व्यक्ति, निखिल समाज का नायक,
समदिग् गति मे सामाजिकता जन-गण-भाग्य विधायक,
ऊर्ध्व चेतना को चलना भू पर धर जीवन के पग,
समदिक् भव को पंख खोल चिद् नभ में उड़ना व्यापक।"
—['स्वर्ण-किरण']

छाया और प्रकाश (अज्ञान और ज्ञान) के अस्तित्व को स्वीकारता हुआ कवि उस पर मुग्ध है—

"यह छायाभा है अविच्छिन्न,
यह आँख-मिचौनी चिर-सुन्दर,
सुख दु:ख के इन्द्र-धनुष रंगों की
स्वप्न सृष्टि अज्ञेय अमर !"–['स्वर्ण किरण']

'उत्तरा' में कवि समस्त विक्षोभ एवं उथल-पुथल के पीछे एक विश्व-क्रान्ति का दर्शन करता है—

"आन्दोलित मानवता के अभिभावक,
विश्व क्रान्ति यह आपद् काल भयानक !"

× × ×

"ज्ञात मर्त्य की मुझे विवशता,
जन्म ले रही नव-मानवता,
स्वप्न-द्वार फिर खोल उषा ने
स्वर्ण-विभा बरसाई ?

'दिव्य वपुष' का उदय भी कवि की अनुभूति से परे नहीं—

"नयन में दृष्टि किरण,
श्रवण में शब्द गगन,
हृदय के स्तर-स्तर मे,
उदित वह दिव्य वपुष।
तमस में गिर न रँगा,
नींद से पुन जगा,
मरण से आवरण से
प्रकट वह चिर अकलुष !"
—['स्वर्ण-धूलि']

'स्वर्ण-धूलि' के 'पैगम्बर' और 'शिष्य' की वार्ता में कवि ने अधिकार के साथ कर्तव्य का अटूट सम्बन्ध सकेतित किया है। छायावादी काव्य कभी भी 'मायावाद' या 'शून्य-वाद' को मानकर नहीं चला है। 'पन्त' जी का यह 'चेतन-वाद' भी संसार का त्याग नहीं करता। 'स्वर्ण-धूलि' और 'उत्तरा' कवि की इस नवीन चेतना-वादी आस्था के गीत हैं। 'स्वर्ण-किरण' में यह नयी दृष्टि व्याख्यात हुई है। 'स्वर्ण-धूलि' में कवि ने इस नव्य-चेतना-वाद को समाज पर उतारना चाहा है। 'उत्तरा' में इस विकास के भावी रूप की झाँकी कराई गयी

है। यहाँ कवि इतना तन्मय हो जाता है कि वह वर्तमान की समस्याओं की कटुता को भूल जाता है। तभी तो वह वर्तमान सत्यों को छोड़कर भावी सपनों का प्रेमी बन जाता है—

"मैं स्वप्नों का प्रेमी, मुझको
करता न सत्य जग का मोहित,
मैं बहूँ ज्वार-सा डुबा पुलिन
कूलों में बन्दी बहे सरित।
मैं फूलों के कुल में जन्मा,
फल का हो मूल्य जगत् के हित,
उर-शोभा का दे अमर दान
मैं झर चरणों पर हूँ अर्पित।
—['उत्तरा']

'स्वर्ण-धूलि' में आयी 'पतिता', 'परकीया' और 'श्रमजीवी'—जैसी कविताएँ अपनी नवीन सामाजिकता के लिए उदाहरणीय है। कवि ने वहाँ रूढ़ियों का विरोध कर नवीन प्राण-प्रतिष्ठा का आह्वान किया है। यह पुस्तक कवि के चिन्तन की सजगता भी व्यक्त करती है। 'पतिता' का नवीन चेतना से सम्पन्न पात्र, केशव मालती के प्रति जो कुछ कहता है, वह समाज के कोने-कोने में सिसकते यथार्थ की नव-व्यवस्था का मुखरण ही कहा जायगा। विस्थापितों एवं शरणार्थियों की समस्या पर नई दृष्टि है—

"उठो मालती लील जायगा
तुमको घर का कोना-कोना!
मन से होते मनुज कलंकित
रज की देह सदा से कलुषित!
प्रेम पतित-पावन है, तुमको
रहने दूँगा मैं न कलंकित!"

'परकीया' में वेश्या-समस्या पर नवीन विचार है। विनय करुणा की करुण कहानी सुनकर उसे पवित्र ही घोषित करता है। वासना, विवाह और सर्जन पर कवि ने नवीन चेतना का आलोक छिड़का है—

"पंकिल जीवन में पंकज-सी
शोभित आप देह से ऊपर,
वही सत्य जो आप हृदय से,
शेष शून्य जग का आडम्बर,

अतः 'स्वकीया या परकीया
जन समाज की है परिभाषा,
काम-मुक्त औ प्रीति-युक्त
होगी मनुष्यता, मुझको आशा।"

'पन्त' जी ने साम्प्रदायिकता और जाति-भेद को भी अनभीष्ट सिद्ध किया है। वे मानवता को ही मानव का वास्तविक परिचय मानते हैं। 'लोक-सत्य' कविता में भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का सामञ्जस्य दिखाया गया है। दोनों पात्र अन्त में एक दूसरे के पक्ष के महत्त्व को भी सकारने लगते हैं। 'सामञ्जस्य' कविता में आत्म-सत्यता मुस्करा कर कहती है—

"पंख खोल सपने उड़ जाते
सत्य न बढ पाता गिन-गिन पग
सामञ्जस्य न यदि दोनों में
रखती मैं, क्या चल सकता जग?"
—['स्वर्ण धूलि']

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द और अरविन्द के दर्शनों की स्वीकृति छायावाद काव्य-धारा के लोक-स्वीकारी एवं लोकाभिरुच पक्ष का ही संकेतक है। 'वीणा' के अध्यात्म वाद से लेकर गाधीवाद मार्क्सवाद और नव-चेतन-वाद तक 'पन्त' जी के काव्य की सांस्कृतिक दृष्टि स्पष्ट है। कल्पना की विशिष्टता से यशदेव जी भले ही उसे 'यूटोपिया' कहें।

भौतिकवाद और मार्क्सवादी दृष्टि—देश की बिगड़ती हुई आर्थिक दशा और राजनीतिक दासता की निरन्तर तीव्रतर होती अनुभूति ने देश की अध्यात्म-चेतना को एकबार झकझोर कर आस-पास देखने को विवश कर दिया था। सामाजिक कुरीतियों के साथ-साथ विदेशियों के आर्थिक दोहन ने जहाँ एक ओर राष्ट्रीयता के आन्दोलन को बल दिया, वहीं दूसरी ओर मार्क्स के आर्थिक विवेचन, उनकी इतिहास की आर्थिक व्याख्या और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन के प्रसार के लिए भी उपयुक्त भूमि मिल गयी। 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात' की बात, अपने 'यथार्थवाद और छायावाद' लेख में उठाकर 'प्रसाद' जी ने भी इसी दिशा को इंगित किया है। अतीत के प्रति गौरव-भावना, बीते इतिहास के प्रति गर्वानुभूति एवं अपनी जाति-गत श्रेष्ठता सिद्ध करके भी जो कुछ मानसिक शान्ति मिल सकती थी, उसे भी दिनोंदिन प्रबल होते आर्थिक संकट के झोंकों ने उड़ाना प्रारंभ कर दिया। अपने समाज में ही चारों ओर आर्थिक वैषम्य दिखाई पड़ने लगा। सभी वर्गों पर आयी आपदाएँ, परस्पर की प्रतियोगिताएँ

एवं सामन्ती-पूँजीवादी हथकंडों के कड़ुवे घूँट वर्ग-चेतना, श्रेणी-संघर्ष एवं विद्वेष को धार देने लगे। ग्रामों से हटकर आर्थिक व्यवस्था का केन्द्र नगरों में आ गया और अब खेतिहरों की सामन्ती-व्यवस्था-गत अड़चनों ने उनकी आँखों के सुनहले सपने तोड़ने शुरू कर दिये। ग्राम-वासी जीविकार्थ नगरों की ओर आने लगे। श्रम, श्रमिक, पूँजी, वितरण, उत्पादन और माँग की समस्याओं ने अपना ताना-बाना फैलाना शुरू कर दिया। अर्ध-जाग्रत् जनता में गांधीवादी विचार अवश्य नया प्रकाश फैला रहे थे, पर 'हृदय-परिवर्तन' की नीति की सफलता मिलों की समस्याओं तथा श्रमिक-धनी के पारस्परिक अविश्वासों के धुवें में धुँधली पड़ने लगी। 'गुंजन' में उन्मन गुंजन करने वाले 'पन्त' के कवि ने 'युगान्त' में उसकी समाप्ति कर दी और 'युगवाणी' में गांधीवादी आदर्शों के विस्तार के साथ साम्यवादी सम्मिश्रण की आवश्यकता अनुभव की। 'युगान्त' से 'ग्राम्या' तक 'पन्त' जी के प्रगतिशील विचार परिपक्व हो जाते हैं।

जार के शासन को उखाड़ फेंककर, अक्तूबर की महा क्रान्ति ने मानवता के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ दिया। इस समाजवादी क्रान्ति ने रूस का काया-कल्प कर दिया। प्रारम्भ में प्रतिक्रियावादी जार-समर्थकों को कारा-मुक्त कर दिया गया, पर बाद में उनसे संघर्ष हुआ और अन्त में रक्तरंजित दमन के पश्चात् समाजवादी अधिनायकवाद स्थापित हुआ। तब से उसकी आर्थिक व्यवस्था और इतिहास की आर्थिक एवं द्वन्द्वात्मक व्याख्या दीन हीन जन-समाज के बीच और मिलों-मजदूरों में बहुधा चर्चित रही है। धीरे-धीरे भारतीय पूँजी का विकास भी विदेशी पूँजी की छाया में होने लगा। दो महा-युद्धों ने समाप्ति के बाद भी लम्बी अवधि तक जन-साधारण को इतनी अभाव-पीड़ा दी कि जनता पूँजीवाद के विरुद्ध सचेत होने लगी। सन् १९३५ ई० में भारत में भी 'प्रगतिशील-लेखक-संघ' की स्थापना हुई और श्रीशिवदान सिंह के प्रयास से उसका प्रथम अधिवेशन लखनऊ में श्री मुंशी प्रेमचन्द जी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। इन लेखकों में सर्वश्री रामविलास शर्मा, प्रकाश-चन्द्र गुप्त जैसे आलोचक भी आये। काव्य में चमत्कार एवं कल्पनाशीलता का विरोध करते हुए, इन आलोचकों ने 'पन्त' जी पर बड़े आक्षेप किये थे। 'पन्त' जी प्रारम्भ से अपेक्षाकृत चिन्तनशील एवं वस्तु-परक भी रहे। इनमें सामाजिक चेतना के साथ-साथ दार्शनिक रुचि भी उनमें बराबर विकास पाती रही। 'गुंजन' का चिन्तन धीरे-धीरे गांधी-वाद और मार्क्स-वाद की ओर विकसित होने लगा। 'गुंजन' में इन्होंने घोषित किया था—

अतः स्वकीया या परकीया
जन समाज की है परिभाषा,
काम-मुक्त औ प्रीति-युक्त
होगी मनुष्यता, मुझको आशा!"

'पन्त' जी ने साम्प्रदायिकता और जाति-भेद को भी अनभीष्ट सिद्ध किया है। वे मानवता को ही मानव का वास्तविक परिचय मानते हैं। 'लोक-सत्य' कविता में भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का सामञ्जस्य दिखाया गया है। दोनों पात्र अन्त में एक दूसरे के पक्ष के महत्त्व को भी सकारने लगते हैं। 'सामञ्जस्य' कविता में आत्म-सत्यता मुस्करा कर कहती है—

"पंख खोल सपने उड़ जाते
सत्य न बढ पाता गिन-गिन पग
सामञ्जस्य न यदि दोनों मे
रखती मैं, क्या चल सकता जग?"
—['स्वर्ण धूलि']

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द और अरविन्द के दर्शनों की स्वीकृति छायावाद काव्य-धारा के लोक-स्वीकारी एवं लोकाभिरुच पक्ष का ही संकेतक है। 'वीणा' के अध्यात्म वाद से लेकर गाधीवाद, मार्क्सवाद और नव-चेतन-वाद तक 'पन्त' जी के काव्य की सास्कृतिक दृष्टि स्पष्ट है। कल्पना की विशिष्टता से यशदेव जी भले ही उसे 'यूटोपिया' कहें।

भौतिकवाद और मार्क्सवादी दृष्टि—देश की बिगडती हुई आर्थिक दशा और राजनीतिक दासता की निरन्तर तीव्रतर होती अनुभूति ने देश की अध्यात्म-चेतना को एकबार झकझोर कर आस-पास देखने को विवश कर दिया था। सामाजिक कुरीतियों के साथ-साथ विदेशियों के आर्थिक दोहन ने जहाँ एक ओर राष्ट्रीयता के आन्दोलन को बल दिया, वहीं दूसरी ओर मार्क्स के आर्थिक विवेचन, उनकी इतिहास की आर्थिक व्याख्या और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन के प्रसार के लिए भी उपयुक्त भूमि मिल गयी। 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात' की बात, अपने 'यथार्थवाद और छायावाद' लेख में उठाकर 'प्रसाद' जी ने भी इसी दिशा को इंगित किया है। अतीत के प्रति गौरव-भावना, बीते इतिहास के प्रति गर्वानुभूति एवं अपनी जाति-गत श्रेष्ठता सिद्ध करके भी जो कुछ मानसिक शान्ति मिल सकती थी, उसे भी दिनोंदिन प्रबल होते आर्थिक संकट के झोंकों ने उडाना प्रारंभ कर दिया। अपने समाज में ही चारों ओर आर्थिक वैषम्य दिखाई पडने लगा। सभी वर्गों पर आयी आपदाएँ, परस्पर की प्रतियोगिताएँ

एवं सामन्ती-पूँजीवादी हथकडों के कडुवे घूँट वर्ग-चेतना, श्रेणी-संघर्ष एवं विद्वेष को धार देने लगे। ग्रामों से हटकर आर्थिक व्यवस्था का केन्द्र नगरों में आ गया और अब खेतिहरों की सामन्ती-व्यवस्था-गत अडचनों ने उनकी आँखों के सुनहले सपने तोडने शुरू कर दिये। ग्राम-वासी जीविकार्थ नगरों की ओर आने लगे। श्रम, श्रमिक, पूँजी, वितरण, उत्पादन और माँग की समस्याओं ने अपना ताना-बाना फैलाना शुरू कर दिया। अर्ध-जाग्रत् जनता में गाधीवादी विचार अवश्य नया प्रकाश फैला रहे थे, पर 'हृदय-परिवर्तन' की नीति की सफलता मिलों की समस्याओं तथा श्रमिक-धनी के पारस्परिक अविश्वासों के धुवें में धुँधली पडने लगी। 'गुंजन' में उन्मन गुंजन करने वाले 'पन्त' के कवि ने 'युगान्त' में उसकी समाप्ति कर दी और 'युगवाणी' में गाधीवादी आदर्शों के विस्तार के साथ साम्यवादी सम्मिश्रण की आवश्यकता अनुभव की। 'युगान्त' से 'ग्राम्या' तक 'पन्त' जी के प्रगतिशील विचार परिपक्व हो जाते हैं।

जार के शासन को उखाड फेंककर, अक्तूबर की महा क्रान्ति ने मानवता के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड दिया। इस समाजवादी क्रान्ति ने रूस का काया-कल्प कर दिया। प्रारम्भ में प्रतिक्रियावादी जार-समर्थकों को कारा-मुक्त कर दिया गया, पर बाद मे उनसे संघर्ष हुआ और अन्त में रक्ताक्त दमन के पश्चात् समाजवादी अधिनायकवाद स्थापित हुआ। तब से उसकी आर्थिक व्यवस्था और इतिहास की आर्थिक एवं द्वन्द्वात्मक व्याख्या दीन हीन जन-समाज के बीच और मिलों-मजदूरों में बहुधा चर्चित रही है। धीरे-धीरे भारतीय पूँजी का विकास भी विदेशी पूँजी की छाया में होने लगा। दो महा-युद्धों ने समाप्ति के बाद भी लम्बी अवधि तक जन-साधारण को इतनी अभाव-पीडा दी कि जनता पूँजीवाद के विरुद्ध सचेत होने लगी। सन् १९३५ ई० में भारत में भी 'प्रगतिशील-लेखक-संघ' की स्थापना हुई और श्री शिवदान सिंह के प्रयास से उसका प्रथम अधिवेशन लखनऊ मे श्री मुंशी प्रेमचन्द् जी की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ। इन लेखकों में सर्वश्री रामविलास शर्मा, प्रकाश-चन्द्र गुप्त जैसे आलोचक भी आये। काव्य मे चमत्कार एवं कल्पनाशीलता का विरोध करते हुए, इन आलोचकों ने 'पन्त' जी पर बडे आक्षेप किये थे। 'पन्त' जी प्रारम्भ से अपेक्षाकृत चिन्तनशील एवं वस्तु-परक भी रहे। इसने सामाजिक चेतना के साथ-साथ दार्शनिक वृत्ति भी उनमें बराबर विकास पाती रही। 'गुंजन' का चिन्तन धीरे-धीरे गाधी-वाद और मार्क्स-वाद की ओर विकसित होने लगा। 'गुंजन' में उन्होंने घोषित किया था—

अत. स्वकीया या परकीया
जन समाज की है परिभाषा,
काम-मुक्त औ प्रीति-युक्त
होगी मनुष्यता, मुझको आशा।"

'पन्त' जी ने साम्प्रदायिकता और जाति-भेद को भी अनभीष्ट सिद्ध किया है। वे मानवता को ही मानव का वास्तविक परिचय मानते हैं। 'लोक-सत्य' कविता में भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का सामञ्जस्य दिखाया गया है। दोनों पात्र अन्त में एक दूसरे के पक्ष के महत्त्व को भी सकारने लगते हैं। 'सामञ्जस्य' कविता में आत्म-सत्यता मुस्करा कर कहती है—

"पंख खोल सपने उड़ जाते
सत्य न बढ पाता गिन गिन पग
सामञ्जस्य न यदि दोनों में
रखती मैं, क्या चल सकता जग ?"
—['स्वर्ण धूलि']

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द और अरविन्द के दर्शनों की स्वीकृति छायावाद काव्य-धारा के लोक-स्वीकारी एवं लोकाभिरुच पक्ष का ही संकेतक है। 'वीणा' के अध्यात्म वाद से लेकर गाधीवाद, मार्क्सवाद और नव-चेतन-वाद तक 'पन्त' जी के काव्य की सास्कृतिक दृष्टि स्पष्ट है। कल्पना की विशिष्टता से यशदेव जी भले ही उसे 'यूटोपिया' कहें।

भौतिकवाद और मार्क्सवादी दृष्टि—देश की बिगडती हुई आर्थिक दशा और राजनीतिक दासता की निरन्तर तीव्रतर होती अनुभूति ने देश की अध्यात्म-चेतना को एकबार झकझोर कर आस-पास देखने को विवश कर दिया था। सामाजिक कुरीतियों के साथ-साथ विदेशियो के आर्थिक दोहन ने जहाँ एक ओर राष्ट्रीयता के आन्दोलन को बल दिया, वहीं दूसरी ओर मार्क्स के आर्थिक विवेचन, उनकी इतिहास की आर्थिक व्याख्या और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन के प्रसार के लिए भी उपयुक्त भूमि मिल गयी। 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात' की बात, अपने 'यथार्थवाद और छायावाद' लेख में उठाकर 'प्रसाद' जी ने भी इसी दिशा को इंगित किया है। अतीत के प्रति गौरव-भावना, बीते इतिहास के प्रति गर्वानुभूति एव अपनी जाति-गत श्रेष्ठता सिद्ध करके भी जो कुछ मानसिक शान्ति मिल सकती थी, उसे भी दिनोदिन प्रबल होते आर्थिक संकट के झोंकों ने उड़ाना प्रारंभ कर दिया। अपने समाज में ही चारों ओर आर्थिक वैषम्य दिखाई पडने लगा। सभी वर्गों पर आयी आपदाएँ, परस्पर की प्रतियोगिताएँ

एवं सामन्ती-पूँजीवादी हथकंडों के कड़वे घूँट वर्ग-चेतना, श्रेणी-संघर्ष एवं विद्वेष को धार देने लगे। ग्रामों से हटकर आर्थिक व्यवस्था का केन्द्र नगरों में आ गया और अन्न खेतिहरों की सामन्ती-व्यवस्था-गत अड़चनों ने उनकी आँखों के सुनहले सपने तोड़ने शुरू कर दिये। ग्राम-वासी जीविकार्थ नगरों को ओर आने लगे। श्रम, श्रमिक, पूँजी, वितरण, उत्पादन और माँग की समस्याओं ने अपना ताना-बाना फैलाना शुरू कर दिया। अर्ध-जाग्रत् जनता में गाधीवादी विचार अवश्य नया प्रकाश फैला रहे थे, पर 'हृदय-परिवर्तन' की नीति की सफलता मिलों की समस्याओं तथा श्रमिक-धनी के पारस्परिक अविश्वासों के धुएँ में धुँधली पड़ने लगी। 'गुंजन' में उन्मन गुंजन करने वाले 'पन्त' के कवि ने 'युगान्त' मे उसकी समाप्ति कर दी और 'युगवाणी' में गाधीवादी आदर्शों के विस्तार के साथ साम्यवादी सम्मिश्रण की आवश्यकता अनुभव की। 'युगान्त' से 'ग्राम्या' तक 'पन्त' जी के प्रगतिशील विचार परिपक्व हो जाते हैं।

जार के शासन को उखाड़ फेंककर, अक्तूबर की महा क्रान्ति ने मानवता के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ दिया। इस समाजवादी क्रान्ति ने रूस का काया-कल्प कर दिया। प्रारम्भ में प्रतिक्रियावादी जार-समर्थकों को कारा-मुक्त कर दिया गया, पर बाद मे उनसे संघर्ष हुआ और अन्त में रक्ताक्त दमन के पश्चात् समाजवादी अधिनायकवाद स्थापित हुआ। तब से उसकी आर्थिक व्यवस्था और इतिहास की आर्थिक एवं द्वन्द्वात्मक व्याख्या दीन हीन जन-समाज के बीच और मिलों-मजदूरों में बहुधा चर्चित रही है। धीरे-धीरे भारतीय पूँजी का विकास भी विदेशी पूँजी की छाया में होने लगा। दो महा-युद्धों ने समाप्ति के बाद भी लम्बी अवधि तक जन-साधारण को इतनी अभाव-पीड़ा दी कि जनता पूँजीवाद के विरुद्ध सचेत होने लगी। सन् १९३५ ई० में भारत में भी 'प्रगतिशील-लेखक-संघ' की स्थापना हुई और श्रीशिवदान सिंह के प्रयास से उसका प्रथम अधिवेशन लखनऊ मे श्री मुंशी प्रेमचन्द जी की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ। इन लेखकों में सर्वश्री रामविलास शर्मा, प्रकाश-चन्द्र गुप्त जैसे आलोचक भी आये। काव्य मे चमत्कार एवं रहस्यात्मकता का विरोध करते हुए, इन आलोचकों ने 'पन्त' जी पर बड़े आक्षेप किये थे। 'पन्त' जी प्रारम्भ मे अपेक्षाकृत चिन्तन शील एवं वस्तु-परक भी रहे। इसमे सामाजिक चेतना के साथ-साथ दार्शनिक रुचि भी उनमे बराबर विकास पाती रही। 'गुंजन' का चिन्तन धीरे-धीरे गांधी-वाद और मार्क्स-वाद की ओर विकसित होने लगा। 'गुंजन' में उन्होंने घोषित किया था—

अतः स्वकीया या परकीया
जन समाज की है परिभाषा,
काम-मुक्त औ प्रीति-युक्त
होगी मनुष्यता, मुझको आशा!"

'पन्त' जी ने साम्प्रदायिकता और जाति-भेद को भी अनभीष्ट सिद्ध किया है। वे मानवता को ही मानव का वास्तविक परिचय मानते हैं। 'लोक-सत्य' कविता में भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का सामञ्जस्य दिखाया गया है। दोनों पात्र अन्त में एक दूसरे के पक्ष के महत्त्व को भी सकारने लगते हैं। 'सामञ्जस्य' कविता में आत्म-सत्यता मुस्करा कर कहती है—

"पंख खोल सपने उड़ जाते
सत्य न बढ़ पाता गिन-गिन पग
सामञ्जस्य न यदि दोनों में
रखती मैं, क्या चल सकता जग?"
—['स्वर्ण धूलि']

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द और अरविन्द के दर्शनों की स्वीकृति छायावाद काव्य-धारा के लोक-स्वीकारी एवं लोकाभिरुख पक्ष का ही संकेतक है। 'वीणा' के अध्यात्म वाद से लेकर गांधीवाद मार्क्सवाद और नव-चेतन-वाद तक 'पन्त' जी के काव्य की सांस्कृतिक दृष्टि स्पष्ट है। कल्पना की विशिष्टता से यशदेव जी भले ही उसे 'यूटोपिया' कहें।

भौतिकवाद और मार्क्सवादी दृष्टि—देश की बिगड़ती हुई आर्थिक दशा और राजनीतिक दासता की निरन्तर तीव्रतर होती अनुभूति ने देश की अध्यात्म-चेतना को एकबार झकझोर कर आस-पास देखने को विवश कर दिया था। सामाजिक कुरीतियों के साथ-साथ विदेशियों के आर्थिक दोहन ने जहाँ एक ओर राष्ट्रीयता के आन्दोलन को बल दिया, वहीं दूसरी ओर मार्क्स के आर्थिक विवेचन, उनकी इतिहास की आर्थिक व्याख्या और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन के प्रसार के लिए भी उपयुक्त भूमि मिल गयी। 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात' की बात, अपने 'यथार्थवाद और छायावाद' लेख में उठाकर 'प्रसाद' जी ने भी इसी दिशा को इंगित किया है। अतीत के प्रति गौरव-भावना, बीते इतिहास के प्रति गर्वानुभूति एवं अपनी जाति-गत श्रेष्ठता सिद्ध करके भी जो कुछ मानसिक शान्ति मिल सकती थी, उसे भी दिनोंदिन प्रबल होते आर्थिक संकट के झोंकों ने उड़ाना प्रारंभ कर दिया। अपने समाज में ही चारों ओर आर्थिक वैषम्य दिखाई पड़ने लगा। सभी वर्गों पर आयी आपदाएँ, परस्पर की प्रतियोगिताएँ

एवं सामन्ती-पूँजीवादी हथकंडों के कड़वे घूँट वर्ग-चेतना, श्रेणी-संघर्ष एवं विद्वेष को धार देने लगे। ग्रामों से हटकर आर्थिक व्यवस्था का केन्द्र नगरों में आ गया और अब खेतिहरों की सामन्ती-व्यवस्था-गत अड़चनों ने उनकी आँखों के सुनहले सपने तोड़ने शुरू कर दिये। ग्राम-वासी जीविकार्थ नगरों की ओर आने लगे। श्रम, श्रमिक, पूँजी, वितरण, उत्पादन और माँग की समस्याओं ने अपना ताना-बाना फैलाना शुरू कर दिया। अर्ध-जाग्रत् जनता में गाधीवादी विचार अवश्य नया प्रकाश फैला रहे थे, पर 'हृदय-परिवर्तन' की नीति की सफलता मिलों की समस्याओं तथा श्रमिक-धनी के पारस्परिक अविश्वासों के धुवें में धुँधली पड़ने लगी। 'गुंजन' में उन्मन गुंजन करने वाले 'पन्त' के कवि ने 'युगान्त' में उसकी समाप्ति कर दी और 'युगवाणी' में गाधीवादी आदर्शों के विस्तार के साथ साम्यवादी सम्मिश्रण की आवश्यकता अनुभव की। 'युगान्त' से 'ग्राम्या' तक 'पन्त' जी के प्रगतिशील विचार परिपक्व हो जाते हैं।

जार के शासन को उखाड़ फेंककर, अक्तूबर की महा क्रान्ति ने मानवता के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ दिया। इस समाजवादी क्रान्ति ने रूस का काया-कल्प कर दिया। प्रारम्भ में प्रतिक्रियावादी जार-समर्थकों को कारा-मुक्त कर दिया गया, पर बाद में उनसे संघर्ष हुआ और अन्त में रक्तात्त दमन के पश्चात् समाजवादी अधिनायकवाद स्थापित हुआ। तब से उसकी आर्थिक व्यवस्था और इतिहास की आर्थिक एवं द्वन्द्वात्मक व्याख्या दीन हीन जन-समाज के बीच और मिलों-मजदूरों में बहुधा चर्चित रही है। धीरे-धीरे भारतीय पूँजी का विकास भी विदेशी पूँजी की छाया में होने लगा। दो महा-युद्धों ने समाप्ति के बाद भी लम्बी अवधि तक जन-साधारण को इतनी अभाव-पीड़ा दी कि जनता पूँजीवाद के विरुद्ध सचेत होने लगी। सन् १९३५ ई० में भारत में भी 'प्रगतिशील-लेखक-संघ' की स्थापना हुई और श्रीशिवदान सिंह के प्रयास से उसका प्रथम अधिवेशन लखनऊ में श्री मुंशी प्रेमचन्द जी की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। इन लेखकों में सर्वश्री रामविलास शर्मा, प्रकाश-चन्द्र गुप्त जैसे आलोचक भी आये। काव्य में चमत्कार एवं कल्पनाशीलता का विरोध करते हुए, इन आलोचकों ने 'पन्त' जी पर बड़े आक्षेप किये थे। 'पन्त' जी प्रारम्भ में अपेक्षाकृत चिन्तन शील एवं वस्तु-परक भी रहे। इसने सामाजिक चेतना के साथ-साथ दार्शनिक रुचि भी उनमें बराबर विकास पाती रही। 'गुंजन' का चिन्तन धीरे-धीरे गान्धी-वाद और मार्क्स-वाद की ओर विकसित होने लगा। 'गुंजन' में उन्होंने घोषित किया था—

अतः स्वकीया या परकीया
जन समाज की है परिभाषा,
काम-मुक्त औ प्रीति-युक्त
होगी मनुष्यता, मुझको आशा।"

'पन्त' जी ने साम्प्रदायिकता और जाति-भेद को भी अनभीष्ट सिद्ध किया है। वे मानवता को ही मानव का वास्तविक परिचय मानते हैं। 'लोक-सत्य' कविता में भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का सामञ्जस्य दिखाया गया है। दोनों पात्र अन्त में एक दूसरे के पक्ष के महत्त्व को भी सकारने लगते हैं। 'सामञ्जस्य' कविता में आत्म-सत्यता मुस्करा कर कहती है—

"पंख खोल सपने उड़ जाते
सत्य न बढ़ पाता गिन-गिन पग
सामञ्जस्य न यदि दोनों में
रखती मैं, क्या चल सकता जग ?"
—['स्वर्ण धूलि']

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द और अरविन्द के दर्शनों की स्वीकृति छायावाद काव्य-धारा के लोक-स्वीकारी एवं लोकाभिरुच पक्ष का ही संकेतक है। 'वीणा' के अध्यात्म वाद से लेकर गाधीवाद मार्क्सवाद और नव-चेतन-वाद तक 'पन्त' जी के काव्य की सांस्कृतिक दृष्टि स्पष्ट है। कल्पना की विशिष्टता से यशदेव जी भले ही उसे 'यूटोपिया' कहें।

भौतिकवाद और मार्क्सवादी दृष्टि—देश की बिगड़ती हुई आर्थिक दशा और राजनीतिक दासता की निरन्तर तीव्रतर होती अनुभूति ने देश की अध्यात्म-चेतना को एकबार झकझोर कर आस-पास देखने को विवश कर दिया था। सामाजिक कुरीतियों के साथ-साथ विदेशियों के आर्थिक दोहन ने जहाँ एक ओर राष्ट्रीयता के आन्दोलन को बल दिया, वहीं दूसरी ओर मार्क्स के आर्थिक विवेचन, उनकी इतिहास की आर्थिक व्याख्या और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन के प्रसार के लिए भी उपयुक्त भूमि मिल गयी। 'लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात' की बात, अपने 'यथार्थवाद और छायावाद' लेख में उठाकर 'प्रसाद' जी ने भी इसी दिशा को इंगित किया है। अतीत के प्रति गौरव-भावना, बीते इतिहास के प्रति गर्वानुभूति एव अपनी जाति-गत श्रेष्ठता सिद्ध करके भी जो कुछ मानसिक शान्ति मिल सकती थी, उसे भी दिनोंदिन प्रबल होते आर्थिक संकट के झोंकों ने उड़ाना प्रारम्भ कर दिया। अपने समाज में ही चारों ओर आर्थिक वैषम्य दिखाई पड़ने लगा। सभी वर्गों पर आयी आपदाएँ, परस्पर की प्रतियोगिताएँ

एवं सामन्ती-पूँजीवादी हथकंडों के कड़ुवे घूँट वर्ग-चेतना, श्रेणी-संघर्ष एवं विद्वेष को धार देने लगे। ग्रामों से हटकर आर्थिक व्यवस्था का केन्द्र नगरों मे आ गया और अन्न खेतिहरों की सामन्ती-व्यवस्था-गत अड़चनों ने उनकी आँखों के सुनहले सपने तोड़ने शुरू कर दिये। ग्राम-वासी जीविकार्थ नगरों की ओर आने लगे। श्रम, श्रमिक, पूँजी, वितरण, उत्पादन और माँग की समस्याओं ने अपना ताना-बाना फैलाना शुरू कर दिया। अर्ध-जाग्रत् जनता मे गाधीवादी विचार अवश्य नया प्रकाश फैला रहे थे, पर 'हृदय-परिवर्तन' की नीति की सफलता मिलों की समस्याओं तथा श्रमिक-धनी के पारस्परिक अविश्वासों के धुवें में धुँधली पड़ने लगी। 'गुंजन' मे उन्मन गुंजन करने वाले 'पन्त' के कवि ने 'युगान्त' मे उसकी समाप्ति कर दी और 'युगवाणी' में गाधीवादी आदर्शों के विस्तार के साथ साम्यवादी सम्मिश्रण की आवश्यकता अनुभव की। 'युगान्त' से 'ग्राम्या' तक 'पन्त' जी के प्रगतिशील विचार परिपक्व हो जाते हैं।

जार के शासन को उखाड़ फेंककर, अक्तूबर की महा क्रान्ति ने मानवता के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ दिया। इस समाजवादी क्रान्ति ने रूस का काया-कल्प कर दिया। प्रारम्भ में प्रतिक्रियावादी जार-समर्थकों को कारा-मुक्त कर दिया गया, पर बाद मे उनमे संघर्ष हुआ और अन्त में रक्तरंजित दमन के पश्चात् समाजवादी अधिनायकवाद स्थापित हुआ। तब से उसकी आर्थिक व्यवस्था और इतिहास की आर्थिक एवं द्वन्द्वात्मक व्याख्या दीन हीन जन-समाज के बीच और मिलों-मजदूरों में बहुधा चर्चित रही है। धीरे-धीरे भारतीय पूँजी का विकास भी विदेशी पूँजी की छाया में होने लगा। दो महा-युद्धों ने समाप्ति के बाद भी लम्बी अवधि तक जन-साधारण को इतनी अभाव-पीड़ा दी कि जनता पूँजीवाद के विरुद्ध सचेत होने लगी। सन् १९३५ ई० में भारत में भी 'प्रगतिशील-लेखक-संघ' की स्थापना हुई और श्रीशिवदान सिंह के प्रयास से उसका प्रथम अधिवेशन लखनऊ में श्री मुंशी प्रेमचन्द जी की अध्यक्षता मे सम्पन्न हुआ। इन लेखकों में सर्वश्री रामविलास शर्मा, प्रकाश-चन्द्र गुप्त जैसे आलोचक भी आये। काव्य मे चमत्कार एवं कल्पनाशीलता का विरोध करते हुए, इन आलोचकों ने 'पन्त' जी पर बड़े आक्षेप किये थे। 'पन्त' जी प्रारम्भ से अपेक्षाकृत चिन्तन शील एवं वस्तु-परक भी रहे। इसमे सामाजिक चेतना के साथ-साथ दार्शनिक रुचि भी उनमें बराबर विकास पाती रही। 'गुंजन' का चिन्तन धीरे-धीरे गाधी-वाद और मार्क्स-वाद की ओर विकसित होने लगा। 'गुंजन' में उन्होंने घोषित किया था—

"मैं प्रेमी उच्चादर्शों का,
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का
जीवन के हर्ष-विमर्षों का,
लगता अपूर्ण मानव-जीवन,
मैं इच्छा से उन्मन-उन्मन।"

'नव जीवन' की आवश्यकता वे अनुभव करते रहे। 'युगान्त' में 'पावक-कण' बरसा कर वे 'जगत् के जीर्ण पत्रों' से द्रुत झर जाने की कामना करने लगे। संसार के अधिकांश मानव-प्राणियों के दुःख-सुख की चिन्ता, उनके श्रम के महत्त्व, उचित एवं न्याय-पूर्ण उत्पादन-वितरण का दृष्टिकोण तथा मानव-मात्र की मुक्ति एवं समानता का आदर्श, जिसे मार्क्स ने विश्व को दान किया, वस्तु-मुखी 'पन्त' की चिन्तन-शीलता को न स्पर्श करती, यही आश्चर्य था। आध्यात्मिक कल्पना-उल्लास से प्रकृति, प्रकृति से प्रेम-सौन्दर्य एवं सौन्दर्य से संसार के यथार्थ की ओर बढ़ना 'पन्त' की चिन्तना का विकास-परिणाम है। प्रगतिवादियों ने 'पन्त' के इस मोड़ को बहुत ही पसन्द किया। चौहान जी ने 'ग्राम्या' को अनुपम कृति कहा। श्री 'शर्मा' जी ने उसे प्रगति-शील कविता का ऐतिहासिक मार्ग-चिह्न घोषित किया। 'पन्त' धीरे-धीरे व्यक्ति-वाद से समूह-वाद की ओर बढ़ने लगे। 'युग-वाणी' में उन्होंने 'सर्व मुक्ति' को 'मुक्ति-तत्त्व' तथा 'सामूहिकता' को ही 'निजत्व' घोषित किया। उनका एकान्त गुंजन अब 'हरित, भरित, पल्लवित, मर्मरित, कूजित, गुंजित, कुसुमित भू' की ओर मुखरित होने लगा। जन-हित को ही वे समाज-नीति, धर्म और सदाचार का मूल्यांकन मानने लगे। जो जनता से सम्बद्ध न हो, वे उसे सत्य मानने को तैयार नहीं—

'सत्य नहीं वह, जनता से जो
नहीं प्राण—सम्बन्धित।'

—['युग वाणी']

'युग-वाणी' में उन्होंने 'मार्क्स के प्रति' कविता भी लिखी और मार्क्स को शंकर भगवान् के तीसरे नेत्र की समानता देकर भारतीय संस्कृति के मेल में बिठाने का उनका प्रयास भी लक्षणीय है। 'साम्राज्यवाद' एवं धनपतियों की निन्दा करते हुए उन्होंने मार्क्स की समस्त भौतिकवादी व्याख्याओं को भी काव्य-बद्ध किया—

"स्थूल सत्य आधार, सूक्ष्म आधेय, हमारा जो मन,
बाह्य विवर्तन से होता युगपत् अन्तर परिवर्तन।
× × ×

साम्यवाद के साथ स्वर्ण-युग करता मधुर समर्पण,
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिवादन !"

'पन्त' जी ने मार्क्सवाद को लोक-हित की दृष्टि से ही अपनाया था, पर वह उनका मात्र विश्वास-पथ नहीं हो सकता था। वे गांधीवादी अहिंसा से सदैव प्रभावित रहे, सौन्दर्य की चेतना उनकी आत्मा का विशिष्ट कोण रही है। 'पन्त' मार्क्सवाद के कशाघातों या उसके सैनिकों के अध्यादेश पर काव्य-रचना करने वालों में नहीं टिक सकते थे। इसीसे उन पर बड़ी फटकारें आयीं। मुक्त-कण्ठ प्रगतिवादी प्रशंसक मुक्त-जिह्व निन्दक बन गये। दार्शनिक विचार-दर्शन भी मार्क्स के अनुसार ही बाह्य परिस्थितियों से बहुत कुछ सम्बद्ध होते हैं और प्रगतिशीलता की जो व्याख्या मार्क्स ने की है, उसका निरपेक्ष दार्शनिक महत्त्व के साथ-साथ आपेक्षिक मूल्य भी स्वीकृत होना चाहिए। हम मार्क्स की सभी स्थापनाओं से सर्वांशतः सहमत न भी हों, पर विश्व की चिंतन-धारा को व्यक्ति से समूह एवं धनिकों से असख्य दीनों की ओर ले जाने में उसके चिन्तन का एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व है। प्रायः देखा जाता है कि युग-विशेष एवं परिवृत्ति-विशेष में आकलित विचारोद्भावना की मूल चेतना को न पकड़ कर हम उसकी स्थूलता को ही सब कुछ मान बैठते हैं। भारतीय साम्यवादियों ने जहाँ मार्क्स की व्याख्याओं के भौतिक परिवेश को भी अक्षरशः पकड़ना प्रारम्भ किया, वहाँ नये पुजारी के पूजन की भाँति उनकी कट्टरता सत्य की सीमा को भी झकझोरने लगी। अभी-अभी २१ नवम्बर को 'भारतीय ससद' के सदस्यों के समक्ष रूस की 'कम्यूनिस्ट पार्टी' के प्रथम प्रधान-मन्त्री श्री निकिता क्रुश्चेव ने कहा है कि वे लोग विचार के प्रश्न को विवेकात्मा का प्रश्न मानते हैं, यही नहीं वे उसे प्रत्येक राष्ट्र, क्या प्रत्येक व्यक्ति के आदर्श का विषय स्वीकार करते हैं। उनके देश में साम्यवादियों से इतर जन भी हैं। 'कम्यूनिस्ट-दल' में ८ करोड़ सदस्य हैं और 'कनसोमो' में २० करोड़ की रूसी जनता में निकटतः १ करोड, ८० लाख, ५० हज़ार। उनके देश में सभी साम्यवादी नहीं हैं और न वे ऐसा करने का प्रयत्न ही करते हैं, लेकिन वहाँ की समस्त जनता 'साम्यवादी दल' से ही सम्बद्ध-सहयुक्त होती है तथा उसी को अपना संगठन-कर्ता एवं नेता मानती है। वहाँ भी विचार और मान्यता का प्रश्न प्रत्येक व्यक्ति का निजी प्रश्न माना जाता है। 'साम्यवादी दल' के सदस्य, अ सदस्य, ईश्वरवादी एवं अनीश्वरवादी जन-हित में एक साथ सहयोग-पूर्वक कार्य करते हैं। रूस में भी धर्म-स्वातंत्र्य एव त्योहार-सत्कार-सम्बन्धी स्वतन्त्रता स्वीकृत है। वहाँ भी राज्य द्वारा विवेक-मान्यता एवं धर्म-

स्वाधीनता न केवल घोषित की जाती है, वरन् देशवासियों के संवैधानिक अधिकार के रूप में अभिरक्षित है। आज भी रूस में ईसाई, बौद्ध, मुसलमान एव अन्यान्य धर्मावलम्बी मौजूद हैं' (लीडर २३ नवम्बर, ५५)। हमारे प्रगतिवादी आलोचक शुद्ध राजनीतिक साम्यवादी से भी संकुचित कट्टरता में आगे हैं। कला और साहित्य के स्तर पर भी वे वैसी ही स्थूल कठोरता एवं आभिधिक तद्रूप्ता के समर्थक हैं। परिणाम यह हुआ कि 'पन्त' जी लोक-चिन्तन में सामजस्य के सत्य को स्वीकारते हुए अरविन्द वादी दर्शन की ओर बढ गये।

'निराला' जी की रुचि भी आरम्भ से दार्शनिक रही है। बंग-भूमि में उनका पालन-पोषण हुआ, अतः भावुकता एव विद्रोह-शीलता उनको वहाँ की जलवायु से मिलीं। समाज की कठोर एवं निरर्थक रूढियों से उन्हें आरम्भ से ही अरुचि रही। स्वामी रामकृष्ण परमहस जी के अद्वैतमत में वैसे भी जाति-वादिता को कोई स्थान न था—वैसा कोई आग्रह न था। 'निराला' जी ज्योतिष पर भी विश्वास न करते थे और अपने हाथ में दो विवाह की रेखाएँ देखकर उन्होंने उसे असत्य सिद्ध करने का ही व्रत ले लिया—

"पढ़ लिखे हुए शुभ दो विवाह
हँसता था मन मे बढी चाह
खण्डित करने को भाग्य-अङ्क
देखा भविष्य के प्रति अशंक।"

—['सरोज-स्मृति']

कवि ने दूसरा विवाह ही न किया। उन्होंने अपनी पुत्री सरोज का विवाह कनौजियों के प्रचलन के अनुसार न कर एक सरयूपारीण ब्राह्मण से किया। उनका सामाजिक व्यग्य-विद्रूप अत्यन्त तीव्र होता था—

"ये कान्यकुब्ज कुल कुलांगार,
खाकर पत्तल मे करें छेद,
इनके कर कन्या, अर्थ खेद,
इस विषय वेलि में विप ही फल
है दग्ध मरुस्थल नहीं सुजल।"

हिन्दू-समाज में समाज-प्रचलन और विवाह की मर्यादा तोडने का उस समय क्या दुष्परिणाम हो सकता था, इसे भुक्त-भोगी ही जान सकता है। 'निराला' जी के ये आग्नेय शब्द उनकी आन्तरिक घृणा की ज्वाला के स्पष्ट प्रमाण हैं—

"वे जो जमुना के-से कछार
पद फटे बिवाई के, उधार
खाये के मुँह ज्यों पिये तेल
चमरौधे जूते से सकेल
निकले, जी लेते, घोर-गंध
उन चरणों को मैं यथा-अंध,
कल घ्राण-प्राण से रहित व्यक्ति
हो पूजूँ, ऐसी नहीं शक्ति।
× ×
ऐसे शिव से गिरिजा विवाह
करने की मुझको नहीं चाह।"
—[सरोज-स्मृति' से]

इस प्रकार समस्त समाज को चुनौती देकर 'निराला' जी ने अपनी प्रिय पुत्री सरोज के विवाह में स्वयं पौरोहित्य संपादित किया। 'पन्त' जी की भाँति 'निराला' जी भी परिस्थिति-चेता रहे हैं, इसी से मार्ग भी मोड़े हैं। उनकी व्यंग्यात्मक रचनाएँ समाज पर व्यंग्य कर उसे सुधार की ओर ले जाने वाली हैं। गोमती के किनारे नहाकर शिव-पूजा के पश्चात् बन्दरों को मालपुआ खिलाने वाले ब्राह्मण के, भिखारी को कुछ न देने पर कठोर व्यंग्य किया गया है। 'अनामिका' में ऐसी कविताएँ अनेक हैं। उन्होंने भी दीन-हीनों एवं शोषितों की हिमायत की है। 'वह तोड़ती पत्थर'—कविता में एक श्रमिका का मर्मान्तक चित्र है और 'भिक्षुक' कविता में भिखारी का मर्मभेदी आकलन है। ये रचनाएँ 'परिमल' (१९३० ई० में 'गंगापुस्तक-माला' से प्रकाशित) में ही प्रकाशित हुई हैं और उसी काल में लिखी गयी हैं, जब अधिकांश छाया-युगीन कवि प्रेम और तारुण्य के गीत रच रहे थे। इसी प्रकार 'दीन' शीर्षक रचना में दीनों की सहन-शीलता और कष्ट-पीड़न का मर्म-स्पर्शी वर्णन हुआ है।

'निराला' जी ने 'वन-बेला' में साम्य-वाद के शौकीनों की भी खिल्ली उड़ाई है और 'कुकुरमुत्ता' रचना में, धनियों के प्रतिनिधि गुलाब और शोषितों के प्रतीक कुकुरमुत्ता में जो वाद-विवाद उठाया गया है, वह प्रगतिवाद पर व्यंग्य भी करता है। कुकुरमुत्ता जब चीन की छतरी, विष्णु के चक्र और मीनाक्षी के मन्दिर आदि को अपनी अनुकृति कहने लगता है तो साम्यवादी तर्काभासों पर अच्छा व्यंग्य प्रस्फुटित होता है। इस कविता के

द्वितीय अश में आयी गोली (मालिन-की पुत्री) और बहार (नवाब की पुत्री) का सखीत्व वर्ग-चेतना एवं वर्ग-सगठन के मार्क्सवादी विचार सूत्रों के अनुकूल नहीं। बहार के मुख से सखी गोली के घर खाये कुकुरमुत्ते के कवाब की प्रशंसा सुनकर नवाब ने अपने माली से कहा—

"बोले, 'चल गुलाब जहाँ थे, उगा,
हम भी सब के साथ चाहते हैं, अब कुकुरमुत्ता।"

माली ने निम्नस्थवाक्य में व्यग्य करते हुए कहा कि—

"वोला माली, फर्मायें मुआफ़ ख़ता,
कुकुरमुत्ता उगाये नहीं उगता।"

वाह्य एव प्रचलन-परक रुचि रखने वाले नवाब साहब की थोथी चाह पर यहाँ व्यंग्य है। 'निराला' जी ने बाह्यारोपित साम्यवाद पर कशाघात किया है। 'गर्म पकौड़ी' रचना में रोमास पर विद्रूप है। 'पन्त' जी ने भी संकीर्ण भौतिक-वादियों पर चोट की है—

'मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम ?'
'वहिरन्तर, आत्मा भूतों से, है अतीत वह तत्त्व !"

आर्य-समाज का प्रभाव—भी इस युग के काव्य की सास्कृतिक पृष्ठ-भूमि में सक्रिय रहा है। 'आर्य-समाज' ने भी अपने 'त्रैतवाद' में ससार को सत्यता की सत्ता प्रदान की। स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' के द्वारा मूर्ति-पूजा का खण्डन किया। हिन्दू-जाति की खण्डित एकता को समेटने का नवीन प्रयास चला। विधवा-विवाह के प्रचलन को स्वीकार करने एवं बाल-वृद्ध-असमान विवाह को रोकने के लिए भी समाज ने बड़ा प्रयास किया। उसने अवतार-वाद की भी उपेक्षा की। अछूत-समस्या को सुलझाने की तूर्य्य-पुकार लगाई। छुआछूत के साथ, स्त्रीशिक्षा और स्वतंत्रता को भी बल मिला है। अतीतकालीन गारव और पुनर्जागरण का सन्देश भी देश में गूँजा। मूर्ति-पूजा के प्रति उपेक्षा की भावना ने, युग की घुमड़ती आस्तिक्य-भावना को रहस्यवादी भाव-साधना की ओर प्रेरित होने में अपना निश्चित योग दिया है। जिस प्रकार मध्य-युग के आरम्भ का भक्ति-भावावेग सगुणता का विरोधी होकर भी, निर्गुण-भूमि पर अपनी आस्तिकता में सघन हो उठा था और कबीर की भाव-विभोर वाणी ने युग-धर्म के उस सत्य को स्वरों का शृंगार दिया, उसी प्रकार यदि विज्ञान के नीरस तर्क-जाल के भीतर सरस मानवीय हृदय का सधान करने वाला छायावादी युग, रहस्यवाद के स्तर पर अपनी आस्थाशीलता में भावुक हो उठा तो कदाचित् यह आश्चर्य-मय नहीं। आर्य-समाज ने निश्चित रूप

से, वैदिक-कालीन आर्य-आशावादिता एवं जीवन के प्रति ऐहिक कल्याण की कामना को हिन्दू-समाज में पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। उसने समाज में स्त्री की हीन दशा को भी अकल्याणकर बताकर, उन्हें सामाजिक सम्मान दिलाने का आन्दोलन उठाया, क्योंकि उसके सामने वैदिक आर्य महिलाओं (गार्गी आदि) का ज्वलन्त आदर्श था।

भारतीय समाज में हिन्दू-विधवाओं की दशा अत्यन्त शोचनीय रही है। पति के साथ समस्त जीवन-कल्याण की प्रतीक मानी जाने वाली सौभाग्यवती महिला, विधवा होते ही जगत् में सबसे अधिक असम्मानित एवं अशुभ प्राणी बन जाती है। 'निराला' जी ने अपनी 'विधवा' रचना में इसका कितना मर्म-भेदी चित्रण किया है! जिस प्रकार पूजा केवल देवता के चरणों पर चढ़ने तक ही अपना मूल्य रखती है और उसके बाद उतार फेंकी जाती है, जिस प्रकार दीप-शिखा केवल मौन जलने में ही अपनी सार्थकता रखती है, क्रूर-काल के भयानक ताण्डव की स्मृति-स्वरूप अवशिष्ट यह विधवा उसी प्रकार केवल पति-चरणों पर अर्पित होने तक ही महत्त्व-शालिनी है—

"वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीप-शिखा-सी शान्त भाव में लीन
वह क्रूरकाल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत ही की विधवा है।"

यही उसका जीवन-अभीष्ट है—

"दुःख-रूखे सूखे अधर, त्रस्त चितवन को
वह दुनियाँ की नजरों से दूर बचाकर,
रोती है अस्फुट स्वर में।"

—['परिमल']

कवि ने नारी-हृदय के अतल में प्रविष्ट होकर उसके विष-मधु का भी निराकरण किया है। 'बहू'-कविता में नारी की मूकता, अभिलाष, लज्जा, संकोच और सौन्दर्यादि को आकलित किया गया है—

"सरलता ही से होती उसकी मनोरंजना,
नीरवता ही करती उसकी पूरी भाव-व्यंजना।
अगर कहीं चंचलता का प्रभाव कुछ उसपर देखा
तो थी वह प्रियतम के आगे मृदु स्निग्ध हास्य की रेखा,

द्वितीय अश में आयी गोली (मालिन-की पुत्री) और बहार (नवाब की पुत्री) का सखीत्व वर्ग-चेतना एव वर्ग-सगठन के मार्क्सवादी विचार सूत्रों के अनुकूल नहीं। बहार के मुख से सखी गोली के घर खाये कुकुरमुत्ते के कबाब की प्रशंसा सुनकर नवाब ने अपने माली से कहा—

"बोले, 'चल गुलाब जहाँ थे, उगा,
हम भी सब के साथ चाहते हैं, अब कुकुरमुत्ता।"

माली ने निम्नस्थवाक्य में व्यग्य करते हुए कहा कि—

"बोला माली, फर्मायें मुआफ खता,
कुकुरमुत्ता उगाये नहीं उगता।"

बाह्य एवं प्रचलन-परक रुचि रखने वाले नवाब साहब की थोथी चाह पर यहाँ व्यग्य है। 'निराला' जी ने बाह्यारोपित साम्यवाद पर कशाघात किया है। 'गर्म पकौडी' रचना में रोमास पर विद्रूप है। 'पन्त' जी ने भी सकीर्ण भौतिक-वादियों पर चोट की है—

'मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम ?'
'वहिरन्तर, आत्मा भूतों से, है अतीत वह तत्त्व !"

आर्य-समाज का प्रभाव—भी इस युग के काव्य की सास्कृतिक पृष्ठ-भूमि मे सक्रिय रहा है। 'आर्य-समाज' ने भी अपने 'त्रैतवाद' में ससार को सत्यता की सत्ता प्रदान की। स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' के द्वारा मूर्ति-पूजा का खण्डन किया। हिन्दू-जाति की खण्डित एकता को समेटने का नवीन प्रयास चला। विधवा-विवाह के प्रचलन को स्वीकार करने एवं बाल-वृद्ध-असमान विवाह को रोकने के लिए भी समाज ने बडा प्रयास किया। उसने अवतार-वाद की भी उपेक्षा की। अछूत-समस्या को सुलझाने की तूर्य्य-पुकार लगाई। छुआछूत के साथ, स्त्रीशिक्षा और स्वतंत्रता को भी बल मिला है। अतीतकालीन गारव और पुनर्जागरण का सन्देश भी देश में गूँजा। मूर्ति-पूजा के प्रति उपेक्षा की भावना ने, युग की घुमडती आस्तिक्य-भावना को रहस्यवादी भाव-साधना की ओर प्रेरित होने में अपना निश्चित योग दिया है। जिस प्रकार मध्य-युग के आरम्भ का भक्ति-भावावेग सगुणता का विरोधी होकर भी, निर्गुण-भूमि पर अपनी आस्तिकता में सघन हो उठा था और कबीर की भाव-विमोर वाणी ने युग-धर्म के उस सत्य को स्वरों का शृंगार दिया, उसी प्रकार यदि विज्ञान के नीरस तर्क-जाल के भीतर सरस मानवीय हृदय का संधान करने वाला छायावादी युग, रहस्यवाद के स्तर पर अपनी आस्थाशीलता में भावुक हो उठा तो कदाचित् यह आश्चर्य-मय नहीं। आर्य-समाज ने निश्चित रूप

से, वैदिक-कालीन आर्य-आशावादिता एवं जीवन के प्रति ऐहिक कल्याण की कामना को हिन्दू-समाज में पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। उसने समाज में स्त्री की हीन दशा को भी अकल्याणकर बताकर, उन्हें सामाजिक सम्मान दिलाने का आन्दोलन उठाया, क्योंकि उसके सामने वैदिक आर्ष महिलाओं (गार्गी आदि) का ज्वलन्त आदर्श था।

भारतीय समाज में हिन्दू-विधवाओं की दशा अत्यन्त शोचनीय रही है। पति के साथ समस्त जीवन-कल्याण की प्रतीक मानी जाने वाली सौभाग्यवती महिला, विधवा होते ही जगत् में सबसे अधिक असम्मानित एवं अशुभ प्राणी बन जाती है। 'निराला' जी ने अपनी 'विधवा' रचना में इसका कितना मर्म-भेदी चित्रण किया है! जिस प्रकार पूजा केवल देवता के चरणों पर चढ़ने तक ही अपना मूल्य रखती है और उसके बाद उतार फेंकी जाती है, जिस प्रकार दीप-शिखा केवल मौन जलने में ही अपनी सार्थकता रखती है, क्रूर-काल के भयानक ताण्डव की स्मृति-स्वरूप अवशिष्ट वह विधवा उसी प्रकार केवल पति-चरणों पर अर्पित होने तक ही महत्त्व-शालिनी है—

"वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीप-शिखा-सी शान्त भाव मे लीन
वह क्रूरकाल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत ही की विधवा है।"

यही उसका जीवन-अभीष्ट है—

"दुःख-रूखे सूखे अधर, त्रस्त चितवन को
वह दुनियाँ की नजरों से दूर बचाकर,
रोती है अस्फुट स्वर में।"

—['परिमल']

कवि ने नारी-हृदय के अतल में प्रविष्ट होकर उसके विष-मधु का भी निराकरण किया है। 'बहू'-कविता में नारी की मूकता, अभिलाष, लज्जा, संकोच और सौन्दर्यादि को आकलित किया गया है—

"सरलता ही से होती उसकी मनोरंजना,
नीरवता ही करती उसकी पूरी भाव-व्यंजना।
अगर कहीं चंचलता का प्रभाव कुछ उसपर देखा
तो थी वह प्रियतम के आगे मृदु स्निग्ध हास्य की रेखा,

द्वितीय अंश में आयी गोली (मालिन-की पुत्री) और बहार (नवाब की पुत्री) का सखीत्व वर्ग-चेतना एव वर्ग-सगठन के मार्क्सवादी विचार-सूत्रों के अनुकूल नहीं। बहार के मुख से सखी गोली के घर खाये कुकुरमुत्ते के कबाब की प्रशसा सुनकर नवाब ने अपने माली से कहा—

"बोले, 'चल गुलाब जहाँ थे, उगा,
हम भी सब के साथ चाहते हैं, अब कुकुरमुत्ता।"

माली ने निम्नस्थवाक्य में व्यग्य करते हुए कहा कि—

"बोला माली, फर्मायें मुआफ खता,
कुकुरमुत्ता उगाये नहीं उगता।"

बाह्य एवं प्रचलन-परक रुचि रखने वाले नवाब साहब की थोथी चाह पर यहाँ व्यग्य है। 'निराला' जी ने बाह्यारोपित साम्यवाद पर कशाघात किया है। 'गर्म पकौडी' रचना में रोमास पर विद्रूप है। 'पन्त' जी ने भी सकीर्ण भौतिक-वादियों पर चोट की है—

'मानवता की मूर्ति गढोगे तुम सँवार कर चाम?'
'वहिरन्तर, आत्मा भूतों से, है अतीत वह तत्त्व!"

आर्य-समाज का प्रभाव—भी इस युग के काव्य की सास्कृतिक पृष्ठ-भूमि मे सक्रिय रहा है। 'आर्य-समाज' ने भी अपने 'त्रैतवाद' में ससार को सत्यता की सत्ता प्रदान की। स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' के द्वारा मूर्ति-पूजा का खण्डन किया। हिन्दू-जाति की खण्डित एकता को समेटने का नवीन प्रयास चला। विधवा-विवाह के प्रचलन को स्वीकार करनें एवं बाल-वृद्ध-असमान विवाह को रोकने के लिए भी समाज ने बडा प्रयास किया। उसने अवतार-वाद की भी उपेक्षा की। अछूत-समस्या को सुलझाने की तूर्य्य-पुकार लगाई। छुआछूत के साथ, स्त्रीशिक्षा और स्वतन्त्रता को भी बल मिला है। अतीतकालीन गारव और पुनर्जागरण का सन्देश भी देश में गूँजा। मूर्ति-पूजा के प्रति उपेक्षा की भावना ने, युग की घुमडती आस्तिक्य-भावना को रहस्यवादी भाव-साधना की ओर प्रेरित होने में अपना निश्चित योग दिया है। जिस प्रकार मध्य-युग के आरम्भ का भक्ति-भावावेग सगुणता का विरोधी होकर भी, निर्गुण-भूमि पर अपनी आस्तिकता में सघन हो उठा था और कबीर की भाव-विभोर वाणी ने युग-धर्म के उस सत्य को स्वरों का शृगार दिया, उसी प्रकार यदि विज्ञान के नीरस तर्क-जाल के भीतर सरस मानवीय हृदय का सधान करने वाला छायावादी युग, रहस्यवाद के स्तर पर अपनी आस्थाशीलता में भावुक हो उठा तो कदाचित् यह आश्चर्य-मय नहीं। आर्य-समाज ने निश्चित रूप

से, वैदिक-कालीन आर्य-आशावादिता एवं जीवन के प्रति ऐहिक कल्याण की कामना को हिन्दू-समाज में पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया है। उसने समाज में स्त्री की हीन दशा को भी अकल्याणकर बताकर, उन्हें सामाजिक सम्मान दिलाने का आन्दोलन उठाया, क्योंकि उसके सामने वैदिक आर्य महिलाओं (गार्गी आदि) का ज्वलन्त आदर्श था।

भारतीय समाज में हिन्दू-विधवाओं की दशा अत्यन्त शोचनीय रही है। पति के साथ समस्त जीवन-कल्याण की प्रतीक मानी जाने वाली सौभाग्यवती महिला, विधवा होते ही जगत् में सबसे अधिक असम्मानित एवं अशुभ प्राणी बन जाती है। 'निराला' जी ने अपनी 'विधवा' रचना में इसका कितना मर्म-भेदी चित्रण किया है! जिस प्रकार पूजा केवल देवता के चरणों पर चढ़ने तक ही अपना मूल्य रखती है और उसके बाद उतार फेंकी जाती है, जिस प्रकार दीप-शिखा केवल मौन जलने में ही अपनी सार्थकता रखती है, क्रूर-काल के भयानक ताण्डव की स्मृति-स्वरूप अवशिष्ट यह विधवा उसी प्रकार केवल पति-चरणों पर अर्पित होने तक ही महत्त्व-शालिनी है—

"वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीप-शिखा-सी शान्त भाव मे लीन
वह क्रूरकाल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत ही की विधवा है।"

यही उसका जीवन-अभीष्ट है—

"दुःख-रूखे सूखे अधर, त्रस्त चितवन को
वह दुनियाँ की नजरों से दूर बचाकर,
रोती है अस्फुट स्वर में।"

—['परिमल']

कवि ने नारी-हृदय के अतल में प्रविष्ट होकर उसके विष-मधु का भी निराकरण किया है। 'बहू'-कविता में नारी की मूकता, अभिलाष, लज्जा, संकोच और सौन्दर्यादि को आकलित किया गया है—

"सरलता ही से होती उसकी मनोरंजना,
नीरवता ही करती उसकी पूरी भाव-व्यंजना।
अगर कहीं चंचलता का प्रभाव कुछ उसपर देखा
तो थी वह प्रियतम के आगे मृदु स्निग्ध हास्य की रेखा,

प्रकाश-स्रोत खोलने वाले ये कवि पुकार-पुकार कर चिल्लाने वाले समाज-सुधारक न थे, पर ये अपने कोमल, करुण, मसृण एवं सुषम ढंग से, तत्कालीन समाज के जीवनी-स्रोत के मुख गायक और अपने कला-मय ढंग से, अपने समाज के नूतन विचार-भावाभिषेक के अनुष्ठानी थे। 'प्रसाद' जी ने मुक्ति, जीवन-भोग और व्यक्ति-सत्ता के मूल्य को भारतीय शैव-वाद की आनंद पीठिका पर स्वीकार किया था। 'निराला' ने अद्वैत-वाद, 'महादेवी' ने रहस्यवाद पर।

छायावादी काव्य-धारा के विचार-तत्त्व में नवीन भाव-विचारों, धारणाओं, उद्भावनाओं एवं जीवन-परिकल्पनाओं की प्रेरणाएँ भी सक्रिय रही हैं। छायावादी काव्य को सम्पूर्णतः भारतीय सिद्ध करने का व्रत भी कदाचित् सत्यापहृत ही होगा। वस्तुतः छायावादी काव्य-प्रवाह तत्कालीन समाज-स्थिति और जन-मनोविज्ञान की प्रतिक्रियाओं का प्रतिफल रहा है, जिसमें तत्कालीन आशा-निराशा, आस्था अनास्था, दृढ़ता-स्खलन और प्राचीन-नवीन का जीवन-वादी सत्व घुलमिल कर पिघल उठा है, जो किसी भी क्षेत्र के जड-बंधनों को काटकर नवीन मार्ग की सानुकूलता के लिए सावेग उमड चला है, जो आदर्शों के नाम पर मृत सिद्धान्त-पुंज के समक्ष गतिशील जीवन-वत्ता की ओर प्रवण रहा है: भारतीय अभारतीय का प्रश्न नहीं, मानव-अमानव और जीवन अजीवन की समस्या जिसकी गति-निर्धायिका रही है।

व्यक्ति-स्वातंत्र्य और प्रजातांत्रिक भाव—छायावादी काव्य के प्रारम्भिक युग में प्रजातंत्र्य और व्यक्ति-स्वाधीनता की लहर भी फ्रान्स और पाश्चात्य देशों की सीमाओं को पार कर जन-मानस तक पहुँच चुकी थी। आङ्गल शिक्षा और पाश्चात्य सम्पर्क तथा पठन-पाठन ने रूसो आदि व्यक्ति-स्वातंत्र्य-समर्थक विचारकों के विचारों से परिचित कराना प्रारम्भ कर दिया था—"मनुष्य स्वतंत्र उत्पन्न होता है, पर वह सर्वत्र बंधनों में है।" राजनीति के 'सामाजिक समझौते' के सिद्धान्त शिक्षितों में प्रसार पा चुके थे। मानव-वादी विचार भी अपने लिए जगह बना रहे थे। अब समाज और समष्टि के सम्मुख व्यक्ति और व्यष्टि के मूल्य अनुपेक्षणीय हो रहे थे। व्यक्ति जीवन-शोषी और उद्देश्य-हीन अव्यावहारिक आदर्श-वादिता के नाम पर आत्म-निषेध करने को प्रस्तुत नहीं था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-काव्य में वैयक्तिकता का सबल विस्फोट हुआ। इतने दिनों से व्यक्ति के ऊपर मढ़ी भाव-विचारों और जड सिद्धान्तों की केंचुल फट गयी और समग्र जीवन की रूढ़ियों, शास्त्र-बद्ध सीमाओं तथा मानव भाव-विचारों को घेर रखने वाली समस्त सीमाओं के प्रति एक सशक्त विद्रोह नेत्रोन्मीलन कर उठा। कवियों ने उसी प्रकार साहित्यिक-रूढ़ियों को उतार

फेंका, जिस प्रकार तत्कालीन व्यक्ति समाज की शृंखलाओं के प्रति विद्रोह-शील हो उठा था। अब पौराणिक कथाओं और बनावटी वृत्तों की ओट छोड़ कर हिन्दी का नया कवि अपनी बात सीधे कहने के लिए तन कर खड़ा होने लगा। कवि ने उसी प्रकार साहित्य से आत्माभिव्यक्ति की स्वाधीनता माँगी, जैसे उस समय के प्रबुद्ध व्यक्ति ने—जाग्रत् नवीन पीढ़ी ने अपनी पूर्व पीढ़ी से अपने को प्रकट करने का पूर्णाधिकार माँगना प्रारम्भ किया था। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के निषेध के लिए नहीं, उसके गान के लिए उठ बैठा था। निर्वैयक्तिकता के नाम पर वह अब अपने अन्तर को—अपने अस्तित्व की माँगों को नहीं झुठला सकता था। उसे 'राधा-गुविन्द सुमिरन को बहानो' का रास्ता प्रिय नहीं था, न वह अपने भाव-विचारों को पौराणिक प्रतीकों के सिर थापना ही सत्यशीलता मानता था। हिन्दी के 'भक्ति-युग' में 'आत्म-निवेदन' धर्म-विहित और साधना स्वीकृत हो चुका था, पर उस आत्म-निवेदन और छाया-युगीन आत्माभिव्यक्ति में बड़ा अन्तर है, वह आत्म-निवेदन था और यह आत्माभिव्यक्ति है। निवेदन दूसरों के समक्ष, उन्हें पूर्ण गौरव देकर किया जाता है और निवेदक की चेतना में निवेद्य की श्रद्धा का भाव प्रमुख होता है, पर अभिव्यक्ति में ऐसा कोई बन्धन नहीं, अभिव्यक्ति-कर्ता आत्म-केन्द्रित और 'स्व' की चेतना प्रबुद्ध होता है। भक्तों का आत्म-निवेदन भी बहुत कुछ परिपाटी-बद्ध था। सगुण भक्तों में यह बात और स्पष्ट है। सूर-तुलसी के आत्म-निवेदनों का साम्य इसका प्रत्यक्ष पोषक है। कबीर-आदि निर्गुण सन्तों की प्रेम रहस्य-मूलक उक्तियों में अपेक्षाकृत, निजता का तत्त्व अधिक है; फिर भी वे छाया-युगीन स्वाभिव्यक्ति से भिन्न ही हैं, उन पर साधना और धर्म की एक एक-रूपता भी मढ़ी है।

छायावाद की आत्माभिव्यक्ति अथवा स्वानुभूति-चित्रण लोक-परक (रहस्यवाद को छोड़कर) और इह-लोकानुसारी है। वह अपना प्रेम गत मिलन-विरह, अपनी जीवन-गत आशा-निराशाएँ और वस्तुओं के प्रति अपनी निजी प्रति-क्रियाओं को मुक्त रूप से काव्य-मुखरित करता है। उसे अपनी प्रेमानुभूतियों को गाने में कोई लज्जा या सकोच नहीं है। वह प्रत्येक बात 'मैं' के माध्यम से कहता है और उसके लिए पुराने नीति-मानदण्ड बदल गये। वह मानवीय इच्छाओं की पूर्ति और अभिव्यक्ति को मानवीयता की शर्त पर बुरा नहीं मानता। सहज मानव भाव से वह जीवन-जगत् को ग्रहण करने और भोगने का विश्वासी है। छायावादी काव्य का नायक अथवा नायिका अब स्वयं कवि और उसकी प्रेयसी हो सकती है। राजा-रानी अथवा देवता-देवी के स्थान पर

साधारण मानव मानवी काव्य विषय बने। व्यक्ति और मानव अपने में न्यून नहीं, वह स्वय एक जीवित एव पूर्ण इकाई है, जिसका विकास-प्रकाश नितान्त आवश्यक है।

प्रजा तन्त्र-वाद में व्यक्ति की महत्ता का स्वीकार होता है, और व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्रस्थान-आदर्श मानी जाती है। प्रजातन्त्र यह स्वीकार करता है कि व्यक्ति-व्यक्ति के पूर्ण-विकास से ही समाज विकसित होगा और आदर्श समाज वही है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का पूर्ण विकास सम्भव हो सके। छायावादी कवि व्यक्ति की इस स्वाधीनता को ही मानता है, अत. व्यक्ति के आत्म-प्रसार एव आत्मभिव्यक्ति में बाधा पहुँचाने वाले समग्र तत्त्व उसे स्वीकार्य नहीं। ऐसी स्वाधीन चिन्ता शताब्दियों से नहीं थी, और साहित्य में तो व्यक्ति की यह वैयक्तिकता बहुत दिनो से लुप्त हो गयी थी—साहित्य एव काव्य की उत्कृष्टता की कसौटो ही मान ली गयी थी आत्म-निषेध की भावना। कवि अपने काव्य में अपनी ओर से पूर्णतः मौन था। 'प्राकृत जन गुण-गान' तो एक प्रकार से वर्जित ही हो गया था।

छायावादी कवि ने जहाँ व्यक्ति-व्यक्ति की सत्ता-महत्ता को स्वीकृति दी, वही लघुता और सहज वृत्तियों के महत्त्व को भी मान्यता प्रदान की। उसने न केवल अपने बारे में कहा, वरन् अपनी प्रणयिनी, प्रेयसी, पत्नी, पुत्री आदि के बारे में स्पष्टत' कविताएँ रचीं। 'प्रसाद जी' ने अपनी जीवन-कथा की सीवनों के उधेड कर देखने के सकोच को सँजोये रहकर भी 'अरुण कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया' और 'थके पथिक की पथा की स्मृति के पाथेय' को लक्षणा से व्यजित ही कर दिया है। 'आत्मकथा' नामक रचना उनकी सक्षिप्त किन्तु मर्म-सकेत-पूर्ण आत्मकथा ही है। 'आँसू' के तुम 'सुमन नोचते फिरते, करते जानी अनजानी', 'गौरव था नीचे आये प्रियतम मिलने को मेरे' या नख-शिख-वर्णन-सम्बन्धी 'आँसू' की रूप-चित्रण-परक पंक्तियाँ 'स्व' से ही सम्बद्ध हैं।

'निराला' जी ने 'सरोज-स्मृति' जैसी विस्तृत कविता में अपना तथा अपने परिवार का मार्मिक चित्रण किया है। उनकी आर्थिक दुरवस्था, औषधि-उपचार की अनुकूल व्यवस्था के अभाव में पत्नी के स्वर्ग-वास, पुत्री के पालन, विवाह-व्यवस्था और मृत्यु आदि का बडा ही मर्म-वेधी, सत्य-स्पर्शी एवं करुण वर्णन किया है। यह कविता छायावादी कवि के व्यक्तित्व-विकास, आत्म-सयम और निजता में भी निज से तटस्थता की साधना का अप्रतिम उदाहरण है। पिता पुत्री का यौवनागम वर्णन कर रहा है और वह पिता होकर भी कवि की शुद्ध भूमिका पर अधिष्ठित है। छायावाद पर स्वासक्ति का दोषारोपण करने वाले आलोचकों

के तर्क इस बिन्दु पर आकर ध्वस्त हो जाते हैं। यह अकेला उद्धरण 'निराला' की तटस्थ वैयक्तिकता एवं छायावादी कवि की व्यक्तित्व-साधना की दृष्टि से बेजोड़ है—

"धीरे धीरे फिर चढ़ा चरण,
बाल्य की केलियों का प्रांगण
कर पार, कुञ्ज तारुण्य सुघर
आई, लावण्य-भार थर-थर
काँपा कोमलता पर सस्वर
ज्यों मालकोश नव वीणा पर।"

पुत्री माँ की ही आत्म-विस्तृति है—यह सत्य कौन पिता अपनी युवती पुत्री के प्रकरण में सोचकर झेल सकता है। युवती पुत्री में पत्नी के व्यक्तित्व के विस्तार की चेतना, और वात्सल्य की अक्षुण्ण भावना की अनुभूति कोई विरला ही एक साथ कर सकता है—वही जो साहित्य-योगिराज 'निराला'-सा महद् व्यक्तित्व-शाली हो! पुत्री माता का-सा ही कंठ-स्वर लेकर उतरी है—

"फूटा कैसा प्रिय कंठस्वर
माँ की मधुरिमा-व्यंजना भर।"

क्यों कि वह है—

"वन जन्मसिद्ध गायिका तन्वि,
मेरे स्वर की रागिनी वह्नि।"

—जो है।

'पन्त' जी की 'उच्छ्वास' और 'आँसू' की बालिका तथा 'ग्रन्थि' की नायिका उनके जीवन के जीवित सम्पर्क हैं, क्योंकि 'बालिका मेरी मनोरम मित्र थी।' 'मंजरित आम्र-तरु-छाया में हम प्रिये, मिले थे प्रथम बार'—जैसी पंक्तियाँ कल्पित नहीं, जीवन की स्वानुभूतियाँ हैं।

महादेवी जी के गीतों में 'निजत्व' को न देने का स्वाभिमान, 'उनको' पीड़ा में पाने पर 'उनमें' भी पीड़ा ढूँढने के संकल्प की अभिव्यक्ति, अपने बनने-मिटने के अधिकार की रक्षा, दूरी से ही रस-मग्न बनाये रखने का भाव व्यक्तिवादी युग के साधक के व्यक्तित्व की ही आध्यात्मिक परिणतियाँ हैं। 'पंथ रहने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला' का भाव चाहे जितने गहरे आध्यात्मिक संकेत से गर्भित हो, पर वह आधुनिक युग के मनस्वी व्यक्ति के व्यक्तित्व की भी एक प्रियतर कामना और परिचित-तर साधना है। किन्तु मैं उस सीमा तक जाने का दुस्साहस नहीं कर सकता और न उतनी प्रगतिशीलता का ही

बोझ वहन कर सकूँगा, जहाँ आलोचक यह कह बैठे कि 'सामाजिक रूढ़ियों के प्रहार की आशंका से कवि को वैयक्तिक अनुभूतियों के लिए रहस्यवाद का आश्रय लेना पड़ा।'

जब व्यक्ति के अन्तर पर बहिरारोपित आदर्श प्रस्तर की भाँति भारदायी बन जाते हैं, तब ऐसी स्वाधीन चेतना का जन्म स्वाभाविक है। नवीन ज्ञान-विज्ञान ने व्यक्ति के सामने विस्तृत संसार खोल दिया था। प्रकृति का विशाल क्षेत्र सामने था, जीवन की कितनी ही ग्रन्थियाँ खुल चुकी थीं, फिर उसका मन एक बार अपने बँधे पखों को खोलकर खुली हवा, विस्तृत भूमि और प्रशस्त आकाश में क्यों न विचरण करता। निराला ने 'उद्बोधन' में कहा—

"ताल-ताल से रे सदियों के जकड़े हृदय-कपाट
खोल दे कर कर कठिन प्रहार"

'निराला' के राम नि:सीम भू पर प्रेम उमड़ाने के पक्ष में हैं—

"प्रेम का पयोनिधि तो उमाड़ता है
सदा ही नि:सीम भू पर।"—['पंचवटी-प्रसंग']

फिर यह महाप्राण कवि मानव-मानव के बीच लघु-क्षुद्र बन्धनों को क्यों माने? मानव के मानवत्व का वह समर्थक है, अतः—

"जो करे गंधमधु का वर्जन
वह नहीं 'भ्रमर',
मानव मानव से नहीं भिन्न
निश्चय ही श्वेत, कृष्ण अथवा,
वह नहीं क्लिन्न
भेद कर पंक
निकलता कमल जो मानव का
वह निष्कलंक
हो कोई सर।" ['सम्राट् एडवर्ड अष्टम के प्रति']

'पल्लव' के प्रवेश में 'पन्त' जी ने तत्कालीन घुटन और विक्षोभ को स्वर दिया है—"हम इस ब्रज की जीर्ण-शीर्ण छिद्रों से भरी पुरानी छींट की चोली को नहीं चाहते, इसकी संकीर्ण कारा में बंदी हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिसक उठती है, हमारे शरीर का विकास रुक जाता है।" 'प्रसाद' जी ने 'इन्दु' (१९०९ ई०, प्रथम अंक) में लिखा—"साहित्य स्वयं स्वतंत्र प्रकृति, सर्वतोगामी प्रतिभा के प्रकाशन का परिणाम है। वह किसी भी परतन्त्रता

को सहन नहीं कर सकता। संसार में जो कुछ सत्य और सुन्दर है, वही साहित्य का विषय है।"

महादेवी वर्मा अपने 'मूक मिलन' की बातों को सपना मानने को तैयार नहीं हैं, क्योंकि जैसे फूल की हँसी और उस पर निहित ओस के अश्रु मिथ्या नहीं हैं, वैसे ही साधिका के वियोगजनित अश्रु और मिलनाशा के हास भी जब उसके आँखों-अधरों पर सत्य हैं, तो यह पीड़ा और उल्लास एवं इनके आश्रय तथा आधार भी मिथ्या कैसे ?

"कैसे कहती हो सपना है
अलि उस मूक मिलन की बात !
भरे हुए अब तक फूलों में
मेरे आँसू, उनके हास।"—['नीहार']

महादेवी के गीतों में आत्म स्थापना का यह बल अनेक स्थानों में पाया जाता है। 'अनन्त' और 'असीम' में मिलकर उनका व्यक्तित्व अपने जड़ बन्धन खोल लेता है।

'प्रसाद' की 'कामायनी' का मनु भी आत्म-प्रसार-कामी है। वह प्रकृति के मुक्त क्षेत्र में अपने को ढूँढता है। 'प्रसाद' जी स्वयं अपने नाविक से वहाँ ले चलने को कहते हैं—

"जिस निर्जन में सागर-लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी
निश्चल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।"
ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे।"—['लहर']

तभी तो वे उस एकान्त के लिए विकल हैं जहाँ 'साँझ की जीवन-छाया अपनी 'कोमल काया' ढील दे।

इस प्रकार छायावादी कवि व्यक्ति के निजी, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन में सर्वत्र मुक्ति का अभिलाषी है, स्वाधीनता का याची है। यह स्वाधीनता उसे प्रकृति के विशाल क्षेत्र की ओर भी रमाती है और अपने अन्तर्जगत् के कोनों में भी विचरण कराती है।

'पन्त' जी तो सुख-दुःख से पीड़ित इस संसार में सुख को दुःख और दुःख को सुख में बाँटकर व्यक्ति-व्यक्ति के समभाव की अभिलाषा व्यक्त करते हैं। व्यक्ति की सत्ता मान लेने पर कवि के मन में यह इच्छा स्वाभाविक है कि—

"देखूँ सबके उर की डाली ।
किसने क्या-क्या चुन लिये फूल—"

—['गुंजन']

छायावादी कवि व्यक्ति और समाज के जिस प्रेरक चित्र से प्रणोदित है, वह जन-तन्त्र और व्यक्ति-स्वाधीनता-मूलक प्रजातान्त्रिक आदर्श है, जहाँ सबके सपनों का महत्व है और सबके साँसो का अपना सगीत, तभी तो महा देवी जी कहती हैं—

"सब आखों के आँसू उजले
सबके सपनों में सत्य पला"

सबके आँसुओं के उजलेपन का यह पावन विश्वास और सबके सपनों में सत्य के अनुभव की स्वीकृति का यह आदर्श इस सम्पूर्ण छायावादी काव्य का एक आस्था-सूत्र कहा जा सकता है।

नवीन शास्त्रीय अनुसधान एवं ज्ञान की नव्य उपलब्धियों का प्रभाव भी 'छाया'-काव्य पर पड़ा है। वस्तुतः उस युग के जीवन ने जिस भी क्षेत्र से जो रश्मियाँ पाई थीं, उन सबका योग उस विशिष्ट मनः-सघटन के निर्माण में समाया हुआ है। अंग्रेजी के 'रोमानी पुनर्जागरण-काल' का ही नहीं, मानव-सत्ता, उसके उद्भव, विकास और विस्तार पर आलोक-पात करने वाली उन समस्त ज्ञान-शाखाओं का भी प्रभाव इस काव्य के मूल में सचरित है जो मानव-मन-मस्तिष्क की स्वतंत्रता की ओर अग्रसर कर सकी थीं। नवीन मनोवैज्ञानिक खोजें, जीव-तत्व-शास्त्र के अन्वेषण तथा मानव-जीव-शास्त्र (ऐंथ्रापॉलॉजी) की प्राप्तियाँ भी कवि को प्रेरित कर रही थीं। अपनी इच्छाओं, मूलवृत्तियों, वासनाओं और अतृप्त कामनाओं के विश्लेषण-विवेचन से उसमें नवीन आत्म विश्वास और अभिनव आस्था शीलता उत्पन्न हो गयी। धर्म, नीति-शास्त्र, आचार आदि की नवीन व्याख्याएँ उसे नया बल दे सकीं और अब वह पाप-पुण्य के नये दृष्टि-कोण के आधार पर व्यक्ति और समाज के नये सम्बन्धों के जोडने की ओर प्रस्थित हुआ। रूढियाँ टूट रही थीं और प्राचीन परपराएँ अपना मर्म खोलती जा रही थीं। विज्ञान-प्रदत्त नई जानकारियों ने कितनी ही वस्तुओं के प्रति धारणाओं को आमूल परिवर्तित कर दिया था। स्वर्ग और नरक की धारणायें पृथ्वी गत लगने लगीं। जीवन-जगत् के प्रति एक ऐहिक विश्वास जग गया। नये विधि निषेध निर्मित हुए, नयी यात्राएँ आरम्भ हुईं। कर्म का फल अब इहलौकिक माना जाने लगा। भाग्यवाद की निराशा जड से सचल हो चली, मनुष्य अपने को आत्म-निर्माता समझने लगा। व्यक्ति समाज की रचना तथा

व्यवस्था का जीवित स्रोत अनुभव किया जाने लगा। मानव स्रष्टा और कर्ता के स्थान में आ खड़ा हुआ। इस प्रकार मानव की स्वाभाविक चिन्ता को बाँध कर खड़ी युगों के संस्कारों की दीवालें टूट चलीं। यूरोपीय विज्ञान ने मानव-विश्वासों की जड़ें हिला दीं। पुरातत्व की उपलब्धियों और मानव विज्ञान ने मानव-मानव के आन्तरिक साम्य और शेष सृष्टि के साथ उसके सम्बन्ध को स्पष्टतर कर दिया। कवि नवीन राहों के अन्वेषी बने। साधारणीकरण के स्थान पर विशिष्टीकरण, शील-सामान्यता के स्थान पर व्यक्ति-वैचित्र्य और वर्ग-सादृश्य की जगह पर मौलिक प्रयासों का महत्त्व बढ़ गया।

बौद्ध-दर्शन और करुणा की भावना के गौरव की स्वीकृति भी इस युग की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में सक्रिय रही है। कर्म की महत्ता, दूसरों के प्रति करुणा और सहानुभूति, आत्म-परिष्कार और पर-साहाय्य के भाव लोक-प्रिय बने। जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने अपने समय में वैदिक कर्मकाण्ड की निरपेक्षता को समाप्त कर पर-दुःख-मोचन तथा पर-सेवा को आदर्श मानकर लोक-हितकारी कर्म को ही अनुगमनीय घोषित किया था, उसी प्रकार यह युग भी लोक-सेवा, समाज-कल्याण और अहिंसा के साथ कर्मण्य हो उठा। 'प्रसाद' जी के 'आँसू' में 'करुणा का उजाला', 'कल्याणी शीतल ज्वाला' और लोक-सेवा के भाव परि-स्फुट हुए हैं। 'दुख-दग्ध' जगत् को सुखी करने के लिए उसमें पावन संकल्प व्यक्त हुए हैं। कवि को इस 'वेदना वाले संसार' से पूर्ण समवेदना है। 'प्रसाद' जी ने 'अरी वरुणा की शान्त कछार' और बुद्ध के प्रति निवेदित रचनाओं में उनकी पर-दुःख कातरता और लोक-मंगल-भाव को श्रद्धांजलि अर्पित की है। 'निराला' जी ने भी बुद्ध के प्रति भाव-सुमन चढ़ाये हैं। महादेवी तो करुणा की स्रोतस्विनी ही हैं, बुद्ध के आदर्शों के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा है।

महात्मा गांधी के सत्य, अहिंसा, असहयोग तथा सविनय अवज्ञा के आदर्श भी इस युग में काव्य-प्रेरणा रहे हैं। सभी छायावादी कवियों ने महात्मा जी के प्रति श्रद्धा अर्पित की है। 'पन्त' जी ने 'युगान्त', 'युग-वाणी' और 'ग्राम्या' में महात्मा जी के विशाल और युग-व्यापी व्यक्तित्व को शब्दालोकित करने का प्रयास किया है। अपनी भूमिकाओं में उन्होंने गांधी जी की प्रेरणाओं के महत्त्व को स्वीकार किया है। गांधी जी का महान व्यक्तित्व और उनका सन्देश इस युग की एक महान देन है, अगली पीढ़ियों के लिए भी वह एक बहुमूल्य अवदान होगा। केवल इस देश ने ही नहीं, विश्व ने उनके आदर्शों की ख्याति का बल स्वीकार किया है। वस्तुतः मार्क्स, आइन्स्टाइन और गांधी इस युग के तीन महान् अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व हैं। भारत ने तो इस महानात्मा की पावन छाया

में शतियों की दासता के काले बन्धनों को काटकर स्वतत्रता की पुण्य वेदी पर अपना पूजा फूल चढाया है। विज्ञान और वितर्क के इन अनास्थाशील युग में उनकी आस्था-आस्तिकता-मयी वाणी ने मानव-हृदयों में मानवता के पावन आदर्शों के प्रति पुनः विश्वास और श्रद्धा-भाव जगा दिया है। नास्तिक भी उनके आस्तिक्य के सामने झुके हैं। राजनीति (जहाँ कहा जाता था कि प्रेम और राजनीति में कुछ भी अन्याय्य नहीं है) को भी उच्च मानवीय मूल्यों की आभा से अभिषिक्त कर उन्होने युगों की असम्भावना को सम्भावना का सत्य बना दिया। सर्वोदय और मानव भ्रातृत्व के ऊँचे आदर्शों ने वर्ग-विद्वेष एवं शंका से जर्जर युग के धडकते हृदय को सिहलाकर सान्त्वना दी है। गाधी के भारतीय राजनीति में आते ही उनके व्यक्तित्व और आदर्शों की ज्योति हिन्दी-काव्य में भी उतरी है। छाया-युग राजनीति का गाधी-युग ही रहा है। इसी से पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी जैसे आलोचक साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन में, इस युग का नाम (जहाँ तक मुझे स्मरण है) गाधी-युग भी रखने का सुझाव देते हैं।

'पन्त' जी ने ['अर्चना के फूल' नामक विविध कवियों के 'बापू'-सम्बन्धी कविता-सकलन में आयी 'गाधी-युग' कविता में] अपनी कविताओं में गाधी-युग के अवतरण का चित्रण किया है—

"देख रहा हूँ शुभ्र चाँदनी
का-सा निर्झर
गांधी-युग अवतरित हो रहा
इस धरती पर
विगत युगों के तोरण, गुम्बद,
मीनारों पर
नव प्रकाश की शोभा-रेखा
का जादू भर।
संजीवन पा जाग उठा फिर
राष्ट्र का मरण;
छायाएँ-सी आज चल रहीं
भू पर चेतन,—
जन-मन मे जग, दीप शिखा के
पग धर नूतन

भावी के नव स्वप्न धरा पर
करते विचरण !
सत्य अहिंसा बन अन्तर—
राष्ट्रीय जागरण
मानवीय स्पर्शों से भरते
हैं भू के व्रण !"
—['अर्चना के फूल—पृ० २]

'नवीन' जी गाधी के विचारों को 'मानवता की निधि' मानते हैं—

"वे मानवता की छाती हैं,
वे मानवता की निधि हैं;
देव, तुम्हारे प्राण तुम्हारे
अपने नहीं किसी विधि हैं !"
—[वही—पृ० ६]

'गुप्त-बन्धु' (श्री मै० श० गुप्त एवं सि० रा० श० गुप्त) तथा पं० सोहन लाल जी द्विवेदी ने गांधी-आदर्शों से अपने काव्य-कलेवर को सप्राण किया है। डा० रामकुमार वर्मा ने उन्हें युग-युग जलता प्रदीप माना है—

"इस तरह युग-युग जला वह
देश के निर्माण में !
आज कैसी ज्योति है इस
दीप के निर्वाण में।"
—[वही—पृ० १८]

श्री भगवती चरण वर्मा ने 'बापू' को 'शिव' कहा—

"हिंसा का वह गरल कि जिससे
झुलस रही मानव की आत्मा
तुम शिव बनकर उसे पी गये
तुम हे निस्पृह, हे निष्काम !"
—[वही—पृ० २२]

गांधी जी के अन्त पर 'बच्चन' जी का कवि भी बोल उठा—

"हो गया क्या देश के
सबसे सुनहले दीप का निर्वाण !"
—[वही—पृ० ३०]

नरेन्द्र शर्मा के शब्दों में महात्मा जी 'अग्नि हंस' थे—

"अग्नि हंस उड़ गया, चिता
बुझ गयी अगरु-चन्दन की,
भस्म हो चुकी भस्म-काम
काया भी राष्ट्र पिता की;
अब न देह-गत आत्मा उनकी,
अब न कण्ठ-गत वाणी,
रही न सीमित ज्योति-पिंड मे
द्युति भारत-सविता की।"

—[वही—पृ० ३७]

सुश्री सुमित्रा कुमारी सिनहा की उक्ति कितनी सत्य-प्राणा है—

"तुम जहाँ गिरे वह केन्द्र हुआ
ऊँचा उठने का मानव का,
शोणित बूँदों ने धो डाला
सब पाप विश्व के दानव का।"

—[वही—पृ० ४५]

श्री बालकृष्ण राव जी 'बापू' के लिए अश्रु-अंजलि चढाने वालों को पावन मानते हैं—

"दे तुम्हें अंजलि हुए हैं
अश्रु जग के आज पावन;"

[वही पृ० ५२]

श्री शिवमंगल सिंह 'सुमन' के कवि का पावन संकल्प प्रणम्य है—

"यदि हम हैं, देव, तुम्हारे ही
जोते-बोये-सींचे अकुर,
यदि हम में देव तुम्हारी ही
मिट्टी की सचित शक्ति मुखर,
तो, बापू, हम निर्द्वन्द्व
तुम्हारे आदर्शों की छाया मे,
यह दीपक सत्य अहिंसा का
पलभर न कभी बुझने देंगे।"

[वही, पृ० ८०]

श्री शम्भूनाथ सिंह 'बापू' को मरा मानते ही नहीं, क्योंकि वे तो कोटि-कोटि कंठ में समा गये—

"मरा न काम रूप कवि अमर,
कि कोटि-कोटि कंठ में हुआ मुखर;
मिटा न, काल का प्रवाह बन घिरा
अनादि अन्तरिक्ष में अनन्त स्वर।
न मंत्र स्वर-अमृत सँभाल मृण्मयी धरा सकी;
त्रिकाल रागिनी अकूल सृष्टि-बीच छा गयी !"

[वही, पृ० ९३]

श्री ठाकुरप्रसाद सिंह 'अग्रदूत' ने 'महामानव' नामक एक पृथुल प्रबन्ध ही रचा है। महात्मा जी के जीवन की विविध घटनाओं को लेकर कितने ही प्रबन्ध प्रणीत हुए हैं। वे 'युगावतार' 'युग मानव', 'युग-देवता' और 'पूर्ण पुरुष' आदि विशेषणों से पुकारे गये हैं। उन्होंने अपने आदर्श, व्यवहार और व्यक्तित्व की पावन त्रिवेणी से युग—चेतना को ज्योति-स्नात, अधोविचारों को ऊर्ध्वोन्मिष, चरित्र को सत्य-मुखी और जन-जीवन की अँधियाली रातों को इतिहास के नये मोड़ का सुनहला प्रात प्रदान किया है। अछूतों और नारी के प्रति सहानुभूति-भाव, स्वस्थ राष्ट्रीयता का उद्बोध, सहज जीवन की पुकार, प्रकृति का सान्निध्य, लघुता की ओर दृष्टिपात, वस्तु की स्थूलता के भीतर से उसके अन्तरंग सूक्ष्मार्थ को पकड़ने की प्रवृत्ति, प्राकृत प्रवृत्तियों के परिष्करण का कोण, भौतिकता के समक्ष व्यक्ति के आन्तरिक आत्म-विश्वास का जयघोष, सभी कुछ गांधीवादी जीवनादर्शों की उज्ज्वलता में एकस्वर-एकतान अनुस्यूत होने लगता है। मेरी दृष्टि में, कुछ-एक अपवादों-अवशमनों (इक्सेप्शन्स एंड मोडरेशन्स) के साथ जो अनेक विषमताओं के बीच गांधी जी के व्यक्तित्व के सामंजस्य को हृद्गत कर लेगा, वह अनेकानेक विरोधों एवं विरोधाभासों की पृष्ठ भूमि से निःसृत इस छायावादी काव्य-स्रोत का सामंजस्य-स्वर भी पकड़ लेगा। समाज और राजनीति की भूमि पर प्रसरित गांधीवाद और साहित्य और कला की धरती पर प्रच्छायमान छायावाद, एक ही जीवन-परिस्थितियों और ऐतिहासिक आह्वानों के तने के दो प्रक्षेप हैं। समाज के मूल में सुलगती एक ही आग, जन-मानस में घुमड़ती एक ही क्रान्ति, वैषम्य को साम्य पर सन्तुलित करने की एक ही युगेच्छा इन दोनों के मूल में क्रियमाण थी।

'प्रसाद' जी ने सन् १९१० की 'इन्दु' में कहा था—"शृंगाररस की मधुरता का पान करते-करते आपकी मनोवृत्तियाँ शिथिल हो गयी हैं, इस

कारण आपको भावमयी, उत्तेजनामयी, अपने को भुला देने वाली, कविताओं की आवश्यकता है। अस्तु धीरे-धीरे जातीय संगीतमयी, वृत्तिस्फुरणकारिणी, आलस्य को भग करने वाली, आनद बरसाने वाली, धीर-गम्भीर-पद-विक्षेपकारिणी, शान्तिमयी कविता की ओर हम लोगों को अग्रसर होना है।"

जातीयसगीत, वृत्ति-स्फुरण, आलस्य-भग, उत्तेजना—आदि शब्द यह संकेत करते हैं कि 'प्रसाद' जी की चेतना केवल कला की सीमा में ही विचरण करने वाली नहीं, वरन् उसका एक कर्मठ, जातीय और जागरण-मुखी उद्देश्य भी था। उनकी सास्कृतिक पुनस्सघटन की दृष्टि उनके 'रहस्यवाद' लेख से और अधिक स्पष्ट हो जाती है, जिसमें उनकी दृष्टि अपने सीमित परिदृश्य को छोडकर आधुनिक युग से वैदिक इतिहास-पथ के समग्र विकास का लेखा-जोखा लेने लगी है। 'प्रसाद' आत्म-वादी धारा के समर्थक थे। आत्मानन्द का उन्मीलन उनकी काव्य-सृष्टि का सचेत लक्ष्य था। अपनी 'जयशकर प्रसाद' पुस्तक में प० नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'प्रसाद' की सास्कृतिक दृष्टि का प्रतिपादन किया है, जो सत्य ही है। व्यक्ति और समाज, नर और नारी, पुरुष और प्रकृति, श्रद्धा और बुद्धि, धर्म और विज्ञान, आदर्श और यथार्थ, सिद्धान्त और व्यवहार, अन्तर् और बहिर्, ग्राम और नगर के बीच सन्तोलक मूल्यों के नव-संघटन की आवश्यकता समाज के भीतर घुमड रही थी। मानव-मूल्यों के बीच एक वैषम्य मुखर हो गया था। देवत्व और राक्षसत्व की छोर-वादी आदर्श-कल्पनाओं के बीच मानव मूल्य का प्रतिमानीकरण इस युग के भाव-विचार-सजग मनों की स्वाभाविक प्रतिक्रिया था।

एक बात पर हमें सदैव ध्यान रखना चाहिए कि छायायुगीन काव्य-धारा किसी एक पूर्व-निश्चित वाद और सुनिर्धारित आन्दोलन का साहित्यिक सम्प्रदाय नहीं है। एक समान परिस्थिति में समशील जीवन-कामी मनों मे जितनी प्रकार की प्रतिक्रियाएँ सामान्य रूप से जग सकती हैं और उनमें जितने साम्य-सामजस्य की प्रत्याशा की जा सकती है, छायावाद उससे च्युत नहीं है। ये जीवन और मानवीयता के समर्थक तथा उसे सुखकर, शुभकर, शिवकर और सुन्दरतर बनाने के अनुष्ठाता थे। उस काल के अनेक-कोणीय जीवन-विस्तार में, अपने प्राप्त परिप्रेक्षित के आधार पर इन कवियों ने सत्य और शिव की सुन्दरता का भावनोद्भावन किया, यह साहित्य किसी निश्चित तिथि-काल में, एक निश्चित और निर्धारित नीति-घोषणा एव उद्देश्य-कथन के साथ नहीं प्रारम्भ हुआ था। अपने अपने स्थानों से अपनी अपनी सीमाओं में, प्राचीन और नवीन से एक सप्राण एव गतिशील इकाई के रूप में, हर कवि

ने जो अनुभव किया, उसे स्वानुभूतिक भाषा में व्यक्त करने का प्रयास किया। इतना निश्चित सत्य है कि इनकी अनुभूतियों के पीछे केवल निरी वैयक्तिक (मोस्ट परसनाल) स्थितियाँ और कारण न थे। चाहे वह विद्रोह रहा हो या नवीन सामञ्जस्य की माँग, उसमें नवीन सांस्कृतिक सन्तुलन के अभाव की अनुभूति और उसकी पूर्ति की कामना निस्सन्देह प्रतिक्रिया-शील थी।

प्रयाग की 'साहित्यकार' पत्रिका के सं० १९५५ के अंक में अपनी सर्वोत्तम रचना पर प्रकाश डालते हुए कविवर 'पन्त' ने पृ० ९ पर जो लिखा है, वह छायावादी काव्य के एक प्रतिनिधि और प्रस्थानक कवि के नाते उसके सांस्कृतिक मूल्य पर निर्भ्रान्त रूप से प्रकाश-पात करता है—"हिन्दी हम लोगों के लिए मातृ-भाषा ही नहीं, एक नई चेतना, नई प्रेरणा का प्रतीक बनकर आयी थी। देश में सर्वत्र, सभी क्षेत्रों में, नवीन जागरण की लहर दौड़ रही थी, नवीन अभ्युदय के चिह्न उदय हो रहे थे, हमने उस जागरण, उस अभ्युदय को हिन्दी रूप में ही पहचाना था। उसी सर्वतोमुखी सशक्त जातीय अभ्युत्थान की चेतना को वाणी देने के प्रयत्नों में हिन्दी का भी कण्ठ फूटा था। आगे पृ० ९–१० पर उन्होंने सशक्त जातीय अभ्युत्थान को और अधिक स्पष्ट किया है—"इस प्रकार हमारे युग की कविता...जो छायावादी कविता कही जाती है, जहाँ एक ओर राष्ट्रीय अभ्युत्थान के गीत गुनगुना रही थी, वहाँ मुख्य रूप से वह भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण को ही मुखरित करने में संलग्न थी।" उन्होंने जिसे भारतीय चेतना की गहराइयों में नवीन रागात्मकता की माधुर्य ज्वाला, नवीन जीवन-दृष्टि का सौन्दर्य-बोध तथा नवीन विश्व-मानवता के सपनों का आलोक उड़ेलना कहा है, वह सांस्कृतिक चेतना के उद्बोध का ही सूचक है। श्री 'दिनकर' जी ने अपनी पुस्तक 'मिट्टी की ओर' में प्रगतिवाद को भी छायावाद का ही अग्र-विकास माना है। स्वयं 'पन्त' जी भी अपने इस लेख में छायावादी जागरण के दो पक्ष मानते हैं, एक मानवीय जागरण और दूसरा, जन-जागरण—जो क्रमशः सत्य और यथार्थ के खोज मार्ग हैं और जिनमें वैयक्तिक क्षुद्र अहंता का परित्याग था। 'पन्त' जी ने यह स्पष्टतः परिघोषित किया है कि उनकी प्रिय-अप्रिय की भावना व्यक्तिगत रुचि से सञ्चालित न होकर, नवीन मान्यता सम्बन्धी दृष्टिकोण से शासित हुई है। यह नवीन मान्यता और कुछ नहीं, तत्कालीन परिस्थिति में प्राप्त एवं नवोदित आलोकों की झाँकियाँ ही थीं, जिसे कवि ने प्राचीन और नवीन की भूमियों पर देखा था।

छायावादी कवि पाश्चात्य प्रजातंत्र-वाद, स्वच्छन्दतावाद या रोमान-वाद (रोमाञ्चकवाद भी कहा जाता है) और फ्रांस की स्वाधीनता एवं अंगरेजी

काव्य की रोमानी-जागर्ति-कालीन रचनाओं से भी प्रेरित हुआ था, क्योंकि विश्व को छा लेने वाली वैज्ञानिक बुद्धिवादिता से एक भारत ही अछूता कब रह सकता था। ये विचार-तरंगें विश्व के आकाश में प्रकाश लहरों की भाँति आवर्त्तमती हुआ करती हैं। इन लहरों ने त्रिदिवप्रसूता सिन्धु-सीमाओं एव हिमाद्रि के अरुण-चुम्बी शिखरों को पार कर वैदेशिक सम्पर्कों के माध्यम से भारत में भी प्रवेश किया, किन्तु उन लहरों ने भारत को जिस प्रकार यूरोप नहीं बना दिया, उसी प्रकार हिन्दी के छाया-कालीन कवि भी अभारतीय नहीं बन गये थे। जहाँ तक उन नवीन जीवन-बोधों ने भारतीय समाज-व्यवस्था और सघटन-तत्र को स्पर्श किया था, वहाँ तक इन कवियों में नवीन सन्तुलन की माँग का प्रश्न उठाना यथार्थ-सम्मत और तर्कानुमोदित ही था। अपने 'श्रीशारदा' के १९२०, सितम्बर-अक के लेख में प० मुकुटधर पाण्डेय ने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे समर्थन और विरोध की द्विधा से सर्वत्र मुक्त नहीं हैं, फिर भी उसमें भी छायावादी काव्य-स्रोत के पीछे सक्रिय सामाजिक यथार्थ के संकेत जाने-अनजाने रूप से उभर ही आये हैं। जहाँ एक ओर अगरेजी और बगला-साहित्य से कुछ भी परिचय होने के साथ, 'छायावाद' को अगरेजी के 'मिस्टिसिज्म' का पर्याय मान ही लेने की अनिवार्यता, छायावाद को माया-मय सूक्ष्म वस्तु मानना, साकेतिकता (व्यजना) को शब्द का अस्वाभाविक मूल्य मानना, वस्तु को प्रकृत रूप में न देखना, छायावादी कवियों की कविता-देवी की आखों का मृत्युलोक से सम्बन्ध तोडकर सदैव ऊपर ही उठी रहना, बुद्धि और ज्ञान की सामर्थ्य-सीमा को अतिक्रमण कर मन-प्राण के अतीत लोक में विचरण-आदि पद-प्रयोग छायावाद के प्रति 'पाण्डेय' जी के पूर्वाग्रह और अरुचि के सकेत हैं, वहीं दूसरी ओर, रीति-ग्रथों की परतत्रता से मुक्त होकर भाव प्रकाशन की मौलिकता, रचना में कवि की अन्तरग दृष्टि का महत्व, आत्मिकता और प्रकृति की प्रतीकात्मकता और भाव-प्रकाशन के नवीन मार्गों के अनुसन्धान की वाछनीयता-आदि ऐसी विशेषताओं के सकेतक वाक्य-खण्ड हैं, जिनका सम्बन्ध तत्कालीन ऐतिहासिक परिपार्श्व और सामाजिक परिवेश से है।

प्रश्न उठता है कि अन्ततः छायावादी कवि पर नवीनता का यह भूत क्यों चढा और इस भूत को, शास्त्रीयता और भारतीयता की दुहाई देने को ही सर्व रोगों का महामत्र मानने वाले साहित्य के ओझा-सोखा क्यों नहीं उतार सके? इस समाज ने क्यों उस भूत को अपने सिर ले लिया? जब सत्य के महा-साक्षी और तथ्य के महा-प्रमाणक इतिहास ने उस पर बाद की पीढ़ियों की स्वीकृति-

मुद्रा अंकित कर दी, तो यह सब हेय, अ-श्रेय और परित्याज्य ही क्यों हुआ ? समाज द्वारा नवीन के प्रकार का शिरोधारण, प्रचलित प्राचीन की पूर्ण न सही तो आंशिक अनुपयोगिता तो सिद्ध ही कर देता है। अभिव्यक्ति और रूप साहित्य के मूल प्राण न होकर भी, उस प्राण के साक्षात्कृत होने के अनिवार्य और अपरिवर्त्तनीय माध्यम हैं। अपनी अनुभूतियों के प्रत्येक रेखा-कोण की अभिव्यक्ति के प्रति सजग और कथा के प्रति सत्यशील अभिव्यक्ति-कर्त्ता इसे भली-भाँति जानता है कि भाव-विचार और उनकी रूपाभिव्यक्ति में किस प्रकार प्राण-काया का सम्बन्ध है। भाव प्रकाशन के नये मार्ग, बदले हुए अनुभूयमान सत्य और उसके अनिवार्यतः उचित रूपायण की समस्या के यथा-साध्य समाधान होते हैं। भाव-प्रकाशन की रीति में छाया-युग की शक्तियाँ और अशक्तियाँ दोनों ही स्वाभाविक हैं, किन्तु अशक्तियों की गंध-सम्भावना पर ही मानवता आत्माभिव्यक्ति के असमापनीय प्रयास से विरत होकर बैठ जायगी, ऐसा कदाचित् सम्भव और सम्भाव्य भी नहीं है।

काशी के 'छायावाद-विरोधी मण्डल', 'सुधा', 'विशाल भारत' और 'प्रभा' पत्रिकाओं से उठे विरोध-प्रयास तथा आचार्य 'शुक्ल' की शास्त्रीय आभिजात्य की भूमिका से उठे उत्पाटन-धराशायन के भारी-भरकम प्रायोजन अब भी समाप्त नहीं हैं। छायावादी काव्य की युग-स्वीकृत शक्तियाँ नहीं, सीमाएँ और अशक्तियाँ ही इन अभिजात विद्वानों की स्थिति-भूमियाँ हैं। 'गड्डलिका-प्रवाह' (प्रचलन) और अनुकृति को प्रस्थान-विन्दु मानकर चलने वाले हिन्दी आलोचकों में आचार्य 'शुक्ल' के समर्थ शिष्य आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद जी 'मिश्र' हैं। अपने 'वाङ्मय-विमर्श' (प्रथम संस्करण, मार्गशीर्ष संवत् १९९९) में मिश्र जी ने पृ० ३२८ पर लिखा है कि "सीधे अंगरेजी के सम्पर्क में आ जाने से वहाँ की लाक्षणिकता की ओर, बँगला के साहचर्य से मधुर पदावली के विधान की ओर तथा उर्दू के लगाव से उसकी शायरी की बन्दिश एवं वेदना की विवृति की ओर कवि लोग स्वभावतः आकृष्ट हुए। विलक्षणता के साथ-साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रहस्यमयी कविताओं के अनुकरण पर हिन्दी में भी रहस्यवाद की कविताएँ प्रकाशित होने लगीं।" आचार्य 'मिश्र' जी भी 'छायावाद' को बँगला-शब्द मानने की ओर झुके दिखाई पड़ते हैं—"नवीनता की रुचि तो यहाँ तक बढ़ी कि लोगों ने छन्द का बन्धन तोड़ कर केवल नाद के आधार पर छोटी-बड़ी पंक्तियों में अपना-अपना राग अलापना आरम्भ किया। इस प्रकार की कविताएं बँगला की देखादेखी छायावाद की कविताएँ कही जाने लगीं।" इस प्रकार यहाँ दुःख-वाद, निराशा-वाद और वेदना-वाद

के नामों पर छायावादी 'वस्तु' विदेशी और लाछित घोषित की गयी, वहीं 'रूप' के नाम पर गीत-गायकों के रोक-छेक के अभाव पर खेद प्रकट किया गया। विरोध के लिए इतनी-सी भूमि भी आवश्यक समझी गयी कि पाश्चात्य देशों में गीतों का विरोध हुआ है और पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्र में 'सब्जेक्टिव'—'आब्जेक्टिव' का वर्गीकरण तात्विक नहीं प्रतीत होता! इस युग के बारे में डा० प० जगन्नाथ शर्मा और पं० करुणापति त्रिपाठी जी भी थोडा-बहुत परिवर्तन-परिवर्धन के साथ छायावाद के उद्भव पर एकदिक् हैं।

इसके काफी पूर्व, पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' जी ने प्रारम में असन्तुष्ट रहकर भी, छायावाद को उसके ऐतिहासिक परिवेश में अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक दृष्टि से देखा है। 'बाबू रामदीन सिंह रीडरशिप' के सम्बन्ध में दिये गये अपने व्याख्यान-माला में, जो बाद को 'हिन्दी-भाषा और साहित्य का विकास' नाम से इतिहास-ग्रन्थाकार छपा और सम्वत् १९९७ में जिसका द्वितीय सस्करण भी हुआ, 'हरिऔध' जी ने कहा है कि "वास्तव में बात यह है कि इस समय हिन्दी-भाषा का कविता-क्षेत्र प्रतिदिन छायावाद की रचना की ओर अग्रसर हो रहा है। इस विषय में वाद-विवाद भी हो रहा है, तर्क, वितर्क भी चल रहे हैं, कुछ लोग उसके अनुकूल हैं। और कुछ प्रतिकूल। कुछ उसको स्वर्गीय वस्तु समझते हैं और कुछ उसको कविता भी नहीं मानते। ये झगडे हों, किन्तु यह सत्य है कि दिन-दिन छायावाद की कविता का ही समादर बढ़ रहा है। यह देखकर यह स्वीकार करना पडता है कि उसमें कोई बात ऐसी अवश्य है, जिससे उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है और अधिक लोगों के हृदय पर उसका अधिकार होता जाता है (वही, पृ० ५९०)।

'हरिऔध' जी योरोप के रहस्यवाद को उमरखैय्याम के अनुवादों द्वारा और अधिक प्रेरित मानते थे। रवीन्द्र पर कबीर का प्रभाव मानते थे और रवीन्द्र द्वारा छायावाद को प्रभावित स्वीकार करते थे। वे इस नये रहस्यवाद (छायावाद) को जायसी आदि के सूफी विचारों के विकास की परपरा में भी देखते थे। 'हरिऔध' जी छायावाद के प्रसार का कारण उसकी लोक-प्रियता ही मानते थे। कारणों की अधिक गहरी सामाजिक-सास्कृतिक छानबीन में तो वे न उतरे, पर छायावाद के रीतिकालीन शृगार-विरोधी तत्व से वे भी परिचित थे और उसके साथ सहमत भी थे। उन्होंने पृ० ५९२ पर 'द्विवेदी'-युगीन वस्तुप्रधानता के विरुद्ध उठी भाव-प्रधानता और काव्य में व्यजना और ध्वनि की प्रमुखता के कारण भी छायावाद का अभिनन्दन किया था।

अपने समय के विचारकों में 'हरिऔध' जी काफी उदार और सत्य-स्वीकारी थे। 'छायावाद' शब्द के आगमन-स्रोत पर वे भी अनिश्चित थे। उन्होंने उस काव्य के लिए 'हृदयवाद' और 'प्रतिबिम्ब-वाद' तथा 'रहस्यवाद' जैसे पर्याय भी प्रचलित बतलाये हैं और अन्त में उन्होंने वह निर्णय लिया, जिसे विवश होकर अनेक कठिनाइयों के समाधान के लिए बाद की पीढ़ी ने इतने विचार मंथन के पश्चात् प्राप्त किया। उन्होंने कहा कि 'ऐसी अवस्था में मेरा विचार है कि 'छायावाद' ही नाम नूतन प्रणाली की कविता का स्वीकार कर लिया जाय।' कई पृष्ठों में विवेचना और विश्लेषण की तर्क-प्रणाली पर उन्होंने 'रहस्यवाद' के दर्शन और उसकी काव्यानुभूति का समर्थन भी किया। छायावाद की ध्वनि-प्रधानता, वस्तु में अन्तः-प्रवेश, अन्तर्वृत्तियों को साकार रूप देने और प्रकृति में अपनी सत्ता के आरोप आदि की जहाँ प्रशंसा की, वहाँ अति कल्पना-शीलता, प्रत्यक्ष रूप में देश-समाज की दुरवस्था के प्रति उदासीनता आदि पर आक्षेप भी किये।

सहानुभूति रखते हुए भी 'हरिऔध' जी छायावादी काव्य के मूल में सजग सामाजिक यथार्थ की प्रतिक्रिया और व्यक्ति और समाज के भीतर सञ्चरित सूक्ष्म भावात्मक क्रान्ति की गहराई तक न जा सके। वस्तुतः वे पुनरुत्थानवादी और भारतीय अतीत के प्रति अत्यधिक श्रद्धालु व्यक्ति थे। उनकी भारतीय सात्विकता ने (क्लासिकालिज्म) उनकी सहृदयता और सदाशयता को तो द्रवित होने दिया, पर बुद्धि और विचार से वे छायावाद के साथ चरण मिला कर न चल पाये। सचाई यह है कि तत्कालीन जड़ पुरातनवादिता और कट्टर जातिवादिता के विरुद्ध शिक्षित समाज में एक औदार्य (लिबरलिज्म) जन्म ले रहा था। यह नया शिक्षित प्राणी मानव और मानवत्व के विकास के आगे समाज, धर्म, रूढ़ियों और प्रचलनों के बन्धनों को अस्वीकारने लगा था। पूर्व और पश्चिम के बीच सच्चे मानव और पूर्ण मानवत्व के शोध और उपलब्धि के लिए वह देश विदेश की सीमाओं को भी तोड़ देने के लिए प्रस्तुत था। रवीन्द्र का विश्व-प्रेम वस्तुतः इसी 'मानव' और उसकी पूर्णता की खोज थी। दूसरे वर्ग ने इस विश्व-प्रेम को 'ब्रह्म-समाज' के माध्यम से सञ्चालित विदेशी हथकण्डा समझा था। रवीन्द्र की रहस्य-भावना के कुंज से भी यह मानव-वाद निरन्तर प्रकट होता गया है। छायावादी काव्य की मानवीयता भी फूल-सी खिलकर खुलती गयी है। सम्प्रदाय-वाद, जाति-वाद, पूर्व-वाद और देश-वाद के बन्धनों से ऊपर उठकर छायावादी कवि की चेतना 'मानव' और उसके विकसित 'मानवत्व' को ही पहचानती थी, खोजती आयी है। इस काव्य का यह मानवत्व-अभियान भारतीय सांस्कृतिक

विकास के भीतर एक महत्व-पूर्ण अध्याय माना जायगा। यह 'मानव,' जड़ देवत्व और अधम राक्षसत्व से परे, विज्ञान के वरदानों को भोगने वाला, उसके अतिरेकों के प्रति विद्रोह-शील, प्रकृति का सम्पर्की किन्तु आश्रम-युग की भारतीयता से आगे, अपनी सहज भूख-प्यास को मानव की भाँति स्वीकार कर जीवन की आशा-आस्था को ऊँचा उठाने वाला मानव है। यही मानववाद मेरी दृष्टि में, छाया-युग की सबसे बडी देन है, जिसे इस युग ने बुद्धि से आगे बढकर भाव और अनुभूति के स्तर पर प्रत्यक्ष किया है। बाहर-भीतर की समस्त लाछनाओं, आलोचकों के कठोर कशाघातों, विदूषकों के धैर्य भंजक प्रहारों और निजी परिस्थितियों की घुटन-तडपन मे घुल घुलकर छायावादी कवि ने अपने धुंध धुमैलेपन में, लक्षणा-व्यजना और प्रतीक के सकेतों पर जो आकृति खींचनी चाही थी, वह धुँधला-अनधुँधला यही 'मानव'-चित्र है, जिसे वेदना और आँसू के रंगों में अन्तरानुभूतियों की पटी पर कला-कल्पना की तूली से उसने रँगा है— अनेकानेक लाछनाओं की झडियों में उसने उसे व्यथा के मूल्यों बचाया है। छायावाद ने अपना पूरा-अधूरा चित्र दिया है, आगे की पीढियों की सफलता इस बात में है कि वह उसे किस प्रकार सँवार-सुधार, काट-छाँट और दबा-उभार कर साहित्य की अपनी वेदी पर प्रतिष्ठित करता है।

'छाया'-युगीन काव्य में बौद्ध प्रभाव

'छाया'-युग की कविता मे करुणा और दु:ख के तत्त्व भी पाये जाते हैं। जीवन की नश्वरता, दुःखमयता, क्षणिकता और निराशा के विषण्ण स्वर भी मुखरित हुए हैं। जल-जलकर संसार को प्रकाश देने और पीडा में भी आनन्द के प्रिय स्वाद की अनुभूतियाँ बडी संवेदनीयता और आर्द्रता के साथ प्रतिमूर्तित हुई हैं। इन भावनाओं की पृष्ठभूमि मे उतरने पर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, पारिवारिक और वैयक्तिक कारण तो उपलब्ध होंगे ही पर मेरे विचार से आरम्भिक विषाद की छाया और उदासी की गुंजना कवियों के दार्शनिक अध्ययन के प्रभाव एवं मान्यताओं के कारण भी उपस्थित हुई है। यहाँ मैं उन लोगों के साथ बिल्कुल सहमत नहीं हूँ, जो यह विश्वास करते हैं कि छायावादी कवियों का सामान्य रूप से विश्वस्त कोई दुःखवादी दर्शन था, या ये कवि वे प्राणी थे जो इस जीवन की सार्थकता से निराश, आकाश के सितारों के लिए तडपने वाले स्वप्न-जीवी पतंग थे। न प्लैटो की भाँति ये यह ही मानते थे कि सत्य इस लोक से परे है और न मार्क्स की भाँति इनका ऐसा विश्वास ही था कि मानव और उसका जीवन-चेतन मात्र बाह्य भौतिक परिस्थितियों की प्रतिच्छाया है। ये कवि जीवन-कामी और संसार-प्रेमी मानव थे, जिन्हें सौन्दर्य की अस्थिरता, मंगल की हार और आनन्द की क्षणिकता पर टीस थी, जो चेतना के बन्धन को अस्वीकार करते थे, जो व्यावसायिक बुद्धि-व्यापार और आचार-वादी विवेका-तिरेक के विरुद्ध मानव-हृदय की सहज-मधुर वृत्तियों के प्रसार और रक्षण के मार्गानुसारी थे। व्यक्ति-गत, पारिवारिक और सामाजिक स्तर पर घटित मानवीय मूल्यों के परिवर्तन और उनकी रूढता के विरुद्ध असन्तोष के कारण वर्तमान के प्रति इन कवियों में एक रोश, असन्तोष और विद्रोह की भावना विद्यमान थी। ये कवि यथा-स्थिति-वादी (जो जैसा है, वैसे ही के साथ समझौता) नहीं थे। धर्म, सम्प्रदाय और सामाजिक सम्बन्धों की रूढ़ रेखाएँ इनकी गतिमती चेतना को समेट नहीं सकी थीं।

वर्तमान के प्रति विद्रोह-शील होने पर दो प्रकार की वृत्तियाँ जगती हैं। कभी विद्रोही नयी परिस्थितियों में उद्भूत नवीन मूल्यों के आह्लादकारी सपने देखने में तन्मय दिखलाई पड़ता है और कभी पिछले युगों की जीवन-चित्र-शाला से सुन्दर चित्रों को चुनकर उनके प्रति भावनाशील हो जाता है।

वर्तमान से उठकर आगे-पीछे देखने-भालने की यह वृत्ति उसका पलायन नहीं, जीवन-प्रेम और उसको सुन्दर-सुखकर देखने की लालसा का परिणाम होता है। अपने मार्ग पर चलता हुआ विद्रोही पथिक यदि कभी छाया-कुंजों में जलते प्राणों को शीतल करता दिखलाई पडे तो इसका यह अर्थ नहीं कि उसे गति से ही विराग हो गया है, गति तो अब भी उसका लक्ष्य है, यह कुछ क्षणों का विश्राम तो भूखे-प्यासे प्राणों की थकान मिटाने का प्रयास-मात्र होता है।

वर्तमान के प्रति विद्रोह और निराशा में जब कभी इन कवियों ने पीछे की ओर देखा तो इन्हें ऐसे भी सुदूर-स्थल दिखाई पडे जो इतिहास के धुँधले मार्ग पर अपने प्रकाश में मोहक भी लगे। इन्होंने उन स्थलों को भी अपनी भावना-कल्पना का फूल चढाया है।

भगवान् बुद्ध की विचार-धारा ने उनमें से कितनों को ही अपनी ओर आकृष्ट किया है। औद्योगिक विकास और भौतिकता की बाढ ने इन भारतीय कवियों की आध्यात्मिक रुचियों और परपरा-प्राप्त सस्कारों को धक्का भी दिया है। उद्योग-धंधों में व्यस्त व्यक्ति अपनी दुनियाँ में घिरता जा रहा है। सीमित समय के व्यापक क्षेत्र में चलने वाले पारस्परिक सबध व्यक्ति और परिवार तक सीमित होने लगे। अपने-अपने व्यक्तिगत हितों की परिधि में सीमित व्यक्ति सामाजिक भूमि के व्यापक सम्बन्धों के आकर्षणों से समझौता भी नहीं कर पाता था। मानव मानव के बीच जब इस प्रकार की सीमाएँ खाइयों-सी गहरी होती जा रही थीं, तो मानवेतर जीवों के प्रति रुचि और सहानुभूति का प्रश्न तो और दूर की बात थी। उधर आत्मा परमात्मा के गूढ और निरपेक्ष चिन्तन साम्प्रदायिक वाद-विवाद और विद्वन्मण्डली की शोभा हो चले थे। धार्मिक रूढियों के आल-जाल भी अपनी सार्थकता खोते जा रहे थे। इस समय समस्या थी एक ऐसी मानवीय दृष्टि की जो धार्मिक सम्प्रदाय-वादिता और अध्यात्म के निरपेक्ष चिन्तनों से बचकर भौतिकता की जड-स्वार्थ-वृत्तियों से अलग मानव एव मानवेतर प्राणियों के व्यापक सहानुभूति-मय सम्बन्धों को बल देती। ये कवि न तो दार्शनिक ऊहापोह में उलझ कर एक नवीन दर्शन का सम्प्रदाय स्थापित करना चाहते थे और न भौतिकता की व्यक्ति-स्वार्थों में सीमित परिणतियों से ही समझौता कर पाते थे। 'आत्मा' और 'भूत' अथवा 'पदार्थ' के झगडे से अलग इन्हें बुद्ध की मान्यताओं में एक मध्यम मार्ग मिला, जहाँ सेवा, सहानुभूति और जीव दया जैसे मानवीय मूल्यों की उच्च धर्म भूमि पर प्रतिष्ठा हो चुकी थी। 'सूक्ष्म' और 'स्थूल' के दो छोरों की मध्य-भूमि पर खडे मानव के लिए, इन कवियों को महात्मा बुद्ध के सन्देश में जीवन-कर्त्तव्यों एवं मानव की मानवीयता के विकास की

महती सम्भावनाएँ दिखलाई पड़ीं । इन्होंने बुद्ध की वाणी से प्रेरणा लेनी चाही । 'शून्य-वाद' 'क्षणिक-वाद' और 'दुःख-वाद' का जो जीवन-विरोधी तत्त्व बौद्ध-दर्शन में इतना प्रमुख दिखाई पड़ता है, वह इस रूप में अतिरेकवादी बुद्ध के बाद हुआ है । बुद्ध-धर्म की निराशा, निरात्मता, विषाद, शून्यता और क्षणिकता इन कवियों के आकर्षण-बिन्दु नहीं हैं; मेरी दृष्टि में इस दर्शन के जिस पक्षने इन जीवन-प्रेमी कवियों को सर्वाधिक प्रभावित और आकृष्ट किया है, वह है उसका मानवीय पक्ष और मानवीय मूल्यों की महत्ता ।

युग की मानववादी विचार-धारा के लिए महात्मा बुद्ध के जीवन और सन्देश में बड़ा आकर्षण मिला । बुद्ध का आगमन भारतीय संस्कृति में बड़े क्रान्तिकारी मूल्यों के अवतरण का ऐतिहासिक स्थल है । भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में महात्मा बुद्ध का व्यक्तित्व एक ऐसे बिन्दु का द्योतक है जिसको स्पर्श कर हमारी राष्ट्रीय चिन्तन-धारा अनेक स्रोतों में प्रसृत हो गयी । उन्होंने धार्मिक गुत्थियों एवं दार्शनिक प्रपंचों की जटिलता से ऊब कर एक सहज मानव धर्म का प्रवर्तन किया । चिन्तन की निरपेक्षता एवं दर्शन की गुहाओं से वे जन-जीवन की ओर अभिमुख हुए । नाना रूढ़ियों की शृङ्खलाओं में सुबकती जन-जीवन की रुद्ध वाणी को नवीन प्रेरणा का बल दिया । जीवन भर अंध-परंपराओं एवं रूढ़ विश्वासों के विरुद्ध अभियान करते हुए उन्होंने अन्त में भी कल्याण-यात्रा के पथ पर ही प्राण-विसर्जन किया । बुद्ध कठोर बुद्धिवादी थे, किन्तु उनका बुद्धि-वाद मानवीयता के कोमल रस से आर्द्र है । उनके बुद्धिवाद और तर्काधृत दृष्टिकोण ने तत्कालीन बौद्धिक युग को आकृष्ट किया तो यह अस्वाभाविक नहीं, उनकी मानववादी दृष्टि ने यदि तत्कालीन मानवोन्मुख चिन्तकों के मर्म को स्पर्श किया तो यह असंगत नहीं । उनकी करुणा और बन्धुता की भावना ने जहाँ साधारण जन को शीतल किया, वहाँ उनकी बौद्धिकता ने विद्वन्मंडल को भी कम आकृष्ट नहीं किया । संस्कृत के स्थान पर पाली को आश्रय देकर बुद्ध ने जन-वादी दृष्टि का भी शंख-नाद किया था । उनकी तर्क-शीलता, व्यापक मानवता एवं जन-जीवन-सम्बद्धता की विशेषताओं ने आधुनिक युग को ठीक ही आकर्षित किया ।

आज के प्रजातान्त्रिक युग के इन पुरश्चरण में करुणा और सेवा का आदर्श बड़ा महनीय लगा । प्रजातंत्र के व्यक्ति चिन्तन एवं अनुभव को बुद्ध के इस सिद्धान्त ने बड़ा बल दिया कि सत्य स्वयं अनुभव और साक्षात्कार की वस्तु है । अहं-पूर्ण पांडित्य के विरुद्ध यह एक कितनी निर्भय घोषणा थी कि 'परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात् ।' 'छाया' काव्य की वस्तुओं के प्रति

व्यक्तिगत अनुभूति और बौद्ध धर्म की व्यक्तिगत साधना में कितना साम्य था। सत्य की दिशा में व्यक्ति की यह अन्तर्मुखीनता छायावादी आत्म-निष्ठता और स्वानुभूति निरूपण की वृत्ति के कितने अनुकूल थी! सत् की सिद्धि में 'अर्थ-क्रिया समर्थ यत् तदत्र परमार्थसद्' कहनेवाले, वैज्ञानिक-विकास और बुद्धि-विकास के युग में निगम-प्रमाण के विरुद्ध तर्क-प्रमाण पर बल देनेवाला बौद्ध धर्म आकर्षण का केन्द्र हो सकता है। ईश्वर अथवा परमात्मा-परक आस्तिक-वाद के विरोध में बौद्ध धर्म ने मानवीयता को प्रमुखता दी थी। उसने मानव में कर्म-विश्वास और दायित्व की भावना की प्रतिष्ठा की। मानव में इन उच्च तत्त्वों की प्रतिष्ठा के कारण ही पण्डितों का विश्वास है कि बौद्ध धर्म ने अवतार-वाद का बीज बोया था। बौद्धायन, आपस्तम्ब आदि सूत्रकारों ने भारतीय समाज के जीवन को कर्मकाडों में बाँध दिया था। बौद्ध धर्म ने उनका विरोध किया था। वर्ण-विषमता के विरुद्ध समता और एकता का सिद्धान्त इस धर्म में कितने पहले आ चुका था। 'चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय' के सिद्धान्त में लोक-मगल का शंखनाद था। सुजाता की खीर, अम्बा-पाली का आतिथ्य स्वीकार कर बुद्ध ने नारी ही नहीं अपावन के ग्रहण का भी द्वार खोल दिया था। बुद्ध ने अम्बापाली का उपनयन—सस्कार अपने हाथों किया। बुद्ध ने वेद और उसकी व्यवस्थाओं को चुनौती देकर तत्कालीन वर्ग-प्रभुता को ललकार दिया था। गृहस्थ और शूद्रों के लिए मोक्ष-मार्ग को सुगम बनाकर एक सामाजिक क्राति का प्रारम्भ किया गया था। जन्म-गत श्रेष्ठता को काटकर बुद्ध ने 'धम्मपद' में 'कम्मना होति ब्राह्मणो' कह कर कर्म पर बल दिया था। ब्राह्मण यज्ञ-वादी हिंसा के प्रति यह क्षत्रियों का अहिंसावादी आन्दोलन था। जिसने क्षण-वाद, शून्य-वाद, और नैरात्म्यवाद के द्वारा आत्मा की कूटस्थ एकरमता का खण्डन कर भाग्यवादी शिथिलता को दूर किया। 'इदमेव सच्चं मोघमञ्ञं' जैसे वचनों से बुद्ध ने धार्मिक सहि-ष्णुता और सत्य को व्यापक मानने की दृष्टि प्रदान की थी। विद्रोह-शील और नवीन जीवन के खोजी इन कवियों के लिए बुद्ध का व्यक्तित्व और उनके सन्देश पर्याप्त प्रेरणा-प्रद थे। भारतीय होने के कारण वे आधुनिकयुगीन मान्यताओं की स्वीकृति में हीनता की भावना और विदेशीयता के सकोच से भी बचे।

बुद्ध द्वारा उपदिष्ट मध्यमा प्रतिपदा ने उस युग को आस्तिकवाद और नास्तिकवाद, आत्मवाद और अनात्मवाद, भोग और शरीर-पीडन जैसे ऐका-न्तिक वादों के बीच मध्य पथ का सदेश किया था। 'प्रसाद' की श्रद्धा ने भी मनु से कहा था—

'तप नहीं केवल जीवन-सत्य
करुण यह क्षणिक दीन-अवसाद।'

पुरातनता के निर्मोक को प्रकृति सह नहीं सकती, अतः वह क्षण-क्षण परिवर्तनशील है—

'पुरातन का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक!'

['श्रद्धा' ६३]

'प्रसाद' के इस ऐकान्तिक तप के विरोध में बुद्ध का तपस्या-परित्याग भी अनगुंजित है। सारनाथ के 'मूल गंध-कुटी विहार' के उद्घाटन-अवसर पर तथागत की स्मृति में कहा है—

छोड़कर जीवन के अतिवाद,
मध्य-पथ से लो सुगति सुधार।
दुःख का समुदय उसका नाश,
तुम्हारे कर्मों का व्यापार॥
विश्व-मानवता का जय-घोष,
यहीं पर हुआ जलद-स्वर मन्द्र।
मिला था वह आदेश महान्,
आज भी साक्षी हैं रवि-चन्द्र॥
अरी, वरुणा की शान्त कछार।
तपस्वी के विराग की प्यार॥'

['लहर']

'तपस्वी के विराग' में भी जीवन के प्रति प्यार और निवृत्ति तथा निर्वाण में भी मानवता के प्रति अपार करुणा के महान् संदेश को पाकर तृप्त होने वाले कवि के मन पर बौद्ध प्रभाव असंदिग्ध है। बुद्ध के भीतर जीवन-दृष्टि को पकड़ने वाली कवि की यह चेतना आदर्श में प्रत्यक्ष को कभी भी नहीं भूली है। स्वयं 'कामायनी' के श्रद्धा मूलक आनंदवाद की प्रतिष्ठा में अन्यान्य ग्रंथों एवं दर्शन-अध्ययनों से लाभ उठाते हुए 'प्रसाद' जी ने बौद्धधर्म के अन्तर्गत 'महायान-शाखा' के आनन्दवाद को भी अस्पृश्य नहीं छोड़ा। वस्तुतः बुद्ध ने अपने पूर्व-प्रचलित कस्सप, अजित, गोसाल और संजय आदि अतिवादियों के मतों का अपने 'प्रतीत्य समुत्पाद' से प्रबल खण्डन किया था। अपने 'मज्झिमा पटिपदा' के सिद्धान्त से उन्होंने स्वामी महावीर के तपस्या-पथ का भी खण्डन किया। ऋग्वेद के दशम अन्तिम मण्डल में आये 'नासदीय सूक्त'

से लेकर (यही भारतीय दर्शन का बीज है ।) स्वामी महावीर और बुद्ध-भगवान् तक ३६३ सम्प्रदाय बन चुके थे । स्वय बुद्ध के 'प्रतीत्य समुत्पाद' के तत्त्व भी उपनिषदों में मिलते बताये जाते हैं और माध्यमिक बौद्ध सम्प्रदाय की सर्वोच्च स्थापना का पूर्व सकेत भी 'माण्डूक्य'-उपनिषद में परिलक्षित हुआ है । भगवान् बुद्ध ने मानव-कल्याण और उसकी उन्नति को दृष्टिकेन्द्र में रखते हुए व्यर्थ की जटिल दर्शन-ग्रथियों का तिरस्कार किया और एक अनुसरणीय, मानव-सापेक्ष्य धर्म की नींव डाली थी, जहाँ जीवन के प्रतिवादों का उच्छेद किया गया था ।

गौतम के अवतरण का सकेत करते हुए प्रसाद ने 'लहर' में ही लिखा है—

'तप की तारुण्य-मयी प्रतिमा,
प्रज्ञा पारमिता की गरिमा,
इस व्यथित विश्व की चेतनता
गौतम सजीव बन आयी थी ।'

'अशोक की चिन्ता' में विराग और करुणा की भावना अत्यन्त सघनता के साथ उपस्थित हुई है । अशोक करुणा की तरग बन बह जाना चाहता है—

'भुनती बसुधा तपते नग,
दुखिया है सारा अग जग,
कटक मिलते हैं प्रति पग,
जलती सिकता का यह मग,
बह जा बन करुणा की तरंग,
जलता है यह जीवन-पतग ।'

—['लहर']

'आँसू' के सशोधित सस्करण में परिवर्धित 'ज्वाला' वाला अश तथा अन्तिम छन्द का तुहिन-कणों सा दुःख दग्ध जग पर बरस जाने का सन्देश भी अबद्धमुष्टि बुद्ध की अन्तश्चिन्ता और करुणावाद की भूमिका सजातीय ही है ।

बौद्ध दर्शन ने शाश्वत आत्मा अथवा ब्रह्म के उत्पाटन के लिए अनात्मवादी दर्शन की स्थापना की । ससार की परिवर्तन शीलता की सिद्धि के लिए उन्होंने प्रत्यक्ष अर्थ को साधन बनाया । नित्य-सार ब्रह्म और जगत् में उसके अस्तित्व के निरसन के लिए बौद्ध दर्शन में केले के खम्भे और उसके छिलके का प्रसिद्ध उदाहरण ग्रहण किया गया है । उनका कहना है कि जैसे छिलके पर चढ़े छिलके के उतारते जाने पर अन्त में कुछ भी नहीं बचता उसी प्रकार

संसार के भीतर भी अन्त में कोई अन्तःसार द्रव्य शेष नहीं बचता। संसार की असारता को सिद्ध करने में ईश्वरवादी भक्तों और विशेष कर तुलसी ने अपनी 'विनय पत्रिका' में इस उदाहरण को अपनाया है। मेघ और प्रदीप की उपमाएँ भी बौद्ध दर्शन में परिवर्तनशीलता को समझाने के लिए गृहीत हुई हैं। महादेवी जी भी बुद्ध के दर्शन और विचारों से बड़ी प्रभावित हुई हैं। बुद्ध के क्रान्तिकारी सन्देश, उनकी करुणा की उपयोगिता और विश्व-कल्याणार्थ अपने को मिटाने के आदर्श से उन्हें बड़ी प्रेरणा मिली है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि निम्नलिखित पंक्तियां बुद्ध-दर्शन की सिद्धि करती हैं, पर बदली का प्रतीक अवश्य उनके बुद्ध-प्रभाव का द्योतक है—

'मैं नीर भरी दुःख की बदली !
विस्तृत नभका कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना, इतिहास यही,
उमड़ी कल थी, मिट आज चली।'

जीवन की अनित्यता कितनी संवेदनीय बनकर आयी है ! आगे चलकर आयी 'पथ को न मलिन करता आना, पद चिह्न न दे जाता गाना'......'आदि पंक्तियाँ अत्यन्त करुण, कोमल एवं आर्द्र हैं !!

दीपक को ही 'देवी' जी ने अपने जीवन के जलने का आदर्श माना है। दीपक उनका बड़ा ही प्रिय प्रतीक है—

'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल !'

महादेवी की 'नीहार' और 'नीरजा' की विषाद-भरी करुणा बौद्ध-आस्थाओं की भूमि पर लालसाओं से भरे और कसकों से स्पन्दित मानव-हृदय का करुण क्रन्दन है। दुःख के हृदय-प्रक्षालक एवं आत्मा के निर्मलकारी गुण की अनुभूति बौद्ध साहित्य के गम्भीर मन्थन की ही देन है। अपने काव्य-संकलन 'रश्मि' की भूमिकाओं में दुःख के प्रति अपनी धारणा को महादेवी जी ने बड़े भावुक दृष्टिकोण से उपस्थित किया है। वेदना की दृष्टि को उन्होंने जीवन की गम्भीर दृष्टि माना है। जलने और मिटने की साध देवी जी की प्रिय साध है, तभी तो उन्हें बदली और दीपक के प्रतीक अत्यन्त प्रिय हैं। इसी जलन को लेकर महादेवी अपने सूनेपन की रानी हैं—

से लेकर (यही भारतीय दर्शन का बीज है।) स्वामी महावीर और बुद्ध-भगवान् तक ३६३ सम्प्रदाय बन चुके थे। स्वय बुद्ध के 'प्रतीत्य समुत्पाद' के तत्त्व भी उपनिषदों में मिलते बताये जाते हैं और माध्यमिक बौद्ध सम्प्रदाय की सर्वोच्च स्थापना का पूर्व सकेत भी 'माण्डूक्य'-उपनिषद में परिलक्षित हुआ है। भगवान् बुद्ध ने मानव-कल्याण और उसकी उन्नति को दृष्टिकेन्द्र में रखते हुए व्यर्थ की जटिल दर्शन-ग्रथियों का तिरस्कार किया और एक अनुसरणीय, मानव-सापेक्ष्य धर्म को नींव डाली थी, जहाँ जीवन के प्रतिवादों का उच्छेद किया गया था।

गौतम के अवतरण का सकेत करते हुए प्रसाद ने 'लहर' में ही लिखा है—

'तप की तारुण्य-मयी प्रतिमा,
प्रज्ञा पारमिता की गरिमा,
इस व्यथित विश्व की चेतनता
गौतम सजीव बन आयी थी।'

'अशोक की चिन्ता' में विराग और करुणा की भावना अत्यन्त सघनता के साथ उपस्थित हुई है। अशोक करुणा की तरग बन बह जाना चाहता है—

'भुनती वसुधा तपते नग,
दुखिया है सारा अग जग,
कंटक मिलते है प्रति पग,
जलती सिकता का यह मग,
वह जा बन करुणा की तरंग,
जलता है यह जीवन-पतंग।'

—['लहर']

'आँसू' के संशोधित सस्करण में परिवर्धित 'ज्वाला' वाला अश तथा अन्तिम छन्द का तुहिन-कणों सा दुःख दग्ध जग पर बरस जाने का सन्देश भी अनवद्मुष्टि बुद्ध की अन्तश्चिन्ता और करुणावाद की भूमिका सजातीय ही है।

बौद्ध दर्शन ने शाश्वत आत्मा अथवा ब्रह्म के उत्पाटन के लिए अनात्मवादी दर्शन की स्थापना की। ससार की परिवर्तन शीलता को सिद्धि के लिए उन्होंने प्रत्यक्ष अर्थ को साधन बनाया। नित्य-सार ब्रह्म और जगत् में उसके अस्तित्व के निरसन के लिए बौद्ध दर्शन में केले के खम्भे और उसके छिलके का प्रसिद्ध उदाहरण ग्रहण किया गया है। उनका कहना है कि जैसे छिलके पर चढे छिलके के उतारते जाने पर अन्त में कुछ भी नहीं बचता उसी प्रकार

संसार के भीतर भी अन्त में कोई अन्तःसार ब्रह्म शेष नहीं बचता । संसार की असारता को सिद्ध करने में ईश्वरवादी भक्तों और विशेष कर तुलसी ने अपनी 'विनय पत्रिका' में इस उदाहरण को अपनाया है । मेघ और प्रदीप की उपमाएँ भी बौद्ध दर्शन में परिवर्तनशीलता को समझाने के लिए गृहीत हुई हैं । महादेवी जी भी बुद्ध के दर्शन और विचारों से बड़ी प्रभावित हुई हैं । बुद्ध के क्रान्तिकारी सन्देश, उनकी करुणा की उपयोगिता और विश्व-कल्याणार्थ अपने को मिटाने के आदर्श से उन्हें बड़ी प्रेरणा मिली है । यह तो नहीं कहा जा सकता कि निम्नलिखित पंक्तियां बुद्ध-दर्शन की सिद्धि करती हैं, पर बदली का प्रतीक अवश्य उनके बुद्ध-प्रभाव का द्योतक है—

'मैं नीर भरी दुःख की बदली !
विस्तृत नभका कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना, इतिहास यही,
उमड़ी कल थी, मिट आज चली ।'

जीवन की अनित्यता कितनी संवेदनीय बनकर आयी है ! आगे चलकर आयी 'पथ को न मलिन करता आना, पद चिह्न न दे जाता गाना······'आदि पंक्तियाँ अत्यन्त करुण, कोमल एवं आर्द्र हैं !!

दीपक को ही 'देवी' जी ने अपने जीवन के जलने का आदर्श माना है । दीपक उनका बड़ा ही प्रिय प्रतीक है—

'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल !'

महादेवी की 'नीहार' और 'नीरजा' की विषाद-भरी करुणा बौद्ध-आस्थाओं की भूमि पर लालसाओं से भरे और कसकों से स्पन्दित मानव-हृदय का करुण क्रन्दन है । दुःख के हृदय-प्रक्षालक एवं आत्मा के निर्मलकारी गुण की अनुभूति बौद्ध साहित्य के गम्भीर मन्थन की ही देन है । अपने काव्य-संकलन 'रश्मि' की भूमिकाओं में दुःख के प्रति अपनी धारणा को महादेवी जी ने बड़े भावुक दृष्टिकोण से उपस्थित किया है । वेदना की दृष्टि को उन्होंने जीवन की गम्भीर दृष्टि माना है । जलने और मिटने की साध देवी जी की प्रिय साध है, तभी तो उन्हें बदली और दीपक के प्रतीक अत्यन्त प्रिय हैं । इसी जलन को लेकर महादेवी अपने सूनेपन की रानी हैं—

से लेकर (यही भारतीय दर्शन का बीज है।) स्वामी महावीर और बुद्ध-भगवान् तक ३६३ सम्प्रदाय बन चुके थे। स्वय बुद्ध के 'प्रतीत्य समुत्पाद' के तत्त्व भी उपनिषदों में मिलते बताये जाते हैं और माध्यमिक बौद्ध सम्प्रदाय की सर्वोच्च स्थापना का पूर्व सकेत भी 'माण्डूक्य'-उपनिषद में परिलक्षित हुआ है। भगवान् बुद्ध ने मानव-कल्याण और उसकी उन्नति को दृष्टिकेन्द्र में रखते हुए व्यर्थ की जटिल दर्शन-ग्रथियों का तिरस्कार किया और एक अनुसरणीय, मानव-सापेक्ष्य धर्म की नींव डाली थी, जहाँ जीवन के प्रतिवादों का उच्छेद किया गया था।

गौतम के अवतरण का सकेत करते हुए प्रसाद ने 'लहर' में ही लिखा है—

'तप की तारुण्य-मयी प्रतिमा,
प्रज्ञा पारमिता की गरिमा,
इस व्यथित विश्व की चेतनता
गौतम सजीव बन आयी थी।'

'अशोक की चिन्ता' में विराग और करुणा की भावना अत्यन्त सघनता के साथ उपस्थित हुई है। अशोक करुणा की तरग बन बह जाना चाहता है—

'भुनती बसुधा तपते नग,
दुखिया है सारा अग जग,
कटक मिलते हैं प्रति पग,
जलती सिकता का यह मग,
वह जा बन करुणा की तरंग,
जलता है यह जीवन-पतग।'

—['लहर']

'आँसू' के संशोधित सस्करण में परिवर्धित 'ज्वाला' वाला अश तथा अन्तिम छन्द का तुहिन-कणों सा दुःख दग्ध जग पर बरस जाने का सन्देश भी अबद्धमुष्टि बुद्ध की अन्तश्चिन्ता और करुणावाद की भूमिका सजातीय ही है।

बौद्ध दर्शन ने शाश्वत आत्मा अथवा ब्रह्म के उत्पाटन के लिए अनात्मवादी दर्शन की स्थापना की। ससार की परिवर्तन शीलता की सिद्धि के लिए उन्होंने प्रत्यक्ष अर्थ को साधन बनाया। नित्य-सार ब्रह्म और जगत् में उसके अस्तित्व के निरसन के लिए बौद्ध दर्शन में केले के खम्भे और उसके छिलके का प्रसिद्ध उदाहरण ग्रहण किया गया है। उनका कहना है कि जैसे छिलके पर चढे छिलके के उतारते जाने पर अन्त में कुछ भी नहीं बचता उसी प्रकार

संसार के भीतर भी अन्त में कोई अन्तःसार ब्रह्म शेष नहीं बचता। संसार की असारता को सिद्ध करने में ईश्वरवादी भक्तों और विशेष कर तुलसी ने अपनी 'विनय पत्रिका' में इस उदाहरण को अपनाया है। मेघ और प्रदीप की उपमाएँ भी बौद्ध दर्शन में परिवर्तनशीलता को समझाने के लिए गृहीत हुई हैं। महादेवी जी भी बुद्ध के दर्शन और विचारों से बड़ी प्रभावित हुई हैं। बुद्ध के क्रान्तिकारी सन्देश, उनकी करुणा की उपयोगिता और विश्व-कल्याणार्थ अपने को मिटाने के आदर्श से उन्हें बड़ी प्रेरणा मिली है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि निम्नलिखित पंक्तियां बुद्ध-दर्शन की सिद्धि करती हैं, पर बदली का प्रतीक अवश्य उनके बुद्ध-प्रभाव का द्योतक है—

'मैं नीर भरी दुःख की बदली !
विस्तृत नभका कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना, इतिहास यही,
उमड़ी कल थी, मिट आज चली।'

जीवन की अनित्यता कितनी संवेदनीय बनकर आयी है! आगे चलकर आयी 'पथ को न मलिन करता आना, पद चिह्न न दे जाता जाना......'आदि पंक्तियाँ अत्यन्त करुण, कोमल एवं आर्द्र हैं !!

दीपक को ही 'देवी' जी ने अपने जीवन के जलने का आदर्श माना है। दीपक उनका बड़ा ही प्रिय प्रतीक है—

'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल !'

महादेवी की 'नीहार' और 'नीरजा' की विषाद-भरी करुणा बौद्ध-आस्थाओं की भूमि पर लालसाओं से भरे और कसकों से स्पन्दित मानव-हृदय का करुण क्रन्दन है। दुःख के हृदय-प्रक्षालक एवं आत्मा के निर्मलकारी गुण की अनुभूति बौद्ध साहित्य के गम्भीर मन्थन की ही देन है। अपने काव्य-संकलन 'रश्मि' की भूमिकाओं में दुःख के प्रति अपनी धारणा को महादेवी जी ने बड़े भावुक दृष्टिकोण से उपस्थित किया है। वेदना की दृष्टि को उन्होंने जीवन की गम्भीर दृष्टि माना है। जलने और मिटने की साध देवी जी की प्रिय साध है, तभी तो उन्हें बदली और दीपक के प्रतीक अत्यन्त प्रिय हैं। इसी जलन को लेकर महादेवी अपने सूनेपन की रानी हैं—

"अपने इस सूनेपन की
मैं हूँ रानी मतवाली,
प्राणों का दीप जलाकर
करती रहती दीवाली।"

—['नीहार']

इसे वह एक गरिमा-मय गुण मानती हैं और आराध्य के लोक में इसके अभाव पर वे आक्षेप भी करती हैं—

'ऐसा तेरा लोक, वेदना
नहीं, नहीं जिसमें अवसाद,
जलना जाना नहीं, नहीं
जिसने जाना मिटने का स्वाद।'

—['नीहार']

महादेवी जी ने बार-बार दुःख का तत्त्व-चिन्ता की भूमि पर दार्शनिकीकरण किया है। उसे वे विश्व-वीणा की एक मधुर रागिनी मानती हैं। जब आलोक छुट जाते हैं, तारागण बुझ जाते हैं। तब भी उनका दीपक-सा मन जलता रहता है। सुख के समान दुःख भी उस लोक तक ले जाने का साधन है। वे तृप्ति का एक कण भी नहीं चाहतीं—

"मेरे छोटे जीवन में
देना न तृप्ति का कण भर
रहने दो प्यासी आँखे
भरती आँसू के सागर।"

['रश्मि']

कहीं-कहीं दुःख की सघनता बड़ी प्रगाढ़ हो उठी है और कवयित्री बौद्ध निष्कर्षों की रेखा को भाव दीप्त करने लगती है—

'चिर ध्येय यही जलने का
ठंढी विभूति बन जाना;
है पीड़ा की सीमा यह
दुःख का चिर सुख हो जाना।'

['रश्मि']

इसी प्रकार नाश और विफलता की व्याख्या भी ध्येय है—

'सृष्टि का है यह अमिट विधान
एक मिटने में सौ वरदान,

नष्ट कब अणु का हुआ प्रयास
विफलता में है पूर्ति-विकास'

इस ज्वलन, पीडा, व्यथा और दुःखवादिनी दृष्टि मे बुद्ध की दार्शनिक निराशा का रूक्ष आवरण उतार कर महादेवी ने उसे निगूढ़ प्रेम और अनन्त विरह की सजलता से मधुर बना दिया है। इस प्रकार दर्शन का कंकाल प्रेम की सजल शारीरिकता से शोभन हो उठा है। महादेवी जी ने बौद्ध दर्शन की निराशा और दुःखवादिता को अपने विरह के मधुर जल से धो दिया है। 'प्रिय से कम मादक पीर नहीं' की उद्गायिका 'देवी' जी के व्यक्तित्व की सजलता बुद्ध की करुणा-गंगा में परिस्नात होकर काव्य के द्वार आयी है। बुद्ध ने जहां क्षण-भंगुरता को विषाद की छाया उढाई है, वहाँ महादेवी जी ने पल पल की नश्वरता को भी एक मानवीय अभिमान प्रदान किया है—

'इन्द्र-धनुष-सा घन अंचल में,
तुहिन विन्दु-सा किसलय-दल में;
करता है पल-पल पर देखो
मिटने का अभिमान!

['रश्मि']

उनका हृदय ससार की द्विरूपता पर टकरा गया है—

'तेरे असीम आँगन की
देखूं जगमग दीवाली,
या इस निर्जन कोने के
बुझते दीपक को देखूँ!'

—['रश्मि']

आगे रचयिता के आनन्द-स्वरूप और विश्व की दुःखमयता का सकेत है—

'तुझमें अम्लान हँसी है
इसमें अजस्र आँसू-जल
तेरा वैभव देखूँ या
जीवन का क्रन्दन देखूँ।'

मृत्यु के प्रति उनके उद्गार कितने सवेदनीय है 'अन्तिम पाहुन' से निवेदन है—

'कितने युग बीत गये निधियों का करते संचय,
तुम थोड़े से आँसू मे इन सबको कर लेना क्रय,
अब हो व्यापार-विसर्जन!'

['रश्मि']

'नीरजा' की 'मेरा एकान्त', 'मेरा जीवन' आदि रचनाएँ पठितव्य हैं। महादेवी जी के ये वचन उनकी काव्य-पृष्ठिका को समझने के लिए अत्याज्य हैं—"दुःख मेरे निकट जीवन का एक ऐसा काव्य है, जो सारे ससार को एक सूत्र में बाँध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असख्य सुख चाहे हमें मनुष्यता की पहली पीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूँद आंसू भी जीवन को अधिक मधुर, अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता। मनुष्य सुख को अकेले भोगना चाहता है परन्तु दुःख में सबको बोरकर—विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना, जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।"

'प्रसाद' जी की 'आँसू' गत ज्वाला कितनी विराट् हैं। जब नील निशा में हिमकर थककर सो जाता है, अस्ताचल की घाटी में दिनकर भी खो जाता है, नक्षत्र स्वर्गंगा की धारा में डूब जाते हैं और बिजली कादम्बिनी की कारा में वन्दिनी हो जाती है तब—

'मणिदीप विश्व-मन्दिर की
पहने किरणों की माला
तुम एक अकेली तब भी
जलती हो मेरी ज्वाला।'

जब चाँदनी में भीतर वाडव छिपाये सिंधु लहरों का शैल-शीश उठाये रहता है या जब पूर्ण चन्द्र की शीतल किरणों की छाया में सिन्धु में लहरें (वेला) उल्लास में उत्ताल हो जाती हैं। अथवा जब सिंधु पूर्ण चन्द्र के प्रकाश में उत्ताल हो उठता है और जब शान्त आकाश के नीचे अपने शिखर-शीश को उठाये, नियति के सकेत पर ज्वालामुखियाँ गहन-गुफा में चचल लटों को बिखेरे सोती रहती हैं, विश्व-वेदना-बाला की उस सुप्तावस्था में भी कवि की ज्वाला एकाकी सतत जला करती है! भगवान् बुद्ध ने दु'ख को उसके आध्यात्मिक स्वरूप में स्वीकार किया है। 'प्रसाद' जी के 'आँसू' में आयी वेदना और ज्वाला-सम्बन्धी उक्तियाँ दु ख और पीडा को उसके भौतिक नहीं अभौतिक रूप को ही महत्ता प्रदान करती हैं। महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज सन् १९५५ की 'बुद्ध जयन्ती' के पर्व पर निकले 'आज' के 'बुद्ध—विशेषांक' के अपने 'करुणा और सेवा का आदर्श' नामक लेख में लिखते हैं—"श्रावक तथा प्रत्येक बुद्धयान मे सर्व तत्त्वों का दु ख-दर्शन ही करुणा का मूल उत्स है। इसका नाम स्वावलम्बन करुणा है। मृदु तथा मध्य कोटि के महायान मत में अर्थात् सौत्रान्तिक तथा योगाचार सम्प्रदाय में जगत् का नश्वरत्व या क्षणिकत्व ही करुणा

का मूल उत्स है। इसका नाम धर्मावलम्बन करुणा है।" अहेतुक तथा सत्व-ग्राह या आत्म-ग्राह के अभाव में उत्पन्न करुणा निर्लेप और सात्विकी होती है। अनग वज्र कहते हैं—'सत्वानामस्ति नास्तीति न चैव सविकल्पम्'। उनके मत से सकरुण कभी भी किसी जीव को निराश नहीं करता। इसी प्रकार मनोरथ नदि ने 'प्रमाण-वार्तिक' की वृत्ति में दुःख और दुःख-हेतु से छुड़ाने की इच्छा को करुणा कहा है—'दुःखाद् दुःखहेतोश्च समुद्धरणकामता करुणा।' छायावादी काव्य समाज में व्यामुग्ध मानवीय मूल्यों के पुनर्मूल्यन का शुभानिष्ठान है इसलिए करुणा की सामाजिक उपयोगिता का शोध करते हुए वे भगवान् बुद्ध की करुणा तक भी गये। वहाँ उन्हें करुणा और दुःख का मूल शुद्ध स्वरूप प्राप्त हुआ। 'आँसू' की प्रथम पंक्ति ही कवि के हृदय की करुणा की घोषणा करती है—

'इस करुणा कलित हृदय में
क्यों विकल रागिनी बजती।'

महादेवी जी ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'बचपन से ही भगवान् बुद्ध के प्रति एक भक्ति-मय अनुराग होने के कारण उनकी संसार को दुःखात्मक समझने वाली फ़िलासफ़ी से मेरा असमय ही परिचय हो गया।' यह असमय परिचय ही जीवन और जगत् तथा विशाल प्रकृति-प्रसार के प्रति उनका औदास्य मय विषाद पर पर्याप्त प्रकाश डालता है, जो 'यामा' के प्रथम दो खण्डों ('नीहार' और 'रश्मि') पर सघन रूप से प्रच्छायित है। उसमें दुःख के लौकिक एवं भौतिक रूप का पक्ष भले ही अप्रस्तुत हो, किन्तु बुद्ध का प्रभाव तो असन्दिग्ध है। बाद में 'नीरजा' 'सान्ध्यगीत' और 'दीपशिखा' में चलकर अभाव में ही भाव और विरह में ही संयोग की अनुभूति के अभ्यास से भले ही आनन्द-पक्ष भी शोक रहा हो, पर आरम्भ के संस्कार का प्रभाव सर्वथा नहीं धुल सका है। सुश्री वर्मा जी के काव्य में विराग और उदासीनता का मधुर स्वर सर्वत्र विद्यमान है। बुद्ध-साधना की अवान्तर विकसित चिन्तनाओं की दुःखवादी छाया में चलना प्रारम्भ करने वाला उनका व्यक्तित्व जीवन के आनंद और कर्तृत्व-पक्ष की ओर अवश्य आया है, पर संस्कार रूप में ये प्राक्तन प्रभाव अपनी छाया को पूर्णतः समेट नहीं सके हैं।

सत्य और अहिंसा के विश्व-सम्मान्य 'बापू' के आदर्श पर भी बुद्ध की छाप स्पष्ट है। करुणा और अहिंसा ने राष्ट्र-पिता को अत्यन्त प्रभावित किया है, और उन्होंने इन भाव-मूल्यों को जन-जीवन के स्तर पर भी परीक्षित किया है। 'छाया'-युग 'गाँधी-युग' का समानान्तर काल है। बापू के व्यक्तित्व ने जन

साधारण जन और राजनीतिज्ञों को इतना प्रभावित किया, तो सवेदनाशील साहित्यकार और कवि के लिए तो उनकी मान्यताएँ अत्यन्त प्रभावशाली होती हीं। 'पन्त' जी ने भी गाधी को बुद्ध-परम्परा में स्वीकार किया है। फरवरी सन् १९३२ में अपनी 'चिर सुख' रचना में कवि ने दु:ख और करुणा का महत्व स्वीकारा है—

'दु:ख-दावा से नव अंकुर
पाता जग-जीवन का वन,
करुणार्द्र विश्व की गर्जन
बरसाती नवजीवन-कण।'

['पल्लविनी', पृ० २०१]

गाधी जी के महा-व्यक्तित्व के माध्यम से बुद्ध-अदर्शों के प्रति 'पन्त' जी की श्रद्धा भी असदिग्ध है। उनकी 'परिवर्तन' कविता की निराशा-बद्ध पंक्तियों में दु:खवादी स्वर भी उभर आये हैं। 'प्रसाद' जी की प्रारम्भिक कृति 'करुणालय' (फरवरी, १९१३ ई०, 'इन्दु' दूसरी किरण) पर भी बुद्ध-विचारणा का प्रभाव स्पष्ट है। इसका सदेश है कि बलि से नहीं, करुणा से ही जगदीश प्रसन्न होता है। शुनः शेय रोता है—

"हे हे करुणा के सिंधु नियन्ता विश्व के
हे प्रतिपालक तृण, वीरुध के, सर्व के,
हाय प्रभो, क्या हम इस तेरी सृष्टि के
नहीं, दिखाता जो मुझ पर करुणा नहीं।"

'करुणालय' में हिंसा और बलि का विरोध किया गया है—

"अपनी आवश्यकता का अनुचर बन गया,
रे मनुष्य तू कितने नीचे गिर गया,
आज प्रलोभन भय तुझ से करवा रहे,
कैसे आसुर कर्म! अरे तू क्षुद्र है
और धर्म की छाप लगा कर मूढ़ तू!
फँसा आसुरी माया में, हिंसा जगी!"

'राज्य श्री' में कवि ने दुःख परितापित धरा के लिए कहा था—'स्नान कर करुणा-सरोवर धुले तेरा कीच!' यही करुणा कवि के जलते हुए हृदय में 'आँसू' में जाकर 'कल्याणी शीतल, ज्वाला' बन गयी है—

'निर्मम जगती को तेरा
मंगलमय मिले उजाला।
इस जलते हुए हृदय की,
कल्याणी शीतल ज्वाला ?'

वेदना अथवा ज्वाला का कल्याण-कारी रूप 'विश्व मंदिर की मणि दीप है।' 'शैव-दर्शन' के ३६ तत्त्वों में परिगणित 'नियति' की मान्यता भी यदि 'प्रसाद' को बौद्ध 'दुःख-वाद' की ओर ले गयी हो तो कोई आश्चर्य नहीं—

"नचती है नियति नटी-सी
कंदुक-क्रीड़ा-सी करती।
इस व्यथित विश्व-आँगन में
अपना अतृप्त मन भरती।"

—['आँसू']

धरणी कवि से दुःख की माँग करती है और आकाश सुख को छीन ले जाता है; ऐसी स्थिति में कवि के लिए प्रिय का मुख देखने के सिवा अधार ही क्या है ? महादेवी जी के सूखे फूल के प्रति की गयी रचना मे दुःख की घनी छाया साकार हो उठी है—

"मत व्यथित हो फूल ! किसको
सुख दिया संसार ने ?
स्वार्थ-मय सबको बनाया—
है यहाँ करतार ने !

× × ×

जब न तेरी ही दशा पर
दुःख हुआ संसार को,
कौन रोवेगा सुमन,
हमसे मनुज निःसार को ?"

—['नीहार' से]

महादेवी जी इस ससार को मायेय और स्वप्नवत् मानती हैं।

'सखे, यह है माया का देश !'

—['नीहार']

× × ×

शून्यता में निद्रा की बन
उमड़ आते ज्यों स्वप्निलघन'

—['रश्मि]

संसार को स्वीकृति देते हुए भी 'दीप शिखा' में 'करुणा ने सजल वरदान' को ही ऊँचा स्थान दिया है—

'नभ अपरिमित में भले हो पंथ का साथी सवेरा,
खोज का पर अन्त है यह तृण-कणों का लघु बसेरा!
तुम उड़ो ले धूलि का
करुणा-सजल वरदान।
मेरे ओ विहग-से गान!'

बुद्ध की निर्वाण-भावना बार-बार दीप के प्रतीकों में मुखरमाण हो उठी है। 'दीपशिखा' की 'सजल है कितना सवेरा' कविता में दीपक का निर्वाण मृत्यु के पश्चात् निर्वाण का सकेत करे तो अस्वाभाविक क्या—

'तूलिका रख सो गया दीपक-चितेरा!'

अंग्रेजी 'रोमानी पुनरुत्थान' काल के विषाद में भी विद्वानों का कहना है कि प्लेटो के इस मत का भी हाथ था कि यह दृश्य संसार असत् है, सत्य उसके पीछे विचार (आइडिया) रूप में स्थित है। बात यह है कि परिवर्त्यमान मूल्यों की सामाजिक एवं वैयक्तिक स्थिति में मुक्ति कामी 'राग-वादी' कवि परि-स्थितियों की पृष्ठभूमि पर नवीन मूल्यों की खोज में अपने आगे-पीछे सुदूर तक देखता है। अपनी वर्तमान स्थिति में कुछ भी सहायता देनेवाले दृष्टि-पोषक उपकरणों को वह पुनर्व्याख्या प्रदान करता है। अपने वर्तमान की दुरवस्था और जटिलता में, हमारे छाया-युगीन कवियों ने भी करुणा, सहानुभूति, वेदना और पर-दुःख-कातरता आदि उच्च मानवीय मूल्यों के लिए अपने पुराने दर्शनों को टटोला है। जैसा अन्यत्र कहा गया है, बौद्ध दर्शन और सौगत सन्देश इस काल के दु:ख-कातर और प्रकाशकामी समाज के लिए बड़े मूल्यवान् सिद्ध हुए। चाहे विषण्णता में सन्तोष देने के नाते अथवा समाज-सघटन की नवीन शिलाओं के संग्रह-प्रयास में सहायक होने के कारण ऐसा हुआ, किन्तु 'छाया' युगीन काव्य-साधना को बुद्ध से एक सजल जीवन-दृष्टि मिली है। स्वयं 'प्रसाद' जी ने भी बौद्ध साहित्य का बड़ा प्रगाढ अध्ययन किया था। सेवा एवं करुणा के महान् आदर्श के कारण बौद्ध साहित्य और अमिताभ के सन्देशों का प्रचार-प्रसार निरन्तर बढ़ता जा रहा है।

छायावादी काव्य में प्रकृति

भारतवर्ष एक प्राकृतिकता—सम्पन्न देश है। प्रकृति के वातावरण मे ही भारतवर्ष का अधिकाश दैनिक जीवन व्यतीत होता है। प्रकृति के वरदानी क्रोड मे पलते हुए भारतीय प्रकृति के प्रति आदि से ही रागात्मक दृष्टिकोण रखते आये है। आदि ग्रंथ वेदों में भी उषा, मरुत्, सूर्य, सोम आदि के प्रति अत्यन्त श्रद्धा-राग-मयी उक्तियाँ प्रचुर सख्या मे प्राप्त हैं। हमारी भारतीय संस्कृति-सभ्यता पाश्चात्य देशों की भाँति नगर-सभ्यता नहीं, उसका पालन-पोषण एवं सस्कार वनो के बीच स्थित ऋषि आश्रमो मे हुआ है। प्रकृति की उन्मुक्त गोद मे, उसका शुद्ध स्तन्य पान कर हमारे ऋषि-पुरुषाओं ने जीवन-जगत् के जिन गम्भीर सत्यो का साक्षात्कार किया, वे हमारी राष्ट्रीय संस्कृति एवं जातीय भावनाओं की नस-नस में रक्त की भाँति स्पन्दित हैं। आदि कवि की महाकृति मे भी प्रकृति के अत्यन्त स्वाभाविक एवं मनोरम संश्लिष्ट चित्र उतारे गये हैं। इन वर्णनों मे अवतरित प्रकृति के दृश्य आदि—कवि के हृदय के राग से समिक्त हैं। ये प्रकृति-चित्र शुद्ध एव आलम्बन रूप में उपस्थित हुए हैं, उद्दीपन या अप्रस्तुत रूप में नहीं। एक-एक शब्द से आषाढ़ के प्रथम पयोद की गर्जना, प्रथम-जल-बिन्दुओं के गिरते ही पृथ्वी से उठने वाली सोंधी सुगन्ध, वन्य-पशुओं की क्रीडा, तट-निर्झरों का छल-छल-नाद, जम्बूफल की कालिमा, रसाकुल भ्रमरों का गुञ्जन—आदि सभी दृश्य हमारी ज्ञानेन्द्रियों से छन-छन कर चेतना तक पहुँचते—से अनुभूत होते है। नीचे का वर्षा का एक चित्र कितना बिम्ब-विधायक एव स्वाभाविक है :—

मुक्तासकाशं सलिलं पतद्वै
सुनिर्मलं पत्र-पुटेषु लग्नम्।
हृष्टा विवर्णच्छदना विहंगा:
सुरेन्द्रदत्तं तृषिता. पिबन्ति॥

(अरण्य काण्ड)

वन्य-प्रकृति का ऐसा सुन्दर, सटीक एवं प्रभावपूर्ण वर्णन भारतीय साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है फिर वैसे वर्णनों के कुछ स्फुट चित्र महाकवि भवभूति के काव्यों मे ही मिलते हैं।

उपमा के अद्वितीय विधायक महाकवि कालिदास के 'मेघदूत', 'रघुवंश' एवं 'कुमार-सम्भव' में आये हुए प्रकृति-दृश्य कवि के सूक्ष्म-निरीक्षण के निदर्शक हैं—

भागीरथीनिर्झरसीकराणां वोढ़ा मुहुः कम्पितदेवदारुः ।
यद्वायुन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्न-शिखण्डिबर्हः ॥

वायु के प्रति प्रयुक्त विशेषण दृश्य-सश्लेषण में कितनी सूक्ष्मता के साथ जुटाये गये हैं। केवल रमणीयता के ही नहीं, महाकवि ने प्रकृति एवं दृश्यों की ध्वस्तता एवं भग्नता के भी चित्र उतारे हैं। 'रघुवश' में कुश द्वारा व्यक्त अयोध्या का वर्णन इसका सफल निदर्शन है। यहाँ कविप्रतिभा का यही कौशल दर्शनीय है कि उसने स्थान-विशेष, दृश्य एव तथ्य-विशेष को इतनी मार्मिकता के साथ चुना है कि स्थान का वैशिष्ट्य भी सिद्ध हो जाता है, साथ ही इन स्फुट तथ्यों के सश्लेषण से पाठकों की ग्राहक-कल्पना उसका रमणीय विधान भी पा लेती है।

"कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघाहितानां सरलद्रुमाणाम्,
यत्र स्नुतक्षीरितया प्रसूतः सानूनि गन्ध सुरभीकरोति।"

के द्वारा कवि ने एक दृश्य का पूर्ण बिम्ब-विधान कर दिया है। भाव-प्राण भवभूति ने प्रकृति के रमणीय ही नहीं भयानक, निर्जन, छाया-गहन एव नीरव स्थलों के चित्र अत्यन्त बिम्ब-विधायकता के साथ अंकित किये हैं। क्लान्त कपोत-कुक्कुटों का बोलना, हाथियों के कपोलों की रगड से वृक्षों के फूलों का हिलकर गोदावरी में झरना, वानीर लता पुष्पों से झरनों के प्रवाहों का सुगन्धित हो उठना, हस्ति-दलित सल्लकी वृक्षों की शिशिर-कटुकषाय गन्ध का फैलना आदि दृश्य बड़ी कुशलता के साथ आकलित हुए हैं।

भारतीय 'रस-शास्त्र' की दृष्टि से प्रकृति 'उद्दीपन' में ही परिगणित है। वह नायक-नायिकाओ के भावोद्दीपन के लिए ही प्रयोजनीय मानी गयी है। 'रीति शास्त्र' की मान्यता की कठोरता-वृद्धि के साथ प्रकृति का 'आलम्बन-रूप' निरन्तर तिरोहित होता गया और 'उद्दीपन' तथा अलकरण-सामग्री अथवा 'अप्रस्तुत विधान' के लिए ही उसका प्रयोग होने लगा। माघ आदि कवियों के षट्ऋतु-वर्णनों में प्रकृति उद्दीपन-रूप में ही आयी है। महाकवि बाण की 'कादम्बरी' का प्रकृति-वर्णन भी इसी श्रेणी का है। मुक्तकों में तो वह अधि-काशत इसी रूप में प्रस्तुत हुई है। कालिदास-कृत 'ऋतु संहार' का वर्णन स्वयं उद्दीपन-रूप का ही है।

प्रकृति का मानव-भावाक्षिप्त या द्रष्टा-दृष्टि-रंजित रूप भी संस्कृत काव्यों में यत्र-तत्र प्राप्त है। इसके उदाहरणस्वरूप आदि कवि के 'रामायण' का वह छन्द है जहाँ लक्ष्मण जी ने 'तुषार-मलिन' चन्द्रिका को 'आतप-श्यामा' सीता की भांति देखा—

'ज्योत्स्ना तुषार-मलिना पौर्णमास्यां न राजते।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते॥'

इसी प्रकार विरही राम के वे कथन भी हैं जहाँ प्रकृति के उपकरण उन्हें विरहिणी जानकी की भाँति लगे हैं। राम विरहिणी एवं परित्यक्ता सीता की स्मृति भी 'उत्तर राम चरित' के 'छायांक' में राम के मन में कुछ ऐसी ही अनुभूति उत्पन्न करती दिखाई पड़ती है।

अप्रस्तुत-रूप में आए हुए प्रकृति के उदाहरण तो संस्कृत-साहित्य में एक से एक रमणीय एवं मार्मिक हैं। छायावादी काव्य में भी इसकी कमी नहीं। प्रकृति के अप्रस्तुत-रूप में वर्णन के दो रूप प्राप्त होते हैं; एक तो वह रूप जहाँ प्रकृति के उपकरण-दृश्य केवल अलंकारों में उपमान या अवर्ण्य-रूप में लाये जाते हैं, जैसे :—

'और उस मुख पर वह मुस्कान,
रक्त किसलय पर ले विश्राम,
अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।'

('कामायनी'—'श्रद्धा')

यहाँ कवि 'प्रसाद' का लक्ष्य अरुण की अलसाई-अम्लान किरण का वर्णन करना नहीं, वरन् 'उस मुख पर वह मुस्कान' का वर्णन करना है। और 'किरण' रूप में आया प्रकृति-दृश्य 'अवर्ण्य' या 'उपमान' रूप में आया है। दूसरे प्रकार में प्रकृति का वह वर्णन आ जाता है, जहाँ प्रकृति-वर्णन करते हुए भी कवि उपमा-उत्प्रेक्षा आदि की अधिकता से अप्रस्तुतों की भरमार द्वारा 'प्रस्तुत-विषय' (प्रकृति वर्णन) को गौण एवं प्रभाव-हीन कर देते हैं। संस्कृत के परवर्ती कवि माघ, श्रीहर्ष आदि ने ऐसे वर्णनों की भरमार कर दी है। ऐसे वर्णनों में प्रकृति के दृश्य की निजी रमणीयता या प्रभावशालिता तो दब जाती है और पाठकों की कल्पना में उपमानों के रूप में लाये गये तथ्य ही प्रधान हो जाते हैं। 'राम-चरित-मानस' का वर्षा शरद्-वर्णन भी इसी कोटि का है। यहाँ वस्तु-विन्यास नहीं, अलंकार या उपदेश अथवा 'शुक्ल' जी के शब्दों में 'अपर वस्तु' प्राधान्य पा जाती है। इसमें तो

कोई सन्देह नहीं कि चाहे वस्तु विन्यास में कवि अपने भाव को प्रत्यक्षतः अभिधा द्वारा कह दे या उपमानों को लाकर अप्रस्तुत-रूप में व्यंजित करे, उसका लक्ष्य भावों को तीव्रता प्रदान करना ही होता है। फिर, जो अप्रस्तुत वस्तु-सम्बन्धी मुख्य भाव-प्रभाव को तीव्र न बनाकर एक आनुषंगिक अथवा विरोधी भाषा या कोरे चमत्कार की सृष्टि करें, वे लक्ष्य भ्रष्ट ही कहे जायगें। प्रस्तुत के समान ही भाव-व्यंजना प्रभाव-सृष्टि करने वाले अप्रस्तुत ही काव्य के लिये उपयुक्त है। बहुत बाद को आकर रीति-ग्रंथों के संकेत पर कवि केवल वस्तुओं की सूची देकर नाम मात्र गिना देने को ही प्रकृति-वर्णन की कृतकृत्यता मानने लगे और यह प्रकृति-वर्णन का सबसे निकृष्ट रूप हुआ। कवियों ने अपनी तालिका में समय-असमय एव स्थानास्थान का ध्यान एक दम भुला दिया—

हंस, सुक, पिक, सारिका, अलि गुज नाना नाद;
मुदित मंडल भेक-भेकी, विहँग विगत-विषाद।
कुटज, कुमुद कदन, कोविद, कनक आनि सुकंज;
केतकी, करवीर, वेलउ, विमल बहु विध मजु।

(सूरदास)

हिन्दी साहित्य में प्रकृति का आलम्बन रूप में वर्णन बहुत ही कम हो सका। एक तो हिन्दी-साहित्य के निकट सस्कृत का परवर्ती काव्य ही रहा, जिसमें प्रकृति और विषय के स्थान पर कवि-कर्म एव चमत्कार को ही प्रधानता मिल गयी थी, दूसरे हिन्दी के अधिकाश युग-काल ऐसी विविध विचार-धाराओं से प्रभावित रहे कि उनमें प्रकृति एवं जागतिक सत्ताओं को मुख्य स्थान मिलना कठिन था। 'वीरगाथा-काल' भारतीय शौर्य्य के अधःपतन का काल था। साहित्य के आश्रय-केन्द्र राज-दरबार की स्थिति भी अप्रकृतिस्थ ही थी। ऐसी दशा में उन्हीं दरबारों में कविता करने वाले कवियों की दृष्टि का प्रकृति के स्वतंत्र सौन्दर्य्य की ओर न जाना स्वाभाविक ही था। वे प्रेम एवं वीरता के काव्य थे, जिनमें जीवन के इन्हीं दो पक्षों की प्रधानता थी और इन्हीं की यथासाध्य सिद्धि के लिए कवि के यावत् प्रयत्न नियोजित थे, अत इस काल में प्रकृति उद्दीपन और अप्रस्तुत सामग्री के रूप में ही उपस्थित हुई है। 'भक्ति-युग' में यह जगत् ही असार एवं मिथ्या माना गया। भक्त-कवियों की वृत्ति निवृत्ति-मूलक थी, अतः माया-स्वरूपिणी प्रकृति के मुक्त चित्रण का उनके यहाँ प्रश्न ही नहीं था। कबीर में प्रकृति-वर्णन का पूर्ण अभाव है। उनके काव्य में आये प्रकृति के उपकरण नैमित्तिक एवं प्रतीक-रूप में गृहीत हैं। 'काहेरी नलिनी तू कुम्हिलानी' आदि पदों में 'नलिनी' की निजी शोभा-सौन्दर्य्य के वर्णन की समस्या ही नहीं

उठती, क्योंकि 'नलिनी' 'आत्मा' का प्रतीक है। प्रेमाख्यानक 'सूफी-काव्य' में 'बारह-मासा' एवं 'षट्ऋतु-वर्णन' में आये हुए प्रकृति के वर्णन में वस्तु-सूची गणना एवं अलंकरण का प्राधान्य है। जायसी का 'नागमती विरह-वर्णन' उद्दीपन-रूप का ही उदाहरण है। अन्यत्र प्रकृति की समस्त शोभा परमात्मा की छाया के रूप में ही संकेतित है। 'राम-काव्य' में जीवन के लोक-मंगल पक्ष की प्रधानता के कारण प्रकृति वर्णन भी उपदेश-प्रधान एवं 'अपर वस्तु-वर्णन'-प्रणाली में उपस्थित हुआ है। 'कृष्ण-काव्य' में व्रजभूमि की महिमा-गरिमा के कारण प्रकृति का वर्णन तो हुआ अवश्य है, पर वह भी यमुना-कछार एवं मधुवन कुंजों तक ही सीमित है और उद्दीपन एवं अलंकरण-उपकरण रूप में अंकित किया गया है 'रीति-काव्य' तो पूर्णतः रीति-ग्रन्थों पर आश्रित एवं उन्हीं से अनुकृत है। उसकी स्फुटता, शृङ्गार-प्रधानता, आलंकारिकता एवं ऐहिकता के कारण वहाँ प्रकृति को उद्दीपन एवं अलंकार-सामग्री के सिवा अन्य रूपों में आने का अवसर ही कहाँ। रीति-काल का प्रकृति-वर्णन तो वियोगिनियों की वियोगाग्नि को दहकाने एवं संयोगिनियों की वासना के उद्दीपन का व्यंजन है। जहाँ कहीं प्रकृति के स्वतन्त्र रूप दिखाई भी पड़ते हैं, वे भी रीति-रस की स्थूल कठोरता की पृष्ठभूमि में 'वस्तु व्यंजना' के भीतर ही परिगणित होकर गौण बन जाते हैं। बिहारी के निम्नस्थ दोहे को यदि अन्तरङ्ग सखी या दूती का नायिका के प्रति वचन माना जाय तो प्रकृति की स्वतन्त्र-रूपता कहाँ।

> 'छकि रसाल, सौरभ-सनें, मधुर माधवी-गंध।
> ठौर-ठौर झौरत फिरत, भौंर भौंर मधु अंध॥'
>
> (बिहारी-'सतसई')

'आधुनिक युग' के प्रारम्भ में 'भारतेन्दु युग' में भी प्रकृति या तो उद्दीपन रूप में आयी या उसका 'अप्रस्तुत'—रूप इतना प्रधान रहा कि वहाँ भी शुद्धता के दर्शन नहीं होते। उनके 'गंगा-छवि-वर्णन' एवं 'यमुना छवि-वर्णन' के स्थल उपमा उत्प्रेक्षा एवं रूपकों से आच्छन्न हैं। चमत्कार प्रधान एवं वर्ण्य-वस्तु गौण है। पं० श्रीधर पाठक का ध्यान प्रकृति के मुक्त, स्वतंत्र एवं आलम्बन-रूप पर अवश्य गया और 'काश्मीर-सुषमा' आदि कविताओं में हमें प्रकृति की निजी शोभा के दर्शन हुए। प्रकृति के आलम्बन-रूप के वर्णन करने वाले कवियों एवं लेखकों में सर्व श्री पाठक जी, हरिऔध, ठा० जगमोहन सिंह, पं० रामचन्द्र शुक्ल एवं रामनरेश त्रिपाठी का नाम प्रसिद्ध है। ठा० जगमोहन सिंह के 'श्यामा-स्वप्न' उपन्यास में प्रकृति के बड़े ही रमणीय एवं सहज चित्र अंकित हुए हैं। पाठक जी ने अनुवादों के अतिरिक्त 'काश्मीर' आदि के

वर्णन प्रकृति के सुन्दर-पक्ष के सुन्दर उदाहरण हैं, पर प्रकृति के साधारण एवं उग्र-रूपो के वर्णन उनमें भी नहीं मिलते। रमणीय-रूपों के वर्णन में भी अलकार-पक्ष की अधिकता है। उपमा एवं उत्प्रेक्षाओं का सगुम्फन हुआ है। पर यह अलकार-विधान चमत्कृति के लिए नहीं, विषय गत आनन्द एव सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। प्रकृति के नैसर्गिक रूप का सर्वोत्कृष्ट वर्णन आचार्य शुक्ल द्वारा हुआ है। उनकी दृष्टि प्रकृति के रम्य एव उग्र दोनों ही रूपों की ओर है। 'बुद्ध-चरित्र' में आया वसन्त-वर्णन एव 'शिशिर पथिक' और 'वसन्त-पथिक' तथा 'हृदय का मधुर भार' शीर्षक छन्द इसके सफल निदर्शन हैं।

प्रकृति का मानव-जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। उसके साथ मानव का आदिम एव सनातन साहचर्य है। प्रकृति और काव्य का सम्बन्ध समझाते हुए आचार्य शुक्ल ने अपने 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' निबंध में 'भावग्रहण' और 'रस-ग्रहण' की प्रणाली को एक समान बतलाते हुए प्रकृति वर्णन में 'रस' की भी स्थिति मानी है। उन्होंने उक्त निबंध के पृ० ४ पर ('चिन्तामणि' द्वितीय भाग) कहा है कि 'जिन प्राकृतिक दृश्यों के बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे और अब भी मनुष्य जाति का अधिकाश (जो नगरों में नहीं आ गया है) अपनी आयु व्यतीत करता है, उसके प्रति प्रेम-भाव पूर्व-साहचर्य के प्रभाव से 'सस्कार' या वासना' के रूप में हमारे अन्तःकरण में निहित है।' उनका कहना है कि प्राकृतिक दृश्यों के दर्शन से उत्पन्न होने वाला 'हर्ष' सचारी प्रकृति दृश्यों के मूल में स्थित 'रति-भाव' का प्रमाण है। शेष प्रकृति के साथ सम्बन्ध-सकोच होने से मनुष्य का 'आनन्द-सकोच' भी आवश्यभावी है। साहचर्य-जनित प्रेम हेतु-ज्ञान-शून्य और सच्चा तथा स्वभाविक होता है। यदि कोई उसे विभाव, अनुभाव और सचारी से पुष्ट भाव-व्यजना ही मानता है, तो भी उन्हें विशेष आपत्ति नहीं। 'शुक्ल' जी का कथन निरपेक्ष दृष्टि से सोलहों आने सत्य है। जाने-अनजाने प्रकृति या वाह्य ससार के प्रति मनुष्य की रुचि उसकी चेतना की ही गति है और प्रकृति या बाह्य जगत् के प्रति उसके आकर्षण के मूल में उसकी आत्म चेतना का कोई न कोई तार अवश्य सम्बद्ध होगा, किन्तु वाह्य एवं ऊपरी दृष्टि से उसका आकर्षण कभी कभी निरपेक्ष दिखलाई पड़ता हुआ भी भीतर-भीतर मूल में सापेक्ष ही होता है। किन्तु सभी लोग और एक ही व्यक्ति भी इस सापेक्षता के प्रति सदैव और पूर्णत. प्रबुद्ध नहीं होते। कभी हम प्रसन्न होते हैं तो प्रकृति के सुन्दर दृश्यों के प्रति हमारा उल्लास तुरन्त प्रवण हो उठता है और हम

यह अनुभव भी करते रहते हैं कि हमारा व्यक्तिगत उल्लास किस प्रकार प्रकृति की रमणीयता से मिलकर और चमक उठा; पर विपण्ण मनोमुद्रा में हममें प्रकृति-सुषमा के प्रति उतनी सहजता से भाव प्रवणता नहीं जगती। मानव जीवन में हमके चेतन, अर्धचेतन एवं अव-चेतन मन का बड़ा महत्त्व है। इस नाते प्रकृति के प्रति आकृष्ट होने एवं उसमें रमण करने का हमारा संस्कार भी बन गया है, चाहे वह संस्कार प्राकृतिक, आदिम अथवा मौलिक न होकर पश्चाज्जनित एवं साहचर्य सम्बन्ध का ही फल क्यों न हो। 'शुक्ल' जी के उक्त निष्कर्ष से किसी को कोई आपत्ति नहीं। आपत्ति तो तब होती है, जब वे काव्य में 'अभिधा' की प्रतिष्ठा करते हुए (छायावादी लाक्षणिकता के पूर्वाग्रही विरोध में) प्रकृति के निजी एवं निरपेक्ष सौन्दर्य को इतनी प्रधानता देने लगते हैं कि आलम्बन—'वस्तु' और स्थूल दृश्य ही सब कुछ बन जाते हैं और उनके प्रति मनुष्य या द्रष्टा की भाव-प्रभाव-प्रतिक्रिया एकदम गौण। 'काव्य में अभिव्यञ्जना-वाद' लेख में (पृ० १८५, १८६, २०१, २०५ २२८ से २३१ पृष्ठ द्रष्टव्य) उन्होंने पाठकों में काव्य के 'प्रस्तुत'—पक्ष पर किसी बहुत बड़े संकट का नारा लगाते हुए सन्नद्धता का आह्वान-सा किया है। प्रकृति के मानव-भाव-रञ्जित रूप को वे पसन्द नहीं करते। पर इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि प्रकृति के साथ हमारे साहचर्य-संस्कार जनित सम्बन्ध का ही यह एक बड़ा ही मार्मिक पक्ष है कि वह हमारे सुख दुःख में घुली-मिली दिखलाई पड़ती है, हमारे हास के साथ हँसती और हमारे अश्रुओं से अपने आँसू मिलाती प्रतीत होती है। 'शुक्ल' जी साहचर्य का अर्थ केवल उसके 'निरपेक्ष सौन्दर्य' की अनुभूति ही लेते हैं। जब प्रकृति के साथ हमारा सहजात एवं सहचारी का-सा सम्बन्ध है और वह हमारी भाव-प्रभाव व्यंजना का अंग और माध्यम बन गयी है, तब इस आंशिक व्यंजना को क्यों इतनी महत्ता दी जाय। प्रकृति का प्रभाव हमारी चेतना में आन्दोलन-स्पन्दन उत्पन्न करता है और वह हमारी अनुभूतियों एवं भावों के रूप में साहित्य एवं काव्य में व्यक्त होता है। इस प्रकार काव्य में प्रकृति से उत्पन्न सभी प्रतिक्रियाओं एवं अनुभूतियों का स्थान है। किसी को काव्य में प्रकृति के निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र सौन्दर्य वर्णन से कोई आपत्ति नहीं हो सकती। वह भी प्रकृति का एक सुन्दर रूप है और उसमें भी अपनी निजी संवेदना होती है। 'शुक्ल' जी ने प्रकृति-वर्णन के इस पक्ष की ओर संकेत कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य ही किया और सचमुच उनके प्रकृति-वर्णनों में एक शुद्ध संवेदना भी है, पर वही प्रकृति-वर्णन का एक मात्र रूप नहीं। विरोध एवं आपत्ति तो अतिवाद एवं अतिरेक से है। प्रभात काल में महाकवि

कालिदास द्वारा वर्णित सूर्य एव पद्मिनी का निम्नांकित वर्णन यद्यपि निरपेक्ष नहीं, उस पर मानवीय भाव का मधुर आरोप है, पर क्या वह किसी निरपेक्ष वर्णन से कम आकर्षक एव रमणीय है ? मानवीयता की हित-साधना एव लोक-कल्याण के समर्थक 'शुक्ल' जी जैसे साहित्य-चिन्तक द्वारा, अत्यन्त अतिरेक के साथ प्रकृति से मानवीयता का निष्कासन कभी-कभी आदर्शवाद की अतिभावुकता का आभास देने लगता है। निम्न छन्द से विरही यक्ष मेघ को सावधान कर रहा है कि सूर्य का मार्ग न रोकना, क्योंकि प्रभात में ही खण्डिताओं के प्रियतम उनके क्लेश को मिटाते हैं और सूर्य भी अपनी प्यारी कमलिना के मुख से ओस-अश्रुओं को पोछने आते हैं—

'तस्मिन्काले नयन सलिलं योषितां खण्डितानां
शान्ति नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु।
प्रालेयाश्रुं कमलवदनात् सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यरूपः ॥'

('मेघदूत' पूर्वार्ध ४१ ॥)

सस्कृत में तो प्रकृति पर स्वतन्त्र-रूप से रचनाएँ प्रारम्भ से मिलती हैं और बहुत सुन्दर-सुन्दर रचनाएँ मिलती हैं, किन्तु हिन्दी में आकर प्रकृति के स्वतन्त्र वर्णन की प्रणाली बहुत क्षीण हो उठी। बाद को लोक गीतों में 'बारह मासे' और साहित्य में 'षड्ऋतु-वर्णन' की प्रणाली बच रही, वह भी आगे चलकर 'उद्दीपन'-प्रधान हो उठी। हिन्दी-साहित्य में 'भारतेन्दु' जी से ही आधुनिकता के सकेत मिलने लगते हैं। 'रीति-काल' में 'उद्दीपन'-सामग्री के रूप में गृहीत प्रकृति के परिगणित उपकरण यत्र-तत्र स्वतन्त्र और 'उद्दीपन' से भिन्न उद्देश्य के लिये भी आने लगे। 'भारतेन्दु' जी के नाटकों में आये 'गंगा-छवि-वर्णन' एवं 'जमुना-छवि-वर्णन' विषय की दृष्टि से नवीनता-युक्त तो अवश्य कहे जायेंगे, किन्तु शैली की दृष्टि से ये 'रीति-काल' की आलकारिक शैली से पूर्णतः ओत-प्रोत हैं। 'अप्रस्तुत'-सकलन में ही कवि की प्रतिभा का व्यय प्रधान रूप से होता दिखाई पडता है, जहाँ प्रकृति के रूपों का निरूपण नहीं चमत्कार-सम्पादन प्रमुख साध्य है। प० श्रीधर पाठक ने 'गोल्डस्मिथ' के प्रकृति-वर्णनों से प्रभावित होकर उसके ग्रन्थों का अनुवाद तो किया ही, स्वतंत्र रूप से भी काश्मीर आदि पर कविताएँ लिखीं। आचार्य 'शुक्ल' ने विन्ध्याटवी की शोभा का अत्यन्त सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। श्री प० लोचन प्रसाद जी पाण्डेय के 'मृगी दुख मोचन' एव श्री प० रूपनारायण जी पाडेय की 'वन-विहगम' कविता में भी प्रकृति का 'आलम्बन'-रूप में सुन्दर वर्णन प्रस्तुत हुआ है।

वास्तव में प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से, उसके विविध रूपों के विधान-संधान को देखते हुए 'छायावादी काव्य' सबसे अधिक सम्पन्न काव्य है। एक ऐसा भी विचार यत्र-तत्र दिखलाई पड़ जाता है कि छायावादी कवियों के मानस में स्त्री पूर्ण अधिकार जमाये हुए थी। उसीने उन्हें क्षितिज के पार और नभ-गंगा के कूल पर रहस्य का द्वार दिखलाया और उसी ने उन्हें प्रकृति के विविध उपकरणों के भीतर नारी-रूपारोप की प्रेरणा दी। उनकी व्याख्या के अनुसार छायावादी कवियों में पहिले प्रकृति के प्रति रहस्य-भावना आयी और फिर उसके अशरीरी और सूक्ष्म सौन्दर्य्य की अनुभूतियों का अभिव्यक्तीकरण होने लगा। फिर प्रकृति का 'मानवीकरण' होने लगा। इसके उदाहरण में प्रायः 'पन्त' की निम्न पंक्तियाँ उपस्थित कर दी जाती हैं—

उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही माँ वह अपनी वय-बाली में।'

बाद को नैतिक आतंक से कुंठित युग की दमित प्रवृत्तियों या अभुक्त आसक्तियों के मेल होने से उसमें मांसल स्थूलता और कायिक मूर्तिमत्ता आ गई। फिर यहीं से दो विभाग किये जाने लगे। एक ओर प्रकृति-वर्णन का वह रूप रखा गया, जिसमें प्रकृति प्रधान और नारी गौण होती है और स्त्री की सूक्ष्मगत अथवा आन्तरिक व्यक्तित्व की अनुभूतियों का प्रकृति पर आरोप होता है; यथा—

"मेंहदी-युत मृदु कर-तल-छवि से
कुसुमित सुमन सिंगार।
गौर देह-द्युति हिम-शिखरों पर
बरस रही साभार॥
पद-लालिमा उषा पुलकित पर
शशि-स्मित घन सोभार।
उडु-कंपन मृदु-मृदु उर स्पन्दन
चपल वीचि-पद-चार॥"

('पन्त'. 'अप्सरा')

दूसरी कोटि में वे रचनाएँ आती हैं, जिनमें नारी की मांसल सुन्दरता अथवा स्थूल-गत दर्शन से उत्पन्न भावनाओं का प्रकृति पर आरोप किया जाता है। प्रकृति के किसी उपकरण द्वारा कराये गये वे व्यवहार सामान्य और जाति-गत-से होते हैं। प्रकृति की अमूर्त सत्ता मांसल रूप में उपस्थित होती है और

शारीरिक सौन्दर्य से युक्त युवती-मात्र की भावना का उस पर आरोपण होता है। 'प्रसाद' और 'निराला' की निम्न पंक्तियाँ ऐसी ही बतलायी जाती हैं—

"घूँघट खोल उषा से झाँका और फिर
अरुण अपांगों से देखा कुछ हँस पड़ी,
लगी टहलने प्राची के प्रांगण में तभी।"–['झरना']

× × ×

"सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह,
छाँह सी अम्बर-पथ से चली
वह संध्या सुन्दरी परी सी
धीरे-धीरे-धीरे।"–['निराला'-'सध्या-सुन्दरी']

बाद को फिर तो नारी का ही प्रकृति चित्रण होने लगा। नारी ही प्रकृति-रूपिणी हो उठी। 'प्रसाद' की 'कामायनी' में गर्भिणी 'श्रद्धा' का "केतकी गर्भ-सा पीला मुख.. .. " आदि पंक्तियाँ तथा पन्त की 'भावी पत्नी के प्रति' कविता (गुजन) के कितने ही चरण इसके प्रमाण-स्वरूप उपस्थित किये जाते हैं :—

"खोल सौरभ का मृदु कच-जाल
सूँघता होगा अनिल समोद।
सीखते होंगे उड़ खग-बाल
तुम्हीं से कलरव-केलि-विनोद॥"

प्रारम्भ में 'पन्त' आदि में प्रकृति की निरपेक्ष सत्ता के प्रति तादात्म्य का भाव है, पर अन्ततः 'स्वर्ण-किरण' में वह सत्व पुलकित और 'उत्तरा' में स्वयं पुरुष की आराधिका बन गई। इस सम्पूर्ण मनोविश्लेषण का अधिक से अधिक यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि छायावादी काव्य के अन्तर्गत आयी प्रकृति अधिकांशतः मानव-सापेक्ष्य है। वास्तव में छायावादी कवियों ने प्रकृति के उपादानों के भीतर भी अपने ही-से जीते-जागते हँसते-रोते हृदय अथवा चेतना की खोज की है। उन्होंने प्रकृति को अपने से भिन्न फैले हुए जड-प्रसार का एक अग न मान-कर, अपने ही बीच उन्हें और उनके बीच अपने को स्थापित कर परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया की अत्यन्त प्राणमयी व्यजना की है। प्रकृति और मानव सुख-दु'ख एक ही साँस से प्रश्वसित और उल्लास-विषाद के एक ही तार से झंकृत दिखाई पडते हैं। इसके पूर्व के वर्णनों में कवि एक द्रष्टा-मात्र-सा होता था, किन्तु अब कवि अनुभोक्ता-सा दिखलाई पड़ता है। ये कवि प्रकृति में एक विशेष प्रकार की अभिरुचि से सम्पन्न दिखलाई पड़ते हैं। इनकी दृष्टि में एक

ताजगी है। ये परंपरा एवं रूढ़ियों से बहुत आगे बढ़कर अपनी निजी अनुभूति के आधार पर प्रकृति का उपयोग करते हैं, इसीलिए इनके वर्णन प्रकृति के पूर्ववर्ती उद्दीपन रूप वर्णनों से अधिक सजीव हो सके हैं।

श्री 'प्रसाद' जी की दृष्टि अधिकांशतः प्रकृति के रमणीय पक्ष की ही ओर रही है। उन्होंने उसके मधुर एवं मादक पक्ष का ही अधिक चित्रण किया है, किन्तु जहाँ प्रकृति के भयावह एवं उग्र रूप को भी ग्रहण किया है, अपना प्रतिद्वन्द्वी नहीं रखते। 'कामायनी' के 'चिन्ता' सर्ग में 'प्रलय' एवं 'जल-प्लावन' का वर्णन बड़ा ही प्रभाव-पूर्ण एव सफल हुआ है—

पंचभूत का भैरव मिश्रण
शंपाओं का शकल-निपात।
उल्का लेकर अमर-शक्तियाँ
खोज रहीं ज्यों खोया प्रात॥
धँसती धरा, धधकती ज्वाला,
ज्वालामुखियों के निःश्वास।
और संकुचित क्रमशः उसके
अवयव का होता था ह्रास

× × × ×

करका क्रन्दन करती गिरती
और कुचलना था सबका,
पंच भूत का यह ताण्डव-मय
नृत्य हो रहा था कब का?

एक-एक शब्द से प्रलय की धड़कन सी अनुभव होती है। पंचतत्वों का भैरव मिश्रण, बिजलियों का गिरना और उसमें उल्काओं का टूटना, मानो ध्वंसोन्मुख देवता उल्काएँ लेकर अपना खोया प्रात ढूंढ रहे हों। धरा का धँसना, ज्वाला का धधकना, ज्वालामुखियों के निःश्वास और उनका क्रमशः क्षीण होते जाना कितना भयानक है !!! फिर भी 'प्रसाद' जी मुख्यतः मानवीय प्रकृति के कवि हैं। मानव की अंतःप्रकृति के चित्रण में उनकी वृत्ति जितनी रमी है, उतनी बाह्य प्रकृति के चित्रण में नहीं। बाह्य प्रकृति भी इसी अन्तः-प्रकृति के मेल में ही आयी है, किन्तु 'प्रसाद' जी ने 'अप्रस्तुत'-विधान के हेतु प्रकृति के उपकरणों को बड़ी सहृदयता एवं अनुभूति के साथ अपनाया है—

नत-मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के घन रस-कन ढरते,
हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो,
मौन बने रहते हो क्यों ?

['चन्द्रगुप्त' नाटक पृ० ११]

× × ×

परिरम्भ-कुम्भ की मदिरा
निःश्वास मलय के झोंके।
मुखचन्द्र चाँदनी जल से
मैं उठता था मुँह धोके॥

('आँसू')

पं० सुमित्रानन्दन जी पन्त की रचनाओं में प्रकृतिनिरीक्षण की एक सूक्ष्म एवं मार्मिक दृष्टि का दर्शन होता है। पर्वतीय प्रदेश की गोद में पले हुए इस सुकुमार कवि को प्रकृति से सहज चेतना प्राप्त हुई है। 'पन्त' जी में प्रकृति सबसे अधिक 'आलम्बन' रूप में गृहीत हुई है। अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में ही इस पर्वतीय कवि ने अपने प्राणों का रस उड़ेल कर कविता सुन्दरी को एक नूतन वेश प्रदान किया है। बचपन में ही इनकी माता का देहावसान हो गया। कवि ने माता का अंचल छोड़ प्रकृति का अंचल पकड़ा और वह मनुहार भरे स्वर में गा उठा—

सिखा देना हो विहँग-कुमारि,
मुझे भी अपना-मीठा गान।

'वीणा' में कवि की प्रकृति के प्रति जिज्ञासा, मुग्धता एव तादात्म्य की उत्कण्ठा अत्यन्त सुन्दर रूप में व्यक्त हुई है। 'पल्लव' में कल्पना एवं 'गुञ्जन' में चिन्तन का विकास है। 'पन्त' की प्रकृति-सम्बन्धी रचनाओं में एक सहज आकर्षण, सूक्ष्म सूझ एवं सरल भावुकता है। प्रकृति ने उनकी मनुहार स्वीकार की और उन्होंने गाने का वह वरदान पाया जिसके रस से हिन्दी खड़ी-बोली भाषा ही रस-सिक्त हो उठी। पर्वतीय पावस का कितना सुन्दर चित्र 'पल्लव' की 'उच्छ्वास' नामक कविता में अवतरित हुआ है। मुक्त वातावरण सहसा कुहरे के सघन पटलों से आच्छादित हो उठता है। सामने ही दिखलाई पड़ने वाले वृक्ष, ताल एवं निर्झर अदृश्य हो उठते हैं और ऐसा लगता है जैसे वे केवल 'रव-शेष' रह गये हों, वृक्ष-भूमि में धस गये, ताल के ऊपर का घना कुहरा आग के धुएँ की भाँति प्रतीत होने लगता है—

'गिरिवर के उर से उठ-उठ कर
उच्चाकांक्षाओं से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर
अनिमेष, अटल, कुछ चिन्तापर!
रव-शेष रह गये हैं निर्झर!
है टूट पड़ा भू पर अम्बर!
धँस गये धरा में सभय शाल!
उठ रहा धुवाँ, जल गया ताल!
यों जलद-यान में विचर-विचर,
था इन्द्र खेलता इन्द्र जाल।'

—('पल्लव'-'उच्छ्वास')

कुछ विद्वानों का प्रारम्भ में यह भी कहना रहा कि छायावादी काव्य-धारा के कवि प्रकृति की ओर प्रवृत्ति तो प्रकट करते हैं, पर उनका प्रकृति के प्रति सच्चा राग नहीं है। व्यक्तिगत अनुभूतियों की व्यञ्जना करना उनका प्रमुख लक्ष्य है अपने इसी प्रयत्न में वे अपनी बात तो स्पष्टतः कह नहीं पाते, उलटे प्रकृति के सहज-सुन्दर रूप को भी धवीला कर डालते हैं। इन कवियों में उन्हें प्रकृति के प्रति सूक्ष्म निरीक्षण की दृष्टि नहीं मिलती। हरसिंगार, मालती, मल्लिका, जुही, रातरानी, माधवी और कभी-कभी अंगरेजी-ज्ञान प्रकट करने की उमङ्ग में अंगरेजी फूलों के नाम 'स्वीट पी' आदि शब्दों के प्रयोग तक ही उनका प्रकृति-प्रेम सीमित है। अधिक से अधिक गृहोद्यानों के गिने-गिनाये कटे-छँटे रूपों तक ही उनका राग परिमित कहा जा सकता है। सन् १९४२ में 'वीणा' में चलने वाली श्री कृष्ण किशोर चतुर्वेदी की 'छायावाद'-विरोधिनी 'लेख-माला' में ('आधुनिक कविता की भाषा' पृ० १२) महादेवी जी के 'हरसिंगार'-सम्बन्धी अज्ञान या अशुद्ध प्रयोग पर आक्षेप करते हुए निम्न पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं—

"शिथिल मधु-पवन, गिन-गिन मधु-कण
हर सिंगार झरते हैं झर-झर।"

कहा गया है कि 'हर सिंगार' का फूल बहुत ही शान्ति एवं निःस्वनता के साथ झड़ता है, उसके लिए 'झर-झर' प्रयोग बिल्कुल अशुद्ध है। 'हर-सिंगार' का फूल अत्यन्त विराव विहीन ढंग से झड़ता है, यह ठीक है, किन्तु यहाँ 'झर-झर' शब्द नाद-साम्य के ध्वन्यर्थ नहीं प्रस्तुत किया गया है, वरन् अधिक संख्या में शीघ्र ही गिर जाने के अर्थ में गिरने की त्वरा और अविलम्बता सूचित करने

के लिए 'झर-झर' शब्द का प्रयोग किया गया है, ध्वनि का अनुकरण करने के लिए नहीं। 'शिथिल मधु पवन' शब्द स्वयं इसका प्रमाण है। इसी प्रकार श्री 'बच्चन' के 'निशा-निमन्त्रण' के गीतों को लेकर भी वैसी ही विद्रूप-व्यंग्य-भरी कटूक्तियाँ कही गयी हैं, जैसी श्री कृष्णानन्द जी गुप्त ने प्रसाद के दो ऐतिहासिक नाटकों के लिए साद्यन्त प्रयुक्त की हैं। दोष दिखाने के लिए और व्यंग्य करने के लिए तो किसी भी कविता पर अपने दिल का बुखार उतारा जा सकता है। जहाँ 'गौरैया' पक्षी के नाम लेने, उषा के हँसने, पहली किरण आदि से गुरेज़ है, वहाँ और अधिक कहा ही क्या जाय ? निम्न पंक्तियों की सुन्दरता और उस पर किये गये व्यंग्य दोनों की तुलना कीजिए—

हाथ बढ़ा सूरज किरणों के,
पोंछ रहा आँसू सुमनों के;
अपने गीले पंख सुखाते,
तरु पर बैठ कपोत-कपोती।

('निशा-निमत्रण')

—"कितनी ऊँची कल्पना है। सूरज की किरणें हैं वही उसके हाथ हैं, जिनसे वह फूलों के आँसू पोंछ रहा है!" (आधुनिक कविता की भाषा पृ० १४) आलोचक के लिए सम्भवतः यह आश्चर्य की बात हो कि महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' में भी इस प्रिय कल्पना को स्थान मिला है—

'प्रालेयाश्रुं कमलवदनात् सोऽपि हर्तुं नलिन्या.'।

छायावादी कवियों की दृष्टि जीवन-जगत् के प्रति मनोरमता की दृष्टि रही है। वह जीवन के बाह्य पक्ष के प्रति कम उसके आन्तरिक पक्ष की ओर अधिक उन्मुख रहा है। इसी आन्तरिकता के प्रति अधिक आकर्षण के कारण उसे 'पलायनवादी काव्य' भी कहा गया है। छायावादी कवि जीवन-जगत् की बाह्य रूप-रेखा को महत्त्व न देकर उसके भीतरी मर्म को प्राधान्य देता है। इस मर्म का उद्घाटन बहुत कुछ उसकी निजी दृष्टि पर निर्भर होता है। इसी निजी दृष्टिकोण के कारण उसने प्रकृति के भी उन्हीं रूपों को ग्रहण किया है जो उसकी अनुभूति-विशेष को सिहलाते या प्रेरणा देते हैं। इससे छायावादी काव्य के भीतर प्रकृति के ऐसे रूप तो कम ही आते हैं जो अब तक के काव्य में न आये हों या जन-साधारण की दृष्टि-परिधि के बहुत बाहर हों, किन्तु, उन रूपों की व्याख्या एवं निष्कर्ष अवश्य मार्मिक, असाधारण एवं अपने ढग के अनोखे हैं। भारतीय साहित्य में सन्ध्या दुःख, अवसान या विषाद की सूचक नहीं मानी जाती थी, किन्तु छायावादी कवियों ने पाश्चात्य प्रयोगों के मेल में

उसे उसी रूप में देखा और उसे दुःख या अवसान के प्रतीक के रूप में स्वीकार किया। उषा उल्लास और आरम्भ की प्रतीक मानी गई। यही नहीं, 'पन्त' जैसे सुकुमार कवियों ने भाषा की 'लिंग'–परिपाटी को भी अपनी रुचि की खराद पर चढ़ाया। उन्होंने 'प्रात' 'प्रभात' 'विहान' 'प्रात' आदि शब्दों को प्रचलित परंपरा के विरुद्ध 'स्त्री लिंग' में ही प्रयुक्त किया। प्रकृति की मानव-सापेक्षता के कारण जहाँ अन्य मधुर-कोमल भाव अधिक ऊपर न आ सके होंगे तो 'ओ सागर-संगम अरुण नील' ('प्रसाद'-'लहर') एव 'नौका-विहार' ('पन्त'-गुञ्जन) जैसी कविताओं की भाँति उस पर दार्शनिकता का ही एक झीना आवरण झिलमिलाता मिलेगा। छायावादी कवियों ने दुर्गम घाटियों, सघन-गुञ्जान कान्तारों एव सुदूर पर्वत शिखरों के असामान्य सौन्दर्य का दर्शन तो नहीं कराया, क्योंकि अपनी अन्तरानुभूतियों से उन्हें अधिक अवकाश कहाँ था; पर सामान्यतः प्राप्त प्रकृति के उपकरणों को ऐसे सुस्थान पर यथावसर चुन दिया है कि उनमें एक अदृष्टपूर्व सौन्दर्य एवं मौलिक दृष्टि के दर्शन होते चलते हैं। सध्या, उषा, दिवस, रात, किरण, ज्योत्स्ना, अधकार, मेघ, नभ, सागर, सरोवर, बिजली, ओस, दूर्वा, अरुण, चन्द्र, पवन आदि सुपरिचित उपकरणों के प्रयोग-उपयोग से ही उन्होंने अनुपम सौन्दर्य की सृष्टि की है। सारी प्रकृति मानव भाव-रस से ओत-प्रोत है।

छायावादी कवियों ने प्रकृति के उपकरणों का सचेतनवत् वर्णन किया है, उसमें मानवीय भाव व्यापारों का आरोपण किया है। यह मानवीयकरण की वृत्ति इतनी प्रधान हो उठी है कि एक बार छायावादी कविता के आरम्भिक आलोचकों को ही यह भ्रम हो उठा कि वास्तव में प्रकृति के उपकरणों में अलग-अलग स्वतंत्र आत्माओं का दर्शन ही 'छायावाद' और समस्त प्रकृति में एक ही विराट् आत्मा या परमात्मा की अनुभूति 'रहस्यवाद' है! इस मानवीकरण या प्रकृति-उपकरणों की सचेतना का वर्णन ही छायावादी दर्शन बन गया ('दर्शन' को 'फिलासफी' का प्रतिशब्द मानकर उसे मात्र बुद्धि-क्रिया स्वीकार करने का भ्रम तो प्रायः हुआ ही है।) कहीं-कहीं तात्कालिक सैद्धान्तिक निष्कर्ष के फलस्वरूप या 'अर्थवाद' के रूप में किसी प्राकृतिक घटना व्यापार से भले ही कोई परिणाम निकाला गया हो, पर सामान्यता के रूप में प्रकृति के भीतर मानव की-सी आत्म-चेतना की अनुभूति-जैसी कोई भी बात नहीं। काव्य-कला की उमग में कही गयी उक्तियों की बात और है और दृढ़ एवं अनिवार्य आस्था के रूप में किसी सिद्धान्त को लेकर चलना और बात है। वैसे तो अद्वैतवादी दर्शन के अनुसार सभी कुछ ब्रह्ममय है और अपना ही

रूप, पर सामान्य व्यवहार और काव्य-मनोमुद्रा में वास्तविक अनुभूति का प्रश्न इतना सहज नहीं। महाकवि 'पन्त' की प्रारम्भिक जिज्ञासा प्रधान प्रकृति-कविता में कुछ अंशों में यह बात लागू हो सकती है, जहाँ उन्होंने अल्मोड़े की प्रकृति की गोद में 'माँ' कहते हुए अपनी बाल सुलभ जिज्ञासाओं का मनोरम प्रसार किया है। किन्तु यह परंपरा भी आगे नहीं चल सकी और 'पल्लव' तक आकर लगभग समाप्त हो गयी। कवि के भावों से रंजित प्रकृति का सचेतन एवं संवेदनशील दिखाई पड़ने वाला रूप ही काव्य के लिए प्रभावशाली होता है। औरों के लिए प्रकृति भले ही मौन और जड़ रहे, पर कवि तो प्रकृति के भीतर अपने हृदय के प्रश्नों का समाधान पा ही लेते हैं। प्रकृति की यह सचेतनता, सजीवता आदि कविता से ही सिद्ध है। छायावादी कविता में तो प्रकृत मानव-प्राणों के भाव-रस से भींग उठी है फिर भी इस काव्य में प्रकृति-प्रयोग के विभिन्न रूपों का भी यत्किंचित दर्शन हो ही जाता है। छायावादी काव्य में आई हुई प्रकृति को साधारणतः (१) वर्ण्य (२) अवर्ण्य (३) रहस्यात्मक (४) विचारात्मक एवं (५) प्रतीकवत्—कोटियों में विभाजित कर सकते हैं।

प्रकृति का 'वर्ण्य'—रूप में वर्णन—आधुनिक युग में प्रकृति 'वर्ण्य'—रूप में पूर्व कालों की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त हुई है। प० श्रीधर पाठक, हरिऔध एवं आचार्य 'शुक्ल' जी ने इस प्रवृत्ति को प्रारम्भ कर इसे काफी सबल बनाया। स्वर्गीय पाठक जी की दृष्टि प्रकृति के सुन्दर-कमनीय पक्ष एवं 'शुक्ल' जी उसके सामान्य पक्ष पर अधिक रमी है। 'प्रसाद' जी ने प्रकृति को मानवीय वीथिका में ही अधिकांशतः देखा है।

उन्होंने मात्र प्रकृति सौन्दर्य के लिए प्रकृति को बहुत कम देखा है। उनके काव्य में आई प्रकृति उनकी संवेदनशीलता से अनुरंजित है। वास्तव में प्रकृति में चाहे भावात्मक सचेतनता हो अथवा न हो, किन्तु उनसे सचेतन मानव को भावात्मक प्रेरणा एवं अनुभूत्यात्मक उन्मेष अवश्य प्राप्त होता है। मानव-भावों से प्रकृति भले ही प्रभावित हो, किन्तु एक कवि-कलाकार प्रकृति पर मार्मिकता के साथ जब सुन्दर भावों का प्रक्षेपण करता है, तो वह श्रोता-पाठकों पर अवश्य वैसा ही प्रभाव डालता है और वे उस समय यह भूल जाते हैं कि प्रकृति स्वयं जड़ अथवा भाव-शून्य है और भावों का यह समस्त आरोप कवि-कल्पना-प्रसूत है। वह तो उसी अनुभूति में डूबने लगता है। स्वयं कवि एवं कलाकार भी प्राकृतिक घटना-व्यापारों एवं दृश्यों से प्रभावित होता है। इसीलिए कवि प्राकृतिक दृश्यों में सौन्दर्य का अनुभव करता है, उनके सम्पर्क में सुख शीतलता का अनुभव करता है और उन सबको वह प्रकृति का ही प्रसाद मानता है,

मात्र अपनी ही चेतना की एकांगी प्रतिक्रिया नहीं। इसी से जहाँ वह जीवन की मानव-सम्बन्धी घटनाओं को अपने काव्य का 'वर्ण्य' विषय बनाता है, वहाँ वह प्रकृति के विभिन्न उपकरणों को भी स्वतंत्र-रूप से कविता का आधार बनाता एवं उसके प्रभाव का पाठकों में सप्रेषण कर उस दृश्य-घटना का चेतन मनुष्य की चैतन्य-सत्ता से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर देता है। जहाँ प्रकृति का कोई दृश्य स्वयं स्वतंत्र-रूप से कविता का विषय होता है, वहाँ प्रकृति का वह वर्णन 'वर्ण्य' रूप में माना जाता है। इसी को अन्य आलोचकों ने 'प्रस्तुत'-रूप में वर्णन की अभिधा भी प्रदान की है। ऐसे वर्णनों को भी दो उप-विभागों में बाँटा जा सकता है—(अ) आलम्बन-रूप में (ब) उद्दीपन-रूप में।

(अ) आलम्बन-रूप में प्रकृति-वर्णन—वर्ण्य रूप में किया गया प्रकृति-वर्णन भी दो प्रकार का होता है। जब प्रकृति का वर्णन स्वय अपना लक्ष्य होता है; उसके वर्णन, उसके सौन्दर्य-भाव-प्रभाव की सृष्टि के अतिरिक्त कवि का कोई दूसरा प्रच्छन्न लक्ष्य नहीं होता, तब प्रकृति का वह वर्णन 'आलम्बन' रूप में माना जावगा। ऐसे स्थल पर प्रकृति प्रकृति-इतर किसी मानव के भाव को और चटकीला एवं तीव्रतर बनाने के लिए नहीं आती। ऐसे वर्णनों में प्रकृति ही कवि का साधन और साध्य दोनों होती है और प्रकृति का वह वर्णित भाव-प्रभाव ही पाठकों एवं श्रोताओं की चेतना को उद्रिक्त करता है। यह आवलम्बन-रूप वर्णन भी कहीं (१) यथातथ रूप में आता है, तो कहीं (२) मानवीकृत रूप में कहीं (३) द्रष्टा-भाव-रंजित और कहीं (४) आभूषित-रूप में। 'आलम्बन'—रूप में किये गये प्रकृति के 'यथातथ'—वर्णन में प्रकृति का अपना निजी रूप प्रस्तुत किया जाता है। साधारणतः वह जिस रूप में दिखलाई पड़ती है, वही रूप बिना मानवीय भाव-व्यापारों के आरोप एवं आभूषण-परिसाधन के अंकित कर दिया जाता है। प्रकृति वर्णन का यह वही रूप है जो 'शुक्ल' जी को बहुत प्रिय था और जिसके समर्थन में ही अंगरेजी की आलोचना ने मानव भाव-व्यापारों से आरोपित प्रकृति-वर्णन को 'प्राकृतिक संवेदना का हेत्वाभास' या 'तर्काभास' (Pathatic Fallecy) कहा है। प्रकृति का यह वर्णन 'शुक्ल' जी के 'बुद्धचरित' एव 'हृदय का मधुर भार' नामक स्फुट रचनाओं में सुन्दरतम रूप में प्राप्त होता है। 'प्रसाद' जी ने निम्नस्थ पंक्तियों में प्रकृति के प्रभाव को स्वीकार किया है, उसमें उन्होंने मानव को प्रभावित करने की चेतनशक्ति मानी है—

"देखते ही रूप मन प्रमुदित हुआ।
प्राण भी आमोद से प्रमुदित हुआ॥

रस हुआ रसना में उसको बोलकर।
स्पर्श करता सुख हृदय को खोलकर।।"

यह मनुष्य की ही कमी है कि वह प्रकृति के आनन्द को नहीं ग्रहण कर पाता—

"नील नभ में शोभित विस्तार।
प्रकृति है सुन्दर परम उदार।।
नर हृदय परिमित, पूरित स्वार्थ।
बात जँचती कुछ नहीं यथार्थ।।"

'कामायनी' में भी कहीं-कहीं ऐसे यथातथ्य वर्णन अत्यन्त सुन्दर उतरे हैं—

"स्वर्ण शालियों की कलमें थीं
दूर दूर तक फैल रहीं।
(शरद इन्दिरा के मन्दिर की
मानों कोई गैल रही)।"

('कामायनी'–'कर्म'-सर्ग)

'कामायनी' का 'चिन्ता'–सर्ग में आया प्रलय का वर्णन भी इस कोटि का अच्छा उदाहरण हो सकता है। 'द्विवेदी युग' की प्रकृति मानव-विरहित प्रकृति थी। उसे वे मानव अस्तित्व का जीता-जागता अग न बना पाये। उनकी इति-वृत्तात्मकता एवं तटस्थता में भी या तो अलंकारों का नीरस भार प्रधान हो उठा है अथवा उसमें सरस मार्मिकता की हानि हुई है। छायावादी कवियों की राग-रंजित दृष्टि जिस ओर ही गई है, उसने वहीं ही रमणीयता मार्मिकता एवं आत्मीयता की खोज की। 'छायावाद' के प्रारम्भ कर्त्ता श्री 'प्रसाद' जी की आरम्भिक कृतियों में ही प्रकृति के प्रति स्निग्ध-दृष्टि के दर्शन होने लगते हैं। स० १९१३ में प्रकाशित 'इन्दु' नामक पत्रिका के 'कला' ४, 'खण्ड १, किरण १ में ही निकली 'प्रसाद' जी की 'भरत' शीर्षक कविता में यह स्निग्ध दृष्टि दर्शनीय है—

"हिमगिरि का उत्तुंग शृंग है सामने,
खड़ा बताता है भारत के गर्व को
पड़ती इस पर जब माला रवि-रश्मि की
मणिमय हो जाता है नवल प्रभात में

× × ×

सांसारिक सब ताप नहीं इस भूमि में
सूर्य ताप भी सदा सुखद होता यहाँ

हिमसर भी हैं खिले, विमल अरविन्द है
कहीं नहीं है शोच, कहाँ संकोच है
चन्द्रप्रभा में भी गलकर बनते नहीं
चन्द्रकान्त से—ये हिम खंड मनोज्ञ हैं।"

यद्यपि इसमें बीच-बीच में 'चन्द्रकान्त-से' आदि प्रयोगों में कहीं-कहीं आलंकारिक रूप भी आ गया है, पर इसमें अधिकांशतः हिमालय का शुभ शुभ्र रूप खिलाया गया है। 'प्रसाद' जी ने प्रकृति के शान्ति-दायिनी-रूप को भी परखा है। कभी-कभी तो कवि समस्त संसृति-कोलाहल से ऊब कर प्रकृति की प्रशस्त गोद में ही चिर शान्ति और अमर-जागरण की आशा करता दिखलाई पडता है। प्रकृति-सम्बन्धी ये रमणीय उज्ज्वल पंक्तियाँ भी अन्यथा-रजित दृष्टियों द्वारा 'पलायन-वाद' का उदाहरण बन गईं, इससे बढ़कर हिन्दी का और दूसरा दुर्भाग्य क्या हो सकता है! इन पक्तियों में अन्तरात्मा से स्पन्दित प्रकृति के व्यापक-विराट् सुख शान्ताकार रूप की कितनी सुन्दर झाँकी निम्नस्थ पंक्तियों में उपस्थित की गई है—

"जिस गम्भीर मधुर छाया में—
विश्व चित्रपट चल माया में—
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई
दुख-सुख वाली सत्य बनी रे!
श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से—
जहाँ सृजन करते मेला से,
अमर जागरण, उषा-नयन से—
बिखराती हो ज्योति घनी रे! ['लहर']

मालूम पडता है, कवि ने प्रकृति को शान्तिमयी आत्मा का समालिंगन कर लिया है। 'प्रसाद' के 'दयातय' वर्णन भी एक आन्तरिक, वैभवशालिनी मादकता-भरी भीनी कस्तूरिका से महमहाते प्रतीत होते हैं। 'कामायनी' में मनु के आश्रम की चाँदनी 'प्रसाद' की कल्पना-किरणों की ही हलकी, प्रसन्न झिलमिली से कितनी शुभ्रानन्दमयी हो उठी है—

"धवल मनोहर चन्द्र बिम्ब से
अंकित सुंदर स्वच्छ निशीथ।
जिसमें शीतल पवन गा रहा
पुलकित हो पावन उद्गीथ।"

नीचे की दो पंक्तियों में यद्यपि प्रकृति के मानवीकृत रूप की भी छाया है, किन्तु ऊपर की पंक्तियाँ प्रकृति के यथातथ-रूप का सुन्दर उदाहरण हैं। 'कामायनी' के 'दर्शन'-सर्ग में हिमालय की प्रकृति का वर्णन भी दर्शनीय है—

"हँसता ऊपर का विश्व मधुर,
हलके प्रकाश से पूरित उर
× × ×
निचले स्तर पर छाया दुरन्त
आती चुपके, जाती तुरन्त ।
सरिता का वह एकान्त कूल,
था पवन हिंडोले रहा झूल ।
धीरे-धीरे लहरों का दल,
तट से टकरा होता ओझल;
छम-छम का होता शब्द विरल
थर थर कँप रहती दीप्ति तरल ।"

'युगान्त' में 'पन्त' जी की निम्नस्थ पंक्तियाँ भी सादी एवं सहज हैं, जिनमें रेखा-चित्र की विरल किन्तु साभिप्राय रेखाओं की भाँति कुछ चुने-गिने पदार्थ ही पूरे वातावरण की सृष्टि कर देते हैं—

"बाँसों का झुरमुट
संध्या का झुटपुट
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ
टी-वी-टी- टुट-टुट् ।"

छायावादी काव्य में प्रकृति के 'मानवीकृत' रूप का बाहुल्य है। छायावादी कवियों ने प्रकृति को अपने से भिन्न मानकर तटस्थ दृष्टि से बहुत कम देखने का प्रयत्न किया है। छायावादी कवि जीवनोद्रिक्त एवं आत्म-सजग है, अतएव जीवन के उद्रेक एवं आत्म-सजगता के इस प्रवाह में वह समस्त दृश्य-संसार को समेट चला है। प्रकृति को अपने से भिन्न, अलग खड़ी मानकर उसमें अपने को डुबाने की अपेक्षा उसने अपने ही चेतना-प्रवाह में उसे भी मिला लिया। 'द्विवेदी'-युगीन कवियों का प्रस्थान-विन्दु 'बाह्य उपाधियाँ' अथवा बाह्य सृष्टि रही है, किन्तु छायावादी कवियों का प्रस्थान विन्दु उनकी अन्तश्चेतना है। 'द्विवेदी'-युगीन कवि बाह्य प्रकृति से अन्तःप्रकृति की ओर चले हैं, जब कि छायावादी कवि अन्तःप्रकृति से बाह्य प्रकृति की ओर गये हैं। यही कारण है कि उन्होंने प्रकृति को भी मानवीय भाव-व्यापारों से संयुक्त किया है। इस

कोटि के वर्णन में प्रकृति मानव की भाँति व्यवहार करती हुई दिखलाई पड़ती है। वह हँसती-रोती, खेलती-कूदती एवं राग-विराग की प्रवृत्तियों से स्वय संचालित होती रहती है। सामान्य दृष्टि से प्रकृति को हम जड़ समझते हैं और उसकी चेतना से हम अनभिज्ञ रहते हैं। इसी से जन-साधारण अपने नैत्यिक-दैनन्दिन जीवन में उसके भीतर अपने समान हृदय नहीं देख पाता; किन्तु जब ये ही प्रकृति के उपकरण मानव मानवी-रूप में हमारी ही भाँति विविध व्यापारों से सक्रिय एवं अनेकानेक मधुर-कटु भावों से प्रतिकृत अंकित किये जाते हैं, तब उनके प्रति हमारी सहानुभूति एवं उत्सुकता बढ़ जाती है और उस समय हम यह भूल जाते हैं कि प्रकृति ऐसा नहीं कर सकती, यह तो केवल कवि-कल्पना का खेल है। हम उसी प्रकार प्रकृति के उन भाव-व्यापारों में रस लेने लगते हैं, जैसे मानवीय भाव-व्यापारों में। छायावादी कवियों के सौन्दर्य-रस-सिक्त प्रकृति-विधान ने जहाँ एक ओर उनके भावों को एक नवीन दिशा प्रदान की, वहाँ उनकी काव्य-कला को भी एक विशिष्ट भंगिमा से भास्वर कर दिया। प्रकृति के जड़-प्रसार में चेतना की ज्योति जगमगा उठी; प्रकृति और मानव एक अभिनव रागात्मक सम्बन्ध में आबद्ध हो उठे। श्री 'प्रसाद' जी की पहले की लिखी कविताओं के संग्रह में 'मानवीकरण'-प्रवृत्ति परिस्फुट रूप से प्रकट होती है। वैसे यह प्रवृत्ति तो उनकी एकदम आरम्भ की ब्रजभाषा में लिखी गई 'कानन-कुसुम' की कविताओं में भी यत्र-तत्र देखी जा सकती है, पर 'झरना' में यह रूप स्पष्ट एवं मार्जित होकर सामने आया है। 'पावस-प्रभात' कविता का अन्तिम अंश इसका उदाहरण है—

"रजनी के रंजक उपकरण बिखर गये,
घूँघट खोल उषा ने झाँका और फिर—
अरुण अपांगों से देखा, कुछ हँस पड़ी,
लगी टहलने प्राची-प्रांगण में तभी।"

('झरना'—पृष्ठ ११)

'उषा' एक रूपवती नारी के रूप में उपस्थित हुई है। उसके अपांग, अरुण कहे गये हैं और वह हँसने के बाद टहलती हुई दिखलाई गई है। इसी प्रकार 'झरना', चतुर्थ संस्करण के पृष्ठ १४ पर 'किरण' शीर्षक कविता में किरण को एक मानवी के रूप में सम्बोधित कर प्रश्न पूछे गये हैं—

"किरण तुम क्यों बिखरी हो आज,
रँगी हो तुम किसके अनुराग,

स्वर्ण-सरसिज-किंजल्क समान
उड़ाती हो परमाणु पराग"

'लहर' के एक गीत की पंक्तियाँ भी इसी कोटि में आती हैं—

"ले चल मुझे भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर-लहरी
अम्बर के कानों में गहरी
निश्चल प्रेम-कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे।"

'प्रसाद' ने 'आँसू' में प्रकृति के विषम एवं मानव-विरोधी रूपों को भी सामने उपस्थित किया है—

"अवकाश असीम सुखों से
आकाश-तरंग बनाता!
हँसता-सा छायापथ में
नक्षत्र-समाज दिखाता॥
नीचे विपुला धरणी है
दुख भार वहन-सी करती।
अपने खारे आँसू से
करुणा-सागर को भरती॥

'कामायनी' में भी प्रकृति का 'मानवीकरण' बड़े सुन्दर रूप में उपस्थित हुआ है—

"अंचल लटकाती निशीथिनी
अपना ज्योत्स्नाशाली।
जिसकी छाया में सुख पाये
सृष्टि वेदना वाली॥
उच्च शैल शृंगों पर हँसती
प्रकृति चचला-बाला।
धवल हँसी बिखराती अपनी
फैला मधुर उजाला॥"

('कर्म'-सर्ग)

× × ×

"सृष्टि हँसने लगी आँखों में खिला अनुराग।
राग-रंजित चन्द्रिका थी, उड़ा सुमन-पराग॥"

('वासना'-सर्ग)

'प्रसाद' जी की १९०९ की 'इन्दु' की पहली संख्या में उनका 'प्रकृति' शीर्षक लेख ही प्रकाशित हुआ था। 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' नामक पुस्तक के पृष्ठ ३९ पर 'रहस्यवाद' शीर्षक लेख में, 'प्रसाद' जी ने छाया-वादी काव्य में आयी प्रकृति पर चेतनारोप की इस प्रवृत्ति की निम्न शब्दों में व्याख्या की है :—

"साहित्य में विश्व-सुन्दरी प्रकृति में चेतना का आरोप संस्कृत वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद 'सौन्दर्य-लहरी' के 'शरीरं त्वं शम्भो—' का अनुकरण मात्र है। वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदम् से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।" यद्यपि इस दार्शनिक अर्थ में प्रकृति का उपयोग 'प्रसाद' की रहस्यवादी उक्तियों में ही अधिक हुआ है, पर यह उक्ति प्रकृति पर किये गये सचेतनता के आरोप के प्रति, 'प्रसाद' की अपने दृष्टिकोण से की गई व्याख्या भी मानी जायगी। छायावादी काव्य में प्रकृति का यह चेतनारोपित या मानवीकृत रूप, कभी-कभी जीवन-जगत् के सूक्ष्म तथ्यों की एक विराट् पृष्ठभूमि में, बड़ी ही सुन्दर झाँकी उपस्थित करता दिख-लायी पड़ता है :—

"युगों की चट्टानों पर सृष्टि
डाल पद-चिन्ह चली गम्भीर।
देव, गंधर्व, असुर की पंक्ति
अनुसरण करती उसे अधीर॥"

['श्रद्धा'—सर्ग]

'विभव-मतवाली' प्रकृति का रूप देखिये—

"विभव-मतवाली प्रकृति का आवरण वह नील—
शिथिल है जिस पर बिखरता प्रचुर मंगलशील।
राशि-राशि नखत कुसुम की अर्चना अश्रान्त—
बिखरती है, तामरस सुन्दर चरण के प्रान्त"

('वासना'—सर्ग)

प्रकृति का प्रलय-निद्रा के पश्चात् प्रबुद्ध-रूप भी मानवीकरण का सुन्दर उदाहरण है :—

"सिंधु सेज पर धरा वधू अब
तनिक सकुचित बैठी-सी,
प्रलय-निशा की हलचल स्मृति में
मान किये-सी ऐंठी सी।"

('आशा' सर्ग)

महाप्राण 'निराला' ने 'सन्ध्या-सुन्दरी', 'शेफालिका', 'यमुना के प्रति' एवं 'जुही की कली' शीर्षक कविताओं में इसका अच्छा उपयोग किया है। 'जागो फिर एक बार' शीर्षक कविता में निशागम के वर्णन में आयी 'चित्रित हुई है देख यामिनीगंधा जगी' जैसी पंक्तियाँ भी इसी कोटि की हैं।

'विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी स्नेह-स्वप्न-मग्न
अमल-कोमल तनु तरुणी-जुही की कली,
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में।"

× × ×

"इस पर भी जागी नहीं,
चूक क्षमा माँगी नहीं,
निद्रालस बंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही—
किम्वा मतवाली थी यौवन की मदिरा पिये
कौन कहे ?"

('परिमल')

अपनी 'ज्येष्ठ' कविता में कवि ने ज्येष्ठ को व्यक्ति-रूप प्रदान किया है :—

"चराचर के हे निर्दय मास
सृष्टि भर के व्याकुल आह्वान।
—अचल विश्वास।
सृष्टि भर के शंकित अवसान।
दीर्घ निश्वास
देते हैं हम तुम्हें प्रेम-आमन्त्रण
आवो जीवन-शमन वन्धु जीवनधन।"

प्रकृति में अप्सरा एव परियों की सत्ता का वर्णन करनेवाले महाकवि 'पन्त' को तो प्रकृति में दर्शन तथा चेतना की अनुभूति हुई है। वे प्रश्न करते हैं, "माँ वहाँ दूर हरियाली मे कौन खेल रही है ?" कभी 'मधुकरी से अनुनय करते हैं और कभी नम भी मुस्काता दृष्टिगत होता है।

'पन्त' जी कभी 'छाया' से कहते हैं—

"हे सखि! इस पावन अंचल में
मुझको भी निज मुख ढँक कर
अपनी विस्मृत सुखद गोद में
सोने दो सुख से क्षणभर!"
× × ×
"हाँ सखि, आवो बाँह खोल हम
लगकर गले जुड़ा लें प्राण?
फिर तुम हम में, मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अन्तर्धान।"

—('पल्लव' से)

कवि प्रकृति के उपकरणों में व्यक्तित्व का आरोप कर उनके प्रति सख्यादि भावों की अनुभूति करता दिखाई पड़ता है। 'बादल' कविता में बादल स्वयं अपनी कहानी कहता है—

"धूम धुआँरे, काजर कारे,
हम ही बिकरारे बादर।
मदन राज के वीर बहादुर,
पावस के उड़ते फणिधर॥"

—('पल्लव' से, १९२२)

वे बालविहंगिनि से पूछते हैं कि तूने प्रथम रश्मि का आना कैसे पहचाना, यह स्वर्गिक गाना कहाँ पाया?

प्रसाद जी के प्रकृति के मानवीकृत रूपों में एक तटस्थता होती है। कवि प्रकृति के उपकरणों पर व्यक्तित्व का आरोप कर उनके भाव-व्यापारों का इस प्रकार वर्णन करता है कि उसका निजी व्यक्तित्व उनसे पृथक् रह जाता है और वह एक दर्शक की भाँति उसका कथन कर जाता है; पर 'पन्त' जी के इन वर्णनों में एक तादात्म्य की प्रतीति होती है, वे उसके साथ एकतान-से मालूम पड़ने लगते हैं। 'निराला' में भी प्रकृति के साथ वह आनुभूतिक तल्लीनता नहीं दृष्टिगोचर होती, यद्यपि उनमें प्रसाद से अधिक तल्लीनता है और प्रकृति के मानवीकृत रूपों से वे अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित प्रतिलक्षित होते हैं। सुश्री महादेवी जी की प्रकृति तो सदैव सचेतन रूप में उपस्थित हुई है। उसका एक भावक्रियास्पन्दित रूप ही उनकी कृतियों में सदा प्रत्यक्ष हुआ है। वह हँसती है,

रूठती है, मिलनाभिसार करती तथा वियोगिनी की भाँति आँसू भी बहाती है। उनके अनुसार "छायावाद ने मनुष्य के हृदय और प्रकृति के उस सम्बन्ध में प्राण डाल दिये, जो प्राचीन काल से बिम्ब-प्रतिबिम्ब-रूप में चला आ रहा था।" उनका एक चित्र देखिए—

"नव इन्द्र-धनुष-सा चीर, महावर अंजन ले
अलि-गुंजित मीलित पंकज नूपुर-रुनझुन ले
फिर आयी मनाने साँझ मैं बेसुध मानी नहीं।"

—['यामा']

नभ भी मुस्काता दृष्टिगत होता है—

"मुस्काता संकेत-भरा नभ, अलि क्या प्रिय आने वाले हैं ?"

—('नीरजा' से)

वे अपनी 'मिलन-यामिनी' को बुला रही हैं—

"आ मेरी चिर-मिलन यामिनी !
तममयि घिर आ धीरे-धीरे
आज न सज अलकों में हीरे
चौंका दे जग श्वाँस न सीरे
हौरे झरें शिथिल कबरी में
गूँथे हरशृंगार कामिनी !"

—('यामा' से)

रश्मियों के घूँघट से सिहरती पृथ्वी का रूप भी दर्शनीय है—

"शृंगार कर ले री सजनि !
नव-क्षीर-निधि की उर्मियों से रजत झीने मेघ सित,
मृदु फेन-मय मुक्तावली से तैरते तारक अमित,
सखि सिहर उठती रश्मियों का पहिन अवगुंठन अवनि !"

—('यामा' से)

प्रकृति का विराट् सचेतन रूप निम्न पक्तियों में आलिखित है—

"रूपसि तेरा घन केश पाश
श्यामल-श्यामल कोमल कोमल
लहराता सुरभित केश-पाश !"

—('यामा' से)

वसन्त-रजनी का अवतरण कितना सजीव है—

"धीरे-धीरे उतर क्षितिज से
आ वसन्त-रजनी !
तारक-मय नव वेणी-बंधन
शीशफूल कर शशि का नूतन
रश्मि-वलय सित घन अवगुंठन
मुक्ताहल अविराम बिछा दे चितवन से अपनी।
पुलकती आ वसन्त रजनी !"

यही नहीं, महादेवी जी के काव्य में शेफाली सकुचती एव सलज्ज होती है, मौलश्री अलस है। घन और कुछ नहीं, सिंधु का उच्छ्वास एवं तड़िततम का व्याकुल मन है—

"सकुच सलज खिलती शेफाली,
अलस मौलश्री डाली-डाली;"
× × × —('नीहार' से)
"सिंधु का उच्छ्वास घन है,
तड़ित तम का विकल मन है।"
—('दीपशिखा' से)

डा० रामकुमार वर्मा जी ने भी रजनी-बाला से तारेवाले गजरों को कहीं ले जाने की बात पूछी है। 'बच्चन' जी ने कहा है—

"प्राण, रजनी भिंच गई नभ की भुजा मे
आज मेरा प्यार बारंबार लो तुम !"
—('मिलन यामिनी' से)

अपनी 'इसपार-उसपार' कविता में भी उन्होंने प्रकृति के उपकरणों को सजीवता प्रदान की है—

"ऐसा भी पतझर आवेगा
जब कोयल कूक न पावेगी।
बुलबुल न अँधेरे मे गा-गा
जीवन की ज्योति जगावेगी॥
जब निज प्रियतम का मुख रजनी
तम के चादर से ढक देगी,
जब कलि-दल पर अलि की अवली
गुंजन के हेतु न आवेगी।"

× × × ×

'उतरे इन आँखों के आगे जो हार चमेली ने पहने'

× × × ×

'दो दिन में खींची जावेगी ऊषा की साड़ी सिन्दूरी'

× × × ×

'सुन काल प्रबल का गुरु-गर्जन निर्झरणी भूलेगी नर्तन'

—'मधुबाला' से

अभी-अभी 'धर्मयुग' के अक्तूबर १९, १९५२ के 'दीपावली—अंक' में निकली इंगलैंड में लिखी गई उनकी कविता में भी प्रकृति के उपादानों का मानवी-कृत रूप दर्शनीय है—

"अंबर का संगीत किसी दिन
ओस कणों ने दुहराया था,
ओस-कणों का राग किसी दिन
इन्द्रधनुष ने अपनाया था,
दोनों ने अलगाव किये अब
अंधड़ एक अधर में उठकर,
अनमिल तार सभी बाहर के, अन्दर के कुछ तार मिलालूँ।"

श्री 'नवीन' जी का भी निम्नस्थ चरण देखा जा सकता है, यद्यपि इसमें 'आरोप' प्रधान हो उठा है—

"सुनलो घन तर्जन करते हैं,
अम्बर से रस-कण झरते हैं,
साजन, आज अमृत के घन भी
हिय में स्मर-फुहियाँ भरते हैं"

—('अपलक' से पृ० १०५)

डा० रामकुमार जी वर्मा को किरणों में एक स्वप्न की रेखा दिखलाई पड़ती है—

"बादल है किस रमणी के सकुचित बाहु-बंधन में!
एक स्वप्न की रेखा है किरणों के नव जीवन मे!"

—['चित्र-रेखा' से]

श्री रायकृष्णदास जी ने भी 'खुलाद्वार' कविता में पवन को इसी रूप में देखा है। वह थपकी दे रहा है—

"नलिनी मधुर-गंध से भीना पवन तुम्हें थपकी देकर—
पैर बढाने को उत्तजित बार-बार करता प्रियवर!

उधर पपीहा बोल-बोल कर तुमसे करता है परिहास;
पहुँच द्वार तक, अब क्यों आगे किया न जाता पद-विन्यास ?"

इसी प्रकार इस धारा के सभी कवियों ने प्रकृति का मानवीकरण किया है—

"हँसकर प्रकाश की रेखा ने
वह तम में किया प्रवेश प्रिये !
तुम एक किरण बन दे जावो
नव आशा का संदेश प्रिये !"

('प्रेम-संगीत' से—भगवती चरण वर्मा)

× × × ×

"पुलकित होता है नन्दन वन,
थिरक-थिरक उठते हैं उडुगण,
....

....

सुनकर नूपुर की झंकार
खुलते हैं रवि-शशि के द्वार"

—('विश्व-सुन्दरी' कविता से—'मिलिंद')

× × × ×

"नीचे सिंधु भर रहा आहें, हँसते नखत गगन में;
सबसे दूर जल रहा दीपक तेरे भव्य भवन मे ।"

—('अन्तर्जगत्' से—लक्ष्मीनारायण मिश्र)

'भक्त' जी जैसे कवियों के प्रबंधों में भी प्रकृति का यह रूप-प्रचुरता से प्राप्त है—

"घन पृथ्वी को छू-छू लेता, पर्वत से टकराता,
मोर नचाता, नदी बहाता, शोर मचाता आता ।'
कहता रहता, जले न कोई, सब हों शीतल छाती,
दामिनि मुझसे, लतिका तरु से रहे सदा लिपटाती ।"

('नूरजहाँ' से)

मेहर के बंगाल-प्रस्थान करने पूर्व, रात्रि के वर्णन में लतिकाएँ—थिरक-थिरककर घुँघुरू बजाती, कलियाँ पत्तों के घूँघट से झाँक-झाँक मुस्काती हैं ।

'पद अंक' कविता में श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी ने पद के अंक को संबोधन किया है—

"तुम पग-पग पर पड़े हुए हो मेरे प्रियके दूत समान,
दुर्दिन की घड़ियों में मुझको दोगे क्या आश्वासन-दान ?"

× × × ×

"कलिका के कंपित सस्मित, सुरभित अधरों को
मन्द पवन पल्लव-शैया पर चूम रहा था।
अरुण नयन थे अति प्राची के, तरुण भानु था;
करुण कान्तिहत, क्षीण प्रभा थी राकापति की।"

—('कवि और छवि'—बालकृष्ण राव)

× × × ×

"निशि के अनल दान में पल रहे प्रान,
प्यासे नयन माँगते अश्रु-वरदान !
ओ प्यास की प्रीति ! भरदो सजल प्यार !"

—('ओसाघनातीत'–शीर्षक गीत से, महेन्द्र)

काशी के तरुण साहित्यकार एव नई पीढ़ी के लोकप्रिय गीतकार श्री शम्भूनाथ सिंह ने भी 'समय की शिला' नामक कविता में जलधि के नेत्रों में गगन का चित्र देखा है—

"जलधि ने गगन-चित्र खींचे नयन में,
उतरती हुई उर्वशी देख घन में।"

['छायालोक' से]

श्री विजयदेव नारायण साही की 'प्रभात' कविता में धरा अपने अरुण-अलसाये नेत्रों को खोल रही है—

"धरा खोलती है मन्दिर-मौन पलकें, कहीं गा रहा दूर कोई प्रभाती !"

'पथ–दीप' के कवि श्री कृष्णराय 'हृदयेश' जी ने अपनी 'है नव वर्ष का आह्वान' शीर्षक कविता में पूनम और जलधि में मानववत् प्यार चित्रित किया है—

"पूनम है उठेगा ज्वार, उमड़ेगा जलधि का प्यार
गाकर प्रणयगीत चकोर भूलेगा प्रणय-अंगार
उतरेगा धरापर गान, बनकर विश्व का आख्यान।"

श्री रमानाथ अवस्थी के रात द्वारा लाये स्वप्नों को दिन बटोर ले जाता है—

'रात आई स्वप्न लाई, दिन बटोर ले गया !'

प्रकृति के 'आलम्बन'—रूप वर्णन में 'मानवीकृत', 'द्रष्टा-भावरंजित' एवं 'आभूषित'-रूप उपरितः एक-से लगते हैं और कभी-कभी तो इनमें परस्पर

भेद करना भी कठिन हो जाता है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की 'अन्तर्जगत' से ली गई निम्न पंक्तियों में तीनों ही प्रवृत्तियों की त्रिवेणी लहरा रही है—

"नीचे सिन्धु भर रहा आहें, हँसते नखत गगन में;
सबसे दूर जल रहा दीपक तेरे भव्य भवन में!"

आहें भरना व्यक्ति का काम है, अतः यहाँ सिन्धु का 'मानवीकरण' कहा जायगा। द्रष्टा अपने जीवन एवं अन्तर की विषम अनुभूतियों की छाया सिंधु और नखत पर भी देख रहा है, अन्यथा प्रकृति के इन व्यापारों की नियमित एवं यांत्रिक घटितियों पर वह दुःख-सुख का आरोप क्यों करे? यह तो उसकी अपनी विवशता एवं अन्य की निष्ठुरता की विषम परिस्थिति का ही प्रतिबिम्ब है। अतः यह वर्णन 'द्रष्टा-भाव-रंजित' भी हुआ। 'दीपक' से 'चन्द्रमा' का संकेत है, अतः 'प्रस्तुत' के तिरोभाव एवं 'अप्रस्तुत' के कथन से यह 'रूप-कातिशयोक्ति' अलंकार की भूषा भी है। इसी प्रकार 'प्रसाद' जी की निम्नस्थ-पंक्तियों में भी तीनों ही प्रवृत्तियाँ मिल जायँगी—

"चाँदनी के अंचल मे
हरा-भरा पुलिन अलस नींद ले रहा
सृष्टि के रहस्य-सी परखने को मुझ को
तारिकाएं झाँकती थीं।"–('लहर' से-'प्रलय की छाया')

पर एक निश्चित सीमा एव एक निश्चित मात्रा के आगे ये प्रवृत्तियाँ अलग भी की जा सकती हैं और यह लक्षित कराया जा सकता है कि कौन-सी प्रवृत्ति प्रधान और कवि का प्रकृत अवलम्ब है। अंग्रेजी में 'मानवीकरण' एक अलंकार है। अलंकार शैली के अन्तर्गत है। इससे अंग्रेजी की दृष्टि से तो यह आरोप ही ठहरा। अपनी किसी बात या प्रभाव विशेष की सिद्धि के निमित्त, साधन के रूप में कवि प्रकृति के किसी उपादान-विशेष पर मानववत् भाव-व्यापार का आरोप करता है। इसका सम्बन्ध कवि की किसी सैद्धान्तिक दर्शन-भूमि या मान्यता से नहीं होता। पर अंग्रेजी साहित्य के कितने ही कवियों ने प्रकृति के उपादानों में दार्शनिक मान्यता के रूप में, आत्मा या चेतना की सत्ता स्वीकार की है। अंग्रेजी में 'वर्ड्स्वर्थ' एवं हिन्दी में श्री पं० सुमित्रा-नन्दन जी पन्त का नाम इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय है। वहाँ वह वर्णन कवि की दृष्टि से शैली-गत नहीं, विषय-गत होता है। प्रकृति में चेतना का विषय-गत वर्णन प्रकृति की 'रहस्यात्मक' प्रवृत्ति के अन्तर्गत रखा जाता है। हिन्दी में 'पन्त' जी में भी प्रकृति के प्रति यह रहस्यात्मक दृष्टिकोण अथवा मान्यता आगे चलकर समाप्त हो गई। 'वीणा' में ही इसका प्राधान्य है। आगे

चलकर 'पन्त' जी में इसका विकास रुक-सा गया। वे प्रकृति से सौन्दर्य की ओर और विशेष कर मानव एवं उसके जीवन के सौन्दर्य की ओर आकृष्ट हुए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रकृति-सम्बन्धी उन प्रारम्भिक कविताओं में कवि की आनुभूतिक सत्यता है, किन्तु पाठक की दृष्टि से उसे भावातिरेक की सघनता के फल स्वरूप तात्कालिक उन्मेष भी कहा जा सकता है, अतएव आधुनिक काव्य के कितने ही आलोचकों एवं शोधकों ने उन्हें 'मानवीकरण' के भीतर ही रखा है। प्रकृति का 'द्रष्टा भाव-रंजित' वर्णन उस स्थिति में अपने परिस्फुट-रूप में व्यक्त हो जाता है, जहाँ कवि या द्रष्टा स्वय भुक्तभोगी के रूप में किसी भाव विशेष से आच्छन्न होता है और अपने ही भावों की छाया वह प्रकृति में भी देखने लगता है। वह प्रकृति से तटस्थ नहीं रहता, वरन् उसके मन में पहले से ही परिस्थिति-विशेष के कारण किसी भाव का पूर्व-ग्रह होता है। 'मानवीकरण' में प्रकृति के दृश्य या व्यापार-विशेष की अपनी स्वतत्र सत्ता स्वीकृत होती है और मानव व्यापार क्षेत्र के सामान्य कोष से सामग्री लेकर उसे सजाते-चमकाते हैं। वहाँ अधिकांशतः क्रिया और सज्ञा की प्रमुखता होती है, कवि उसका स्वतंत्र द्रष्टा-सा लक्षित होता है।'द्रष्टा-भाव-रंजित' वर्णन में द्रष्टा के अपने भीतर के भाव-विशेष की महत्ता स्वीकृत होती है और उसमें उसकी भुक्तभोगिता उभरी होती है। इस शैली के विभेद के लिए, वर्णन-विशेष के प्रति द्रष्टा की अनुभूति या भाव-विशेष की एक पूर्व-पीठिका आवश्यक होती है।

'द्रष्टा-भाव रंजित' वर्णन का एक सुन्दर उदाहरण 'प्रसाद' जी की 'कामायनी' की निम्नस्थ पंक्तियाँ हैं। मनु तप कर रहे हैं, किन्तु जीवन में चिन्ता के फल-स्वरूप एक शुष्क एव विराग-पूर्ण छाया व्याप्त हो रही है। चारों ओर एक उदासी है। मनु की इस मनःस्थिति की छाया उनकी दृष्टि और दृष्ट पदार्थों पर किस प्रकार प्रति-बिम्बित होती है—

"प्रहर दिवस रजनी आती थी
चल जाती संदेश विहीन,
एक विराग-पूर्ण संसृति मे
ज्यों निष्फल आरम्भ नवीन।" ['आशा'-सर्ग]

सारस्वत-नगर की उजाड़ दशा में पवन भी खिन्न और अवसन्न है—

"अभी घायलों की सिसकी मे
जाग रही थी मर्म-व्यथा,
पुर लक्ष्मी खग-रव के मिस कुछ

कह उठती थी करुण कथा।
कुछ प्रकाश धूमिल-सा उसके
दीपों से था निकल रहा,
पवन चल रहा था रुक-रुक कर
खिन्न भरा अवसाद रहा।
—('निर्वेद')

'कामायनी' में विविध सर्गों में वृत्ति-विशेष की उद्भूति के कारण उससे रंजित प्रवृत्ति के दृश्यों का अत्यन्त सुन्दर एवं पुष्कल वर्णन हुआ है। 'दर्शन' सर्ग में विश्वका चित्र कितना प्रकाश-मधुर है—

"हँसता ऊपर का विश्व मधुर,
हल्के प्रकाश से पूरित उर;
बहती माया-सरिता ऊपर
उठती किरणों की लोल लहर;"

इसी प्रकार श्रद्धा को छोड़कर मनु के चले जाने पर विरहिणी कामायनी के विरह के विषण्ण रंग से वह हिमालय प्रदेश रंजित हो उठा है—

"किन्तु न आया वह परदेशी युग छिप गया प्रतीक्षा में,
रजनी की भींगी पलकों से तुहिन-बिन्दु कण-कण बरसे।

× × ×

जले दीप नभ में, अभिलाषा शलभ उड़े, उस ओर चले,
भरा रह गया आँखों में जल, बुझी न वह ज्वाला जलती।

× × ×

अरुण जलज के शोण कोण थे नव तुषार के बिन्दु भरे।
वर्षा विरह कुहू में जलते स्मृति के जुगनू डरे-डरे!"

विरह-रँगी संध्या का कामायनी से कितना साम्य है—

"संध्या अरुण-जलज-केसर ले अबतक मन थी बहलाती;
मुरझा कर कब गिरा तामरस, उसको खोज कहाँ पाती।
क्षितिज भाल का कुंकुम मिटता मलिन कालिमा के कर से,
कोकिल की काकली वृथा ही अब कलियों पर मँडराती।"
['स्वप्न सर्ग']

× × ×

"संध्या नील सरोरुह से जो श्याम पराग बिखरते थे,
शैल-घाटियों के अञ्चल को वे धीरे से भरते थे।
तृण-गुल्मों से रोमांचित नग सुनते उस दुख की गाथा,
'श्रद्धा' की सूनी साँसों से मिलकर जो स्वर भरते थे।"

['स्वप्न सर्ग']

'कामायनी' के पूर्व भी प्रसाद जी के प्रकृति-वर्णनों में यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से पायी जाती है। 'लहर' की 'प्रलय की छाया' कविता में गुजरात की रानी कमला अपने कैशोर के दिनों की स्मृति कर रही है। सारा प्राकृतिक वातावरण उसकी किशोरता के कुंकुम से जगमगा रहा है। वर्तमान और अतीत दोनों के ही चित्र भाव-रंजित हैं—

वर्तमान—

'थके हुए दिन के निराशा-भरे जीवन की
सध्या है आज भी तो धूसर क्षितिज में'

अतीत—और उस दिन तो

'निर्जन-जलधि वेला रागमयी संध्या से
सीखती थी सौरभ से भरी रँगरलियाँ।

× × ×

मेरे उस यौवन के मालती-मुकुल में
रध्र खोजती थीं रजनी की नीली किरणें
उसे उकसाने को—हँसाने को।'

इसी प्रकार 'लहर' के पृ० ३९-४० पर आने वाली 'केवल स्थिति-मय चाँदनी रात ....' आदि पंक्तियाँ भी द्रष्टा के भावावेश की मधुरिमा से आलोकित हैं। यह भावावेश-रंजित वर्णन कथा-काव्यों या प्रबंध-कविताओं में तो स्पष्ट है ही, छायावादी स्वानुभूति-निरूपक गीतों में भी परिलक्षित होता है, जहाँ कवि का निजी भाव प्रकृति पर छाया रहता है। ये भाव कभी-कभी इतने प्रधान हो जाते हैं कि प्रवृत्ति का निजी रूप छिप जाता है और कवि की तद्भाव-मुद्रा-जनित उद्भावनाएँ ही प्रधान हो उठती हैं। ऐसे स्थलों पर प्रस्तुत से 'अप्रस्तुतों' का मेल न बैठने के कारण ही आलोचकों ने कटु आलोचनाएँ की हैं। 'प्रसाद' जी के 'झरना' काव्य की 'किरण' नामक कविता में ये उद्भावनाएँ इतनी प्रधान हो उठी हैं कि दार्शनिक वातावरण उभर आता है और किरण का सहज रूप-सौन्दर्य एवं तज्जनित प्रभाव तिरोहित हो जाता है—'किसी अज्ञात विश्व की

विकल वेदना-दूती-सी तुम कौन ?'

'निराला' के अन्तर उन्मेष ने निशागम को किस प्रकार रंग दिया है—

'एक टक चकोर कोर दर्शन प्रिय
आशाओं भरी मौन भाषा बहु भावमयी
अस्ताचल ढले रवि,
शशि-छवि विभावरी में
चित्रित हुई है देख यामिनी गंधाजगी;
घेर रही चन्द्र को चाव से
शिशिर-भार व्याकुल कुल
खुले फूल झुके हुए
आया कलियों मे मधुर
मधु-उर यौवन—उभार।"

श्री 'बच्चन' की 'मिलन-यामिनी' में आयी ये पंक्तियाँ कवि की भावना से रंगे प्रकृति के कैसे चित्र प्रस्तुत कर रही हैं—

अम्बर-अन्तर गल धरती का अञ्चल आज भिगोता,
प्यार पपीहे का पुलकित स्वर दिशि-दिशि मुखरित होता
और प्रकृति-पल्लव अवगुंठन फिर-फिर पवन उड़ाता,
यह मदमातों की रात नहीं सोने की!
सखि, यह रागों की रात नहीं सोने की!

—('मिलन-यामिनी')

डा० रामकुमार जी वर्मा ने अपनी उमंग से ज्योत्स्ना को भी उल्लसित कर दिया है—

'यह ज्योत्स्ना तो देखो नभ की
बरसी हुई उमंग,
आत्मा-सी बनकर छूती है
मेरे व्याकुल अंग।'

—('चित्ररेखा' आ० क० पृ० ३३)

श्री सुमित्रानन्दन जी पन्त ने अपनी 'चाँदनी' शीर्षक कविता में चाँदनी को मग्न अनुभव किया। खिली हुई प्रसन्न चाँदनी कवि की मग्नावस्था की छाया से मग्न हो उठी है—

'जग के दुःख-दैन्य शयन पर
यह रुग्णा जीवन-बाला
रे कब से जाग रही, वह
आँसू की नीरव माला।
पीली पड़, दुर्बल, कोमल,
कृश देह-लता कुम्हलाई,
विवसना लाज मे लिपटी,
साँसों में शून्य समाई।'

—('पल्लविनी'—पृ० १०१, फरवरी १९३२)

महादेवी वर्मा ने कज के अधखुले दृगों पर विस्मृति का खुमार छाया देखा है—

'अधखुले दृगों के कज कोष पर छाया विस्मृति का खुमार।'

—('रश्मि')

× × ×

'प्रिय सान्ध्य गगन मेरा जीवन!
साधों का आज सुनहलापन
घिरता विषाद का तिमिर सघन
संध्या का नभ से मूक मिलन
यह अश्रुमती हँसती चितवन।'

—('यामा')

सध्या की अश्रुमती चितवन कितनी सजल है। एकाध तारकोंवाली, डूबती किरणों की सध्या कवियित्री की निजी अश्रुमयी अनुभूतियों से आर्द्र है।

श्री प० वालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने ७ मई सन् १९३३ को लिखा गई 'कुहू की वात' कविता में आकाश की कालिमा उनकी निराशा से और काली हो उठी है—

"इस असीमाकाश मे भी लहराता है तिमिर-सागर।
कौन कहता है गगन का वक्ष है अहर्निशि उजागर?
ज्योति आती है क्षणिक उद्दीप्त करने तिमिर का घर,
अन्यथा तो अन्धतम का ही यहाँ उत्पात रंगिनि!
फिर अधेरी रात रंगिनि॥"

('अपलक से')

कविवर 'बच्चन' के 'निशा-निमन्त्रण' एवं 'एकान्त संगीत' के गीत उनके अंतर की विषण्ण अनुभूतियों से धूमिल हैं। उनमें कवि की निजी निराशा का स्वर मुखर हो उठा है !!

'आ गिन डालें नभ के तारे !
देख मनुज की छाती विस्तृत
दग्ध जिसे करने को संचित
किये गये हैं अम्बर भर में
इतने चिर ज्वलन्त अंगारे।"
—('निशा-निमंत्रण' से)

'बच्चन' जी ने अपनी अनुभूतियों की सिद्धि के लिए प्रकृति से प्रायः उदाहरण संग्रह किये हैं। कहीं सागर-धरती और कहीं आकाश-धरती, कहीं पुष्प-किरण और कहीं मेघ-धरती प्रेयम-प्रेयसी की रस-क्रीडाओं की छाया में रमण करते चित्रित हुए हैं। जब कवि का यौवन-सन्देश उमड़ता है तो बुल्बुल तरु की फुनगी से गीत-मुखर हो उठती है—

'बुल्बुल तरु की फुनगी पर से सन्देश सुनाती यौवन का।'
—('मधुबाला' से 'इस पार-उस पार')

कभी जब उसके निराशनयन चारों ओर देखते हैं तो—

'दृग देख जहाँ तक पाता है, तम का सागर लहराता है।'
—('वही')

'छायालोक' में श्री शम्भूनाथ सिंह भी राग-विभोर श्रवणों से सुनते हैं कि—
'गगन-वेणु में मौन के शब्द भर कर धरा प्यार की रागिनी गा रही है !'

श्री 'महेन्द्र' ने अपने 'ओ साधनातीत !' शीर्षक गीत में—

'बन्दी तिमिर-गात में
चाँदनी रात !
कवि के बँधे मौन में
स्वर सुधा-स्नात।
ओ ज्योति के गीत ! छू दो प्रणय तार !!'

तिमिर के गात में बँधी चाँदनी रात की ओर उनका ध्यान न जाता, यदि 'अपने कवि' के 'मौन' में सुधा-स्नात स्वरों के बँधे होने की पूर्णानुभूति उन्हें संवेदित न कर देती। 'छायालोक' की 'समय की शिला' वाली सुप्रसिद्ध रचना श्री शम्भूनाथ सिंह ने सिन्धु और लता के सहज व्यापारों में प्रेम के बनने-

मिटने के विषय में उठने वाले अपने मानसिक भाव का ही प्रतिबिम्ब पाया है—

'विकल सिन्धु से साध के मेघ कितने पवन ने उठाये गगन ने गिराये।'

× × ×

'किसी के चरण पर वरण फूल कितने लता ने चढ़ाये लहर ने बहाये।'

श्री 'हृदयेश' का कवि अपनी गुप्त पीड़ा एवं जगत्-की उपेक्षा अथवा अन-वधानता के वातावरण में ही हिमालय को भी देख रहा है—

"ढलते सूरज ने बतलाया रात आ गई काली;
धूमिल तारे बता रहे थे फूट रही है लाली;
दुनियाँ सोती है, जगती है, लेकिन किसने जाना!
चाँदो का दिल लिए हिमालय रहा बराबर गलता।"

—'पथ-दीप' से पृ० ३१

श्री गिरिधर गोपाल ने गांधी जी के प्रति लिखी गयी 'हे शान्ति दूत!' शीर्षक कविता में गांधी जी की हत्या से उद्भूत अपनी ग्लानि एवं लज्जा के कारण रातों एवं प्रातों को अपने को ही धिक्कार देते हुए अनुभव किया। उनकी विषाद-रंजित दृष्टि में प्रकृति के उपादान उसे अपराधी कहते अनुभूत होते हैं—

'हमको न क्षमा कर पायेंगी
बन्दी घर की काली रातें,
शत-शत बलिदानों से रंजित
फाँसी की कुहर मयी प्रातें,
खेतों की भरी-भरी आँखें,
चौपालों की उखड़ी साँसें,
निर्वासित जीवन पर छायी
भारत की भटकी बरसातें'

—('अर्चना के फूल' से, पृ० १०५–१०६)

'द्रष्टा-भाव रंजित' प्रकृति-वर्णन छायावादी गीतों में अत्यन्त सुन्दर रूप में उपस्थित हुआ है। प्रकृति के भाव-रंजित चित्रों की मधुरिमा स्वानुभूति-परक गीतों की प्रभाव-पुष्टि में बहुत सहायक हुई है। चतुर्दिक् फैले हुए दृश्य-विस्तार के बीच से अपनी आन्तरिक अनुभूतियों की व्यंजना होते देखकर पाठक-हृदय उद्वेलित हो उठता है। वातावरण की सृष्टि में प्रकृति-वर्णन की यह प्रणाली बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है। कथन में एक तड़प उत्पन्न हो जाती है। नीचे लिखी पंक्तियाँ 'संवेदना के हेत्वाभास' या 'तर्काभास' के नाम पर किसी भी

प्रकार तुच्छ नहीं सिद्ध की जा सकतीं। पृष्ठभूमि या पार्श्व-भूमि से उठने वाली संगीत-स्वर-लहरी की मादक-प्रभावक तान की भाँति, इस कोटि के प्रकृति-चित्र काव्य-विषय के वातावरण में संवेदना का विद्युत केन्द्र तो संचालित कर ही देते हैं साथ ही चिर परिचित सृष्टि व्यापारों में नई दृष्टि के वातायन खोलकर पाठक की ग्राहिका-शक्ति को अनावृत एवं उत्तेजित करते हैं। मानव और प्रकृति की यह पारस्परिक प्रतिक्रिया रस-सिद्धि की सहायिका है—

"भर-भर कर सूनी निःश्वासें
देखो सिहरा-सा आज पवन;
है ढूँढ रहा अविकल गति से
मधु से पूरित मधुमय मधुवन।
यौवन की इस मधुशाला में
है प्यासों का ही स्थान प्रिये,
फिर किसका भय? उन्मत्त बनो,
है प्यास यहाँ वरदान प्रिये।"

—['प्रेम संगीत']

द्रष्टा अपनी अनुभूतियों की प्रत्यक्ष रीति से पुष्टि करते हुए प्रकृति के उपादानों पर अपने भावों का सीधे प्रक्षेप तो करता ही है, कभी-कभी वह विरोधी भाव-व्यापारों के आरोप द्वारा ऋणात्मक ढंग से भी अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है। चातक की चकित पुकारों, एवं 'श्यामा की परम रसीली ध्वनि' के बीच कवि की 'करुणार्द्र कथा' की 'गीली टुकड़ी' और अधिक उभार पा जाती है—

'चातक की चकित पुकारें
श्यामा ध्वनि परम रसीली।
मेरी करुणार्द्र कथा की
टुकड़ी आँसू से गीली॥'

—('आँसू' से 'प्रसाद')

इसी प्रकार श्री 'दिनकर' जी ने भी 'रसवन्ती' में मेघ-संध्या के प्रेम-परक चित्र के संकेत के पश्चात् 'बुलबुलों' को अपने 'छाले' कहकर विरोध-वैषम्य के सहारे भाव-रचना की है—

"भीग रहीं अलकें संध्या की
रिमझिम बरस रहे जलधर
फूट रहे बुलबुले या कि मेरे दिल के छाले सजनी"

—('रसवन्ती' से)

छायावादी गीतों के 'द्रष्टा-भाव-रंजित' वर्णनों एवं 'उद्दीपन-रूप-वर्णन' में बड़ा भ्रामक साम्य है। व्यक्ति-चेतना से प्रबुद्ध छायावादी गीतों का प्रस्थान-विन्दु-कवि का आन्तरिक भाव होता है, अतः ये गीत अधिकांशत 'द्रष्टा-भाव-रंजित ही कहे जाँयगे।' 'वर्ण्य'-रूप में प्रकृति-वर्णन की अन्तिम कोटि, 'आभूषित रूप' है जहाँ प्रकृति के प्रस्तुतों के लिए अप्रस्तुतों का विधान किया जाता है और अलंकारों के द्वारा प्रकृति के रूप-व्यापारों को प्रस्तुत किया जाता है। ऐसे स्थलों पर प्रकृति के रूप-व्यापारों की तुलना में प्रकृति और मानव—दोनों ही क्षेत्रों से 'अप्रस्तुतों' का संकलन किया जाता है। प्रकृति के 'मानवीकृत' रूप में प्रकृति के उपादानों से ही सीधे मानव-व्यापार कराया जाता है, 'प्रस्तुत' के लिए 'अप्रस्तुत' की खोज नहीं होती। प्रकृति के उपकरणों को ही जीवित-जाग्रत् मान लिया जाता है। 'आभूषित रूप' में प्रकृति के उपकरणों से सीधे मानवोचित व्यापार न कराकर 'अप्रस्तुतों' द्वारा उसका विधान किया जाता है। 'निशा मुस्करा रही है, पवन गा रहा है, उषा झाँक रही है'—आदि कथन 'मानवीकृत' रूप की कोटि में आयेंगे, पर 'निशा-सुन्दरी मुस्कुरा रही है, पवन-पथिक गा रहा है, उषा रानी झाँक रही है'—जैसे कथनों में निशा, पवन एवं उषा मानव-व्यापार में सीधे संलग्न नहीं कराये गये हैं। ये व्यापार 'सुन्दरी', 'पथिक' एवं 'रानी' के अप्रस्तुत-रूप से सम्बद्ध हैं। कभी-कभी प्रस्तुत विषय की अपेक्षा 'अप्रस्तुत'-रूप को ही प्रधानता मिल जाती है। 'प्रसाद' जी ने किरण का वर्णन करते हुए अप्रस्तुतों का कितना सुन्दर विधान किया है—

"कोकनद-मधु-धारा-सी तरल,
विश्व में बहती हो किस ओर ?
प्रकृति को देती परमानन्द,
उठाकर सुन्दर सरस हिलोर।"

× × ×

"सुदिनमणि-वलय-विभूषितऊषा—
सुन्दरी के कर का संकेत—
कर रही हो तुम किसको मधुर
किसे दिखलाती प्रेम निकेत।"

—('झरना' से पृ० १५)

'वसन्त' का वर्णन भी उसके अप्रस्तुत-विधान की दृष्टि से दर्शनीय है—

"जीवन में पुलकित प्रणय सदृश,
यौवन की पहली कान्ति अकृश,
जैसी हो, वह तू पाता है, हे वसन्त क्यों तू आता है ?"
—('झरना' पृ० १३)

प्रस्तुत के प्रभाव की दृष्टि से इस कोटि के वे ही वर्णन सफल एवं सुन्दर माने जायँगे, जहाँ यह अलंकृति, चमत्कार एवं ऊहा के लिए न होकर भावना-जात एवं अनुभूति-प्रेरित होती है। दृश्य-व्यापार-विशेष से प्रभावित कवि जब अनुभूति के आवेश में ही अप्रस्तुत-विधान को उसके मूल चारुत्व में ग्रहण कर लेता है, तब अनुभूति-अलंकरण के इस मधुर परिणय पर पाठकों की हृदय-वीन भी झनझना उठती है ! जब अनुभूति की मधुर ऊष्मा के परे होकर कवि का मन बुद्धि-प्रयास से अप्रस्तुत-विधान का प्रयत्न करता है, तो अनुभूति और अलंकरण के इस कटु कलह पर पाठकों की भावना कड़ियाँ खड़खड़ा उठती हैं ! उनके रूक्ष-रिक्त स्वर से नीरसता मुखर हो पड़ती है !! जहाँ आरोप का बोझ भारी होने लगता है, वहाँ 'प्रसाद' जी की प्रारम्भिक रचनाओं में भी कहीं-कहीं यह अलंकरण खटकने लगता है—

"घूँघट खोल उषा ने झाँका और फिर—
अरुण अपांगों से देखा, कुछ हँस पड़ी,
लगी टहलने प्राची-प्रांगण में तभी ।।"
—['झरना' पृ० ११]

'ऊषा' का टहलना ही यहाँ प्रधान है, उसकी सहज शोभा नहीं। हाँ, जहाँ अनुभूति सजग होती है, वहाँ अप्रस्तुत सोने में सुगन्धि ला देते हैं—

"चाँदनी धुली हुई है आज
विछलते हैं तितली के पंख"
—('झरना' से, 'होली की रात' पृ० ५५)

'कामायनी' में 'प्रसाद' जी ने प्रभाव-साम्य के आधार पर 'मूर्त्त'-'अमूर्त्त'-विधान का भी आश्रय लिया है—

"दूर-दूर तक विस्तृत था हिम
स्तब्ध उसी के हृदय समान,
नीरवता-सी चरण-शिला से
टकराता फिरता पवमान ।"
['आशा'-सर्ग]

इसी प्रकार 'लहर' के प्रसिद्ध गती में ऊषा को नागरी का रूपक दिया गया है—

"बीती विभावरी जाग री !
अम्बर-पनघट पर डुबो रही,
तारा घट ऊषा-नागरी।"

—['प्रसाद']

'प्रसाद' की अन्यान्य कृतियों से और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं—

"ताराओं की माला कबरी में लटकाए, चन्द्रमुखी
रजनी अपने शान्ति-राज्य-आसन पर आकर बैठ गयी।"

['प्रेमपथिक' से]

× × ×

"कोमल कुसुओं की मधुर रात।
वह लाज भरी कलियाँ अनन्त
परिमल घूँघट ढक रहा दन्त।
कँक कँप चुप-चुप कर रही बात।"

—['लहर' से पृ० २४]

× × ×

"ये सब स्फुलिंग हैं मेरी
उस ज्वालामयी जलन के;
कुछ शेष चिह्न हैं केवल
मेरे उस महा-मिलन के।"

—['आँसू' से]

× × ×

"सिंधु-सेज पर धरा-वधू अब,
तनी संकुचित बैठी सी
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में
मान किये-सी ऐंठी-सी।"

—['कामायनी' से 'आशा' सर्ग]

प्रकृति के विविध रूपों का ग्रहण आपेक्षिक रूप से 'पन्त' जी में सबसे अधिक हुआ है, क्योंकि छायावादी कवियों में स्वानुभूति-पूर्ण बाह्य-वर्णन करने वालों में 'पन्त' जी सबसे आगे हैं। 'पल्लविनी' में १७४ पृ० पर आयी 'मधुवन' कविता के कुछ चरणों को उद्धृत करते हुए 'हिन्दी-काव्य में प्रकृति के'

के लेखक श्री रामचन्द्र श्रीवास्तव ने पृ० ८८—८९ पर उन्हें प्रकृति के 'अप्रस्तुत' कोटि मे रखा है। यह कविता 'गुञ्जन' की है। इसमें 'मधुवन' नाम ही प्रकृति के 'वर्ण्य-रूप में वर्णित होने की सूचना देता है, यद्यपि यह 'वर्ण्य' रूप में प्रकृति-वर्णन 'आभूषित' या 'अलकृत'-कोटि का है। इसमें प्रकृति के 'प्रस्तुतों' के लिए 'अप्रस्तुतों' का विधान हुआ है। नीचे की पंक्तियों मे प्रकृति के 'प्रस्तुत'-रूप मे गृहीत उपमेय के लिए मानव-क्षेत्र से उपमान सकलित किये गये हैं और स्यात् उन्हीं के प्रति कवि की रिरसा (रमेच्छा) भी उस समय लग गई हो, पर वैज्ञानिक दृष्टि से वह कोटि 'प्रस्तुत'-रूप की 'अलंकृत' या 'आभूषित' कोटि ही होगी—

"आज नव मधु की प्रात
झलकती नभ पलकों में प्राण
मुग्ध यौवन के स्वप्न-समान—
झलकती, मेरी जोवन-स्वप्न! प्रभात
तुम्हारी मुख-छवि-सी रुचिमान!
आज लोहित मधु प्रात
व्योम-लतिका मे छायाकार
खिल रही नव-पल्लव सी लाल,
तुम्हारे मधुर कपोलों पर सुकुमार
लाज का ज्यों मृदुकिसलय-जाल!
आज उन्मद मधु प्रात
गगन के इन्दीवर से नील
झर रही स्वर्ण मरंद समान·····।"

'पन्त' जी की 'छाया', 'नक्षत्र', 'वीचि-विलास' श्लिष्ट 'अप्रस्तुत'-कल्पना एवं 'बादल' और 'चाँदनी' कविता रमणीय 'अवर्ण्य विधान' का उदाहरण है। श्रीमती महादेवी जी वर्मा की प्रकृति अत्यन्त सुरुचि एवं कला के साथ 'आभूषित' होकर आती है। उनके 'सांग रूपक' परिमार्जित सूक्ष्म बड़े सफल एवं मधुर कल्पना के सहयोग से प्रस्तुत हुए हैं। ऐसा अवश्य है कि कहीं-कहीं इनके चित्रों में पुनरावर्तन भी हो गया है। आगे प्रकृति को अप्सरा का दिया गया यह रूप-विधान कितना फब रहा है—

"लय गीत मदिर, गति ताल अमर,
अप्सरि तेरा नर्त्तन सुन्दर!"

"आलोक-तिमिर सित-असित चीर,
सागर-गर्जन रुनझुन मँजीर
उड़ता झंझा में अलक जाल
मेघों में मुखरित किंकिणि स्वर !"

—('नीरजा' से)

अवनि-अम्बर के बीच सागर की स्थिति का चित्र दर्शनीय है—

"अवनि अम्बर की रुपहली सीप में
तरल मोती-सा जलधि जब काँपता।"

—('रश्मि' से)

दिन-रात का रूप वास्तव में क्या है—

"एक प्रिय दृग श्यामता-सा
दूसरा स्मित की विभा-सा
यह नहीं निशि दिन इन्हें
प्रिय का मधुर उपहार रे कह !"

इसी प्रकार अन्य चित्र भी द्रष्टव्य हैं—

"गोधूली अब दीप जला ले !
किरण नाल पर घन के शतदल
कलरव-लहर विहँग बुद्बुद् चल
क्षितिज सिंधु को चली चपल
आभा-सरि अपना उर उमगा ले !"

—['दीपशिखा' से]

× × ×

"विद्रुम के रथ पर आता दिन
जब मोती की रेणु उड़ाता ..."

—['दीपशिखा' से]

'निराला' ने 'जुही की कली' को 'अमल-कोमल-तन-तरुणी' का उपमान दिया है—

"विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी, स्नेह-स्वप्न-मग्न
अमल-कोमल-तनु तरुणी
जुही की कली।"

—['परिमल' से]

सन्ध्या के लिए 'श्यामा' का 'अप्रस्तुत' भी निम्नस्थ पंक्तियों में दर्शनीय है—

"अम्बर-पथ से मंथर, सन्ध्या श्यामा
उतर रही पृथ्वी पर, कोमल पद-भार।"

—['निराला'—'गीतिका']

इसी प्रकार नये कवियों में श्री विजय देव नारायण साही 'फागुन' का वर्णन करते हुए इतने उल्लसित हो जाते हैं कि उनका उल्लास विविध सूक्ष्म-स्थूल 'अप्रस्तुतों' में वेग के साथ फूट पड़ता है—

"श्यामल खेतों से गीत उठा, झूमी सरसों पीली-पीली,
कोसों तक पीत-तरंगों में लहराया मरकत का सागर।"

—(प्रयाग वि० वि० यूनियन मैगजीन का 'होली-अंक', १९५२।)

'नया-समाज' वर्ष ५, खंड १, जुलाई १९५२ में प्रकाशित श्री आरसी प्रसाद सिंह जी की 'मेघ-मंगल' कविता में भी प्रकृति का 'आभूषित' रूप ही प्रस्तुत हुआ है, यद्यपि 'अप्रस्तुत' कवि की व्यक्तिगत रुचि के मेल में अधिक और पाठक की सामान्य अनुभूति से कुछ दूर हैं—

"मेघ की घनश्याम भेड़ों को पवन ने घेर,
दूर डाल क्षितिज रस्सियों से घेर,
और नीबू-सा निचोड़ा खूब जब जलसार,
जलद-गठरी को दिया तब व्योम में झटकार॥

× × ×

छिन्न कर मधु-चक्र घन के भर सलिल के कुंड,
उड़ गया जल-मक्षिकाओं का उमड़ता झुंड॥"

श्री मोहन लाल महतो 'वियोगी' ने भी रात बीतने और दर्य के उदित होने का वर्णन अलंकार के सहारे ही उपस्थित किया है, जहाँ अंधकार और गज में रूपक तथा सूर्य एवं मृगराज में उपमा का प्रयोग हुआ है—

"अंधकार-गज भागा
गहन विपिन में;
दिनपति प्रकटा सरोष
मृगराज-सा।
केसर-सी किरणें विकीर्ण
हुई नभ में।
भाग के मृगांक छिपा
अस्ताचल ओट में;

भय था कि मृग-चिह्न
देख कहीं केसरी
टूटे ना,-भाग गई
रजनी किराती-सी
आंचल में भर के नखत—
—गुंजा-भय से ।"

—('आर्यावर्त' से)

गाजीपुर के श्रीनाथ मिश्र ने अपने निम्नस्थ गीत-चरण में मधुमास को अपने अन्तर का ही रूप दे दिया है—

"मधुमास भर मेरा मधुवन, फिर यह मधुमास रहे न रहे ।"

कवि को बाहरी मधुमास की चिन्ता नहीं । 'वर्ण्य' रूप में ही किया गया प्रकृति-वर्णन 'आलम्बन-रूप' में न आकर 'उद्दीपन' रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है । 'आलंबन' रूप में आया प्रकृति का 'वर्ण्य' रूप में वर्णन, कवि के द्वारा अपने ही भाव-प्रभाव के निमित्त वर्णित होता है, जब कि 'उद्दीपन' रूप का वर्णन 'वर्ण्य'-रूप में वर्णित होकर भी या तो किसी अन्य-भाव-व्यापार की पृष्ठभूमि के रूप में आता है, अथवा उसे उद्दीप्त करने के लिए प्रयुक्त होता है । यहा कवि उस प्राकृतिक दृश्य के भाव-प्रभाव की अन्तिम छाप पाठकों पर नहीं छोडना चाहता, वरन् उस वातावरण में घटित अन्य व्यापार या भाव की अन्तिम छाप को पाठक के मन पर अंकित करना उसका लक्ष्य होता है । 'कामायनी' का 'वासना' के चित्रण में आया देवदारु से मंडित चाँदनी रात का वर्णन इसी कोटि का है—

"आ रही थी मदिर भीनी माधवी की गंध ।
पवन के घर घिरे पड़ते थे बने मधु अन्ध ।।
शिथिल अलसाई कमल की सेज पर विश्रान्त
उसी झुरमुट में हृदय का भावना थी भ्रान्त"

× × ×

मनु 'श्रद्धा' से कह रहे हैं—

"मधु बरसती बिधु—किरण है काँपती सुकुमार ।
पवन में है पुलक मंथर चल रहा मधु-भार ।
तुम समीप अधोर इतने आज क्यों हैं प्राण ?
छक रहा है किस सुरभि से तृप्त होकर घ्राण ?"

['वासना']

इसी तरह 'ध्रुव-स्वामिनी' के ४५-४६ पृष्ठ पर आया गीत भी इसी प्रकार के प्रकृति-वर्णन में रखा जायगा। 'रहस्यवाद' की पुजारिनी सुश्री महादेवी जी को मेघ 'प्रिय-पद' के चिन्ह का संकेत दे रहे हैं—

"मेघ-पथ में चिह्न विद्युत के गये जो छोड़ प्रिय-पद,
जो न उनकी चाप का मैं जानती सदेश उन्मद,
किसलिए पावस नयन में
प्राण में चातक बसाती?"

—('दीपशिखा')

'नवीन' जी के सद्यः-प्रकाशित 'अपलक'-संग्रह के 'सखि वन-वन घन गरजे' एवं 'सुन लो घन तर्जन करते हैं' गीत इसी श्रेणी के हैं। 'बच्चन' जी की प्रसिद्ध 'इस पार-उस पार' कविता की निम्न पंक्तियाँ इसी प्रकार की कही जा सकती हैं—

"यह चाँद उदित होकर नभ में कुछ ताप मिटाता जीवन का।
लहरा-लहरा ये शाखाएँ कुछ शोक भुला देतीं मन का॥
कल मुरझाने वाली कलियाँ हँस कर कहती हैं मग्न रहो,
बुलबुल-तरु की फुनगी पर से संदेश सुनाती यौवन का॥"

कविवर 'पन्त' जी की 'ग्रन्थि' में भी प्रकृति के इस रूप का काफी प्रयोग किया गया है। 'ग्रन्थि' का युवक नायक प्रकृति के अन्य उपकरणों में मिलन का सौन्दर्य देख अपने हृदय को मसोसता हुआ मालूम पड़ रहा है—

"शैवालिनि! जाओ मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल! आलिंगन करो तुम व्योम को
चन्द्रिके! चूमो तरंगों के अधर
उडुगणो! गाओ पवन-वीणा बजा।
पर हृदय! सब भाँति तू कंगाल है......'

('ग्रन्थि')

महाप्राण 'निराला' की 'जागो फिर एक बार' रचना में भी प्रकृति के चित्र वातावरण-सृष्टि एवं उद्दीपनार्थ ही आये हैं—

"जागो फिर एक बार।
प्यारे जगाती हुई हारी तारिकाएँ तुम्हें,
अरुण पंख, तरुण किरण
खड़ी खोलती हो द्वार"

× × ×

('परिमल')

प्रेरणा से लिखने वाले 'प्रसाद' जी के 'अवर्ण्य' उनकी आन्तरिक अनुभूतियों के मेल में होने के कारण भाव-स्निग्ध एव रस-पेशल हैं। उन्होंने पुराने 'अवर्ण्यों का प्रयोग किया, उनका उद्धार किया और भावों की नवीन ऊष्मा के प्रक्षेप से उनमें ताजगी भी डाली। प्राचीन एव परपरागत उपमान भी उनकी भाषा-विदग्धता एव लाक्षणिक विच्छित्ति से नवीन हो उठे हैं। हास्य की उपमा कमल की श्वेतता से दी गई है, पर प्रसाद जी ने उसमें अपनी वंकिमा से एक अनोखा लावण्य ला दिया है—

"विकसित सरसिज वन-वैभव
मधु-ऊषा के अंचल में।
उपहास करावे अपना
जो हँसी देख ले पल में ॥"

—('आँसू')

छायावादी काव्य-धारा में आये 'अवर्ण्यों' एवं इसके पूर्ववर्त्ती काव्य, विशेष कर 'रीतिकालीन' या 'भारतेन्दु-युगीन' 'अवर्ण्यों' में एक आधारभूत अन्तर यह है कि उनके मूल में मुख्य प्रेरणा कल्पना एव वैचित्र्य की होती थी, जब कि इनमें भाव एवं प्रभाव ही लक्ष्य होता है। तभी तो 'भारतेन्दु' ने 'पावस' को 'मसान', 'रत्नाकर' ने गोपियों की विरह-दशा में वसन्त का दर्शन किया। शब्द-साम्य भी उनके 'अवर्ण्य'-विधान के लिए पर्याप्त था, किन्तु 'प्रसाद' जी ने तो रूप, धर्म एव प्रभाव की ऐसी त्रिवेणी बहाई है कि पाठक का मन एक विराट् प्रभाव की छाया में रस-स्नात होकर बादल को देखकर मयूर की भाँति नाच उठता है। 'कामायनी' में 'श्रद्धा' का रूप-वर्णन उनकी श्रेष्ठ लेखनी का सफलतम निदर्शन एवं विश्व-साहित्य के रूप-वर्णनों में चूडा-स्थानीय है—

"नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ बन बीच गुलाबी रग।
आह, वह मुख पश्चिम के व्योम
बीच जब घिरते हों घनश्याम,
अरुण रवि-मंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छवि-धाम।

या कि नव इन्द्रनील लघु शृंग
फोड़ कर धधक रहा हो कान्त
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रान्त।" ['श्रद्धा'-सर्ग]

'श्रद्धा' के नीले वस्त्र के बीच से उसका यौवन एवं गुलाबी अधखुला अंग ऐसा लगता है, जैसे मेघों के नीले वन में गुलाबी रंग का बिजली का फूल खिल रहा हो। प्रकृति के सुन्दर उपादानों एवं अर्थ-भरे दृश्य-सभार को जुटाकर एक स्थान पर ऐसे चित्र का अंकन करता है जो उसकी अन्तरानुभूति एवं सौन्दर्य-परिकल्पना को यथा-सम्भव अत्यन्त निकट से अभिव्यक्त कर सके। वर्ण, धर्म आदि के विभेदों को मिटाने के लिए वह ऐसे विशेषणों का भी प्रक्षेप करता चलता है, जिनसे प्रकृति के स्थूल विस्तार को ध्यान में रखकर कविता का मर्म समझने वाले पाठक के मनमें, उसकी असगतियाँ भी तिरोहित हो जायँ और एक मार्ग में ही वह रेखा चित्र की गिनी-गिनाई रेखाओं की भाँति, उससे कवि की उद्दिष्ट सौन्दर्य-कल्पना की भी झाँकी पा ले। बिजली का फूल खिलते शायद ही किसी ने देखा हो (हो सकता है कवि को बिजली के जलते 'बल्ब' से यह कल्पना प्राप्त हुई हो।) और मेघों का वन तो और भी नहीं। बिजली स्वर्ण-वर्ण की अथवा आग की लपटों के रंग की होती है और कवि को 'श्रद्धा' के अंग के गुलाबी रंग को लक्षित कराना है; अतः उसने 'मेघ-वन-बीच गुलाबी रंग' कहा। प्रकृति-ससार की इन उपरि-कथित असगतियों पर ध्यान देने वाले साधारण वस्तुवादी पाठक के सामने, इस सौन्दर्य के हृदयंगम करने में कितनी ही कठिनाइयाँ आ उपस्थित होती हैं और वह खीझकर कह उठता है—यह मात्र कोरी कल्पना का असम्भव जाल है! मानव की आन्तरिक अनुभूतियों और सौन्दर्य कल्पना-रूपों की ठीक-ठीक प्रतिकृति, प्रकृति के साधारण स्थूल दृश्य नहीं हो सकते, क्योंकि वे प्रकृति के आक्षरिक अनुकृति नहीं होते। अपनी रूप-कल्पना एवं सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति के लिये वह प्रकृति के विस्तृत प्रसार से अनेक उपादान चुनकर तब कहीं वह उसे स्वरूप दे पाता है। 'श्रद्धा' के रूप की असाधारणता की झाँकी कराने के लिए कवि ने असाधारण 'अवयवों' को चुना है। यदि मेघ का ही वन हो और उसमें बिजली की दीप्ति से जगमगाता गुलाबी फूल खिल उठे, तभी उन नीलिमा के क्रोड़ से झाँकता वह गुलाबी विद्युत्पुष्प कामायनी के नील परिधान से झाँकते हुए उसके अधखुले अंग के सौन्दर्य की झलक दे सकता है। कहा जा सकता है कि कल्पना के इस व्यायाम में अनुभूति उड़ जायगी। इसका यही उत्तर हो सकता है कि रूप के किसी

एक पक्ष (वर्ण, आकार या गुण) की तीव्रानुभूति कराने के लिए किसी इकहरे 'अवर्ण्य' के प्रयोग पर साधारण पाठक की सहानुभूति अर्जित की जा सकती है, किन्तु जहाँ रूप की विविध-पक्षीय साकारता का प्रश्न होगा, 'अवर्ण्यों' के सूक्ष्म-विधान का आश्रय लेना ही होगा। हर वस्तु का एक 'अनुषग' या'साहचर्य' होता है। इस प्रकार जब कई वस्तुएँ 'अवर्ण्य' रूप में ग्रहण की जाती हैं, तो उनके साहचर्य के समष्टिगत या सामूहिक प्रभाव से पाठक की ग्राहक कल्पना में जो चित्र बनेगा, वही प्रधान होगा और उस क्षण पाठक की भावना-वृत्ति प्रकृति के बाह्य विस्तार के प्रति बहिर्मुख न होकर, कल्पना-पट पर उतरते चित्र की ओर अन्तर्मुखी होगी। हाँ, इस सत्य से किसी प्रकार भी इनकार नहीं किया जा सकता कि इस रूप-विधान की मर्मानुभूति के लिए अधिक परिमार्जित बुद्धि और विकसित कल्पना-शक्ति की आवश्यकता होती है।

'अवर्ण्यों' का सफलतम निदर्शन 'कामायनी' का 'लज्जा सर्ग' एवं 'श्रद्धा' का विरह-वर्णन है। अनुभूति-रूप में परिचित आकार-रहित लज्जा अपनी सत्ता की साकारता एवं सचेतना की पूरी सवेदना के साथ नेत्रों के आगे खड़ी-सी हो जाती है—

"वैसी ही माया में लिपटी अधरों पर उँगली धरे हुए
माधव में सरस कुतूहल का आँखों में पानी भरे हुए"

'अवर्ण्य' की ताजगी एवं मौलिकता का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण निम्न पक्तियों में देखा जा सकता है—

"उषा की पहली लेखा कान्त
माधुरी से भींगी भर मोद
मद-भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक-द्युति की गोद।"
—('श्रद्धा')

× × ×

"माधवी निशा की अलसाई
अलकों मे लुकते तारा-सी"
('काम')

'पन्त' जी ने भी प्रकृति से सुन्दर 'अवर्ण्यों' का सग्रह किया है। उन्होंने रूप-वर्णन के लिए प्रकृति का उतना उपयोग नहीं किया है, जितना अपनी आन्तरिक अनुभूतियों और जीवन-जगत् के प्रति अपने अनुभवों की व्यंजना के

लिए। एक सूक्ष्म संकेत अथवा दो वस्तुओं के किसी एक बिन्दु पर पाये जाने वाले हलके साम्य का उन्होंने बड़ा मार्मिक विधान किया है—

"सिसकते हैं समुद्र-से मन,
उमड़ते हैं नभ-से लोचन।"

—('पल्लव'—'आँसू')

× × ×

"कपोलों की मदिरा पी, प्राण!
आज पाटल गुलाब के जाल,
विनत शुक-नासा का कर ध्यान
बन गये पुष्प पालश अराल।

× × ×

नवेली बेला उर की हार,
मोतिया मोती की मुसकान,
मोगरा कर्णफूल-सा स्फार
अँगुलियाँ मदनबान की बान।"

—('पल्लविनी'-मधुवन, पृ० १७६)

महादेवी—

"दीप-सी मैं
आ रही अविराम मिट मिट,
स्वजन और समीप सी मैं।"

—['दीप-शिखा']

× × × ×

"मैं नीर भरी दुख की बदली!
विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना, इतिहास यही
उमड़ी थी कल मिट आज चली!"

('सान्ध्य-गीत')

कभी-कभी प्रकृति के 'वर्ण्य' पर ही प्रकृति से लेकर 'अवर्ण्य' का विधान किया जाता है—

"बनती प्रवाल का मृदुल फूल जो क्षितिज-रेख थी कुहर म्लान"

—('रश्मि')

महादेवी जी के 'अवर्ण्यों' में वर्ण-साम्य की अधिकता है। 'नीलम', 'मानिक', 'हीर', 'कनक', 'प्रवाल', 'रजत', 'मोती', 'तारक', 'आलोक', 'तिमिर', 'विद्युत्', 'अगार', 'स्वर्ण', 'इन्द्रधनुष', 'मसि', 'कज्जल', आदि जो अवर्ण्य महादेवी जी के काव्य में प्राय' आये हैं, वे रंग की तीव्रता से ही आकृष्ट करने वाले हैं और उनसे चाक्षुष चित्र बड़े ही सुन्दर बनते हैं, पर उनके 'अवर्ण्यों' में 'श्रुति', 'घ्राण' एव 'स्पर्श' ज्ञानेन्द्रियों के सन्निकर्ष के होते हुए भी 'दृष्टि' की प्रमुखता है, साथ ही उनमें बहुत कुछ परम्परा का भी ध्यान रखा गया है। इनके बाद की पीढी में 'बच्चन' जी का काव्य बहुत कुछ तथ्यानुभूति की प्रत्यक्ष एव सावेग अभिव्यक्ति से सम्बद्ध है। 'बच्चन' जी एक नये दृष्टिकोण के साथ साहित्य में आये, जो परम्परा एवं रूढियों के प्रति विचारों के क्षेत्र में विद्रोह-शील रहा। उन्हें पहले कही गयी ओर सामान्यतया स्वीकृत कितनी ही मान्यताओं को नकारना था और उतने ही बल के साथ अपनी मान्यता को रखना भी था। सभी देशों के साहित्य के इतिहास इस बात के साक्षी हैं कि जब-जब किसी को अपनी नवीन और पूर्व-मान्य परम्परा से विरुद्ध बात कहनी हुई है, तो उसने कलात्मक रचनाओं की अतिशयता को बचाकर अपनी बात को सीधे और सशक्त ढंग से कहने का प्रयत्न किया है। कथनों एव उनके द्वारा प्रतिपादित तथ्यों की महत्ता-लघुता के विवाद में न जाकर, मैं केवल यही कहना चाहता हूँ कि परिस्थिति एव आवश्यकता को देखते हुए 'बच्चन' जी के काव्य की प्रत्यक्षता स्वाभाविक है। उनके बाद की नई पीढी में, जिस में 'नेपाली', श्री शम्भूनाथ सिंह, धर्मवीर भारती (जो अब 'द्वितीय सप्तक' के अनुसार प्रयोगवादी हैं), जानकी वल्लभ शास्त्री, गगाप्रसाद पाडेय, नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार ('नकेन'-वादी), नरेश कुमार मेहता, हसकुमार तिवारी, गिरिधर गोपाल, गुलाब, महेन्द्र, मोती बी० ए०, साही, रामदरश उपाध्याय, नामवर सिंह, हरिमोहन, रामाधार सिंह एव रमानाथ अवस्थी, रामचन्द्र सिंह 'रमेश' 'विश्व' आदि का नाम सरलता से लिया जा सकता है। 'अवर्ण्यों' की दिशा में कुछ विकास हुआ है। 'वर्ण' के अतिरिक्त घ्राण, स्पर्श एवं श्रवण पर आधृत बड़े व्यंजना-पूर्ण 'अवर्ण्य' इनके द्वारा प्रयुक्त हुये हैं। प्रभाव-साम्य के आधार पर नियोजित ये 'अवर्ण्य' एक विशेष मार्मिकता से सवलित होते हैं, जहाँ 'वर्ण्य'-'अवर्ण्य' के साम्य की गम्भीरता में डूबने पर एक अभिनव विच्छित्ति जैसे सदा सामने, पर पकड से दूर-सी अनुभूत होती चलती है। 'प्रसाद' जी ने 'कामायनी' में जहाँ 'श्रद्धा' का 'रूप-वर्णन' या 'लज्जा' तथा 'काम' आदि का चित्रण किया है, वहाँ 'अवर्ण्यों' में एक अभिनव मौलिकता एव नई सवेदना के दर्शन अवश्य होते हैं, किन्तु 'वर्ण्य'

'अवर्ण्य' के साम्य का आधार (चाहे प्रभाव-साम्य ही क्यों न हो) बहुत कुछ प्रायः व्यक्त और स्पष्ट लक्षित होना चलता है, पर नयी पीढ़ी के कुछ कवियों में तो 'अवर्ण्य' एक हलकी-फुलकी किन्तु विलम्बित भावुकता के प्रवाह में ऐसे सघन विरल रूप में आ जाते हैं कि उनकी बंकिम मादकता में मन तो डूब जाता है, पर यदि उभय-पक्षों की अन्विति बिठाने का प्रयत्न करें तो कठिनाई पड़ती है। श्री शम्भूनाथ के 'अवर्ण्यों' में इस प्रकार की कठिनाई नहीं पड़ती, पर कवि की मूल अनुभूति को एक क्षण अलग रखकर यदि 'वर्ण्य'-'अवर्ण्य' की पहचान पर ध्यान केन्द्रित न रखा जाय तो भ्रम होने लगता है कि कवि का 'वर्ण्य' प्रकृति है या प्रेमालम्बन। 'दो भरे नयन' कविता इसका उदाहरण है। भ्रम हो जाता है कि बूंद 'वर्ण्य' है अथवा 'रुनझुन'।

'चपला से चमके चपल चरण दो रागारुन
रिमझिम बूँदों में बरस पड़ी पायल-रुनझुन।'
—('छायालोक')

ऐसे स्थलों पर भारती जी का लक्ष्य स्यात् एक समन्वित प्रभाव-सृष्टि होती है, आलंकारिक ढंग से उनके पक्ष-प्रतिपक्ष के साम्य की योजना नहीं। श्री भारती जी की निम्नस्थ पंक्तियों का वातावरण कितना मार्मिक है—

'मुँह पर ढक लेती हो आँचल
ज्यों डूब रहे रवि पर बादल
या दिन भर उड़कर थकी किरन,
सो जाती हो पाँखें समेट,
आँचल में अलस उदासी बन!'
दो भूले-भटके सान्ध्य विहंग,
पुतली में कर लेते निवास!
जब तुम हो जाती हो उदास!'

श्री मोहन लाल द्विवेदी जी ने खादी के धागों में माँ-बहनों का प्यार और गरीबों की आह तो गूँथी ही है, भाव-कल्पना के मार्मिक स्थलों पर छायावादी कवियों की भाँति उन्होंने भी 'स्थूल' के लिए 'सूक्ष्म' अप्रस्तुतों का नियोजन किया है। 'वासवदत्ता' कविताओं एवं 'कुणाल' जैसे प्रबन्धों में उनकी कल्पना की यह सूक्ष्मता एवं भाव-साम्य पर आश्रित औपम्य-विधान सरलता एवं प्रचुरता से देखा जा सकता है, जब वे वासवदत्ता और तिष्यरक्षिता की सुन्दरता एवं विविध-भाव-स्थित मुद्राओं के प्रत्यक्षीकरण के लिए मूर्त-अमूर्त उपमानों की शृंखला बिठाने लगते हैं, मालोपमा की झड़ी लग जाती है—

'मानस की मधुमय आशा-सी,
उर की मादक अभिलाषा-सी,
नयनों की नीरव भाषा सी
लज्जा की नव परिभाषा-सी'

—('कुणाल'–पृ० ३५)

छायावादी काव्य-धारा के 'तृतीय उत्थान' में श्री शम्भूनाथ सिंह के 'प्राण तुम दूर भी प्राण तुम पास भी' के टेक वाले गीत में भी 'अवर्ण्यों' का सुन्दर सकलन हुआ है। जहाँ परम्परागत 'अवर्ण्य' हैं, वहाँ भी कवि ने अपनी अनुभूति के संस्पर्श से कुछ और शिष्टता ला दी है, जिससे उसकी मार्मिक कल्पनाशीलता और ऐन्द्रियता से सप्राण अभिनव सुरुचि का सम्यक् परिचय मिलता है—

तुम गगन की परी
तुम उषा-सुंदरी
तुम धरा-रूप-सर
में किरण की तरी
रूप बन्दी हुए इस विकल प्राण की
प्राण, तुम मुक्ति भी, प्राण, तुम पाश भी।

× × ×

दूर तुम ज्यों गगन
पास तुम ज्यों किरन
दूर ज्यों इन्द्र धनु
पास ज्यों ओस-कन
स्नेह-के स्वप्नवाही मधुर प्राण से
प्राण, तुम दूर भी, प्राण, तुम पास भी।

—'छायालोक'

श्री भारती जी के अवर्ण्यों के चयन में यदि 'प्रौढोक्ति' की दिशा है तो श्री शम्भूनाथ सिंह जी के चुनाव में 'विरोधाभास' की छाया, पर 'किरन की तरी' और 'ज्यों थकी किरन' जैसे अप्रस्तुत-चयनों में दोनों कवियों की रुचि सूक्ष्मतर साम्य के संकेत की ओर ही है। नवोदित कवियों में यह प्रवृत्ति प्रमुख स्थान रखती है। प्रकृति के इन परपरा-गत एव नये चुने गये उपकरणों में सूक्ष्म से सूक्ष्मतम साम्य की व्यजना ही प्राण होती है। डा० व्रजमोहन गुप्त ने 'वियोग-रागिनी' के पृ० २२ पर 'सुकोमल श्वेत कली-सा वेश' वाले व्यक्ति

को 'सुभग धूमिल छाया-सी मौन' भी कहा। काशी-केन्द्र की छाया में पलने वाले नवीन तरुण कवि ग्राम-गीतों के वातावरण के निकट जाने के प्रयत्न में ग्रामीण प्रकृति की ओर भी 'अवर्ण्य'—चयन के लिए जाने लगे हैं। श्री नामवर सिंह का 'झुपुर-झुपुर धान के समूह में हलर-हलर सुनहरा विहान है' तथा श्री केदार सिंह का 'रात पिया पिछवारे पहरू ठनका किया' जैसे गीत इसके प्रमाण हैं। 'मनवन्तर' में श्री शम्भूनाथ सिंह की कल्पना ने नया मोड़ लिया है। 'मैं न तुमसे दूर' (पृ० १०) और 'मेरा गाँव' (पृ० २६) की कविताएँ उदाहरण स्वरूप ली जा सकती हैं—

'है सुनहरा प्रात कातिक का
खुला आकाश, फैले हैं क्षितिज पर
मेघ मटमैले.........(पृ० २२)

इधर श्री शम्भूनाथ सिंह, केदार एवं 'अधीर' के नवीन गीतों में ग्रामगीतों की लय के साथ वहाँ का वातावरण और जीवन भी उभर रहा है। 'मन का आकाश उड़ा जा रहा पुरवैया धीरे बहो' और 'किसके ये गीत रे'—टेक वाले गीतों में रचना-प्रक्रिया भी ग्रामगीतों की ली गयी है। 'माता' के प्रसादार्थ गाँवों में ढोलों पर गाये जाने वाले 'पचरों' से भी शम्भूनाथ जी ने प्रेरणा ली है। 'अधीर' में महुए की गंध और गाँवों की सहज प्रकृति गमगमा उठती है। केदार के गीतों में वातावरण से अधिक लय और शब्द-विन्यास की नवीनता है जो भोजपुरी की ओर झुकती है।

प्रकृति-वर्णन का तीसरा रूप रहस्यात्मक है। यद्यपि इसका सविस्तार विवेचन 'छायावाद और रहस्यवाद' शीर्षक अध्याय में किया जायगा, पर संकेत-रूप में इतना जान लेना यहाँ आवश्यक होगा कि जब प्रकृति की अपनी निजी स्वतंत्र सत्ता को न मानकर उसको किसी अनन्त रहस्यमयी शक्ति की अभिव्यक्ति के साधन-माध्यम के रूप में ग्रहण किया जाता है, तो वह प्रकृति वर्णन की रहस्यात्मक कोटि में परिगणनीय है। 'प्रसाद' जी की 'विमल इन्दु की विशाल किरणें प्रकाश तेरा बता रही हैं'—जैसी पंक्तियाँ इसी कोटि में ली जायँगी। 'अनन्त' की रहस्यमयता का यह समर्थ आलेख दर्शनीय है—

"इस विश्व-कुहर में ऐन्द्रजाल
जिसने रचकर फैलाया है ग्रह तारा विद्युत नखत-व्याल
सागर की भीषणतम तरंग-सा खेल रहा वह महाकाल
तब क्या इस वसुधा के लघु-लघु प्राणों को करने को सभीत
उस निष्ठुर की रचना कठोर केवल विनाश की रही जीत

तब मूर्ख आजतक क्यों समझे हैं सृष्टि उसे जो नाशमयी
उसका अधिपति होगा कोई, जिस तक दुख की न पुकार गयी !'

—('इडा')

महादेवी जी मेघों में जाने किसकी स्मिति को 'रूमती-झूमती' अनुभव कर रही हैं—

'जाने किसकी स्मिति रूम झूम
जाती मेघों को चूम-चूम ?
वे मंथर जल के विन्दु चकित
नभ को तज ढुल पडते विचलित ।
विद्युत् के दीपक ले चंचल,
सागर-सा गर्जन कर निष्फल
घन थकते उसको खोज-खोज
फिर मिट जाते ज्यों विफल धूम !'

× × ×

"आलोक-तिमिर सित असित चीर
सागर गर्जन रुनझुन मँजीर
रवि शशि तेरे अवतंस लोल
सीमन्त-जटित तारक अमोल !"

'निराला' जी की 'परिमल' की 'तरगों के प्रति' शीर्षक कविता उनकी रहस्यवृत्ति की परिचायिका है । 'गीतिका' की निम्न पंक्तियाँ भी इसी कोटि की हैं—

जग का एक देखा तार ।
.. . .

वहु सुमन, वहु रंग निर्मित एक सुन्दर हार
एक ही कर से गुँथा, उर एक शोभा भार ।"

डा० रामकुमार जी वर्मा प्रकृति में अपना ही प्रसार देखते हैं—

मेरे हँसने से ही शशि-किरणों का उज्ज्वल हास हुआ ।
मेरे आँसू की सख्या से तारों का उपहास हुआ ।
मेरे दुख के अन्धकार से रजनी का श्रृङ्गार हुआ ।
मेरे विखरे भावों से विखरा-सा यह ससार हुआ ।

—('अजलि', १९२९ ई०)

प्रकृति के रहस्यात्मक चित्रण की धारा अब क्षीण होती जा रही है। महादेवी जी की कविताओं में यह कोटि अपने प्रौढ़तम रूप को प्राप्त हो गई। उसमें, एक तो, आगे विकास का मार्ग भी अधिक नहीं रहा, दूसरे, नित्य प्रति के जीवन की प्रतिक्रियाओं एवं लौकिक जीवन तथा उसकी दैनिक आवश्यकताओं की दैनन्दिन बढ़ती हुई मान्यता कवि को 'रहस्य' की ओर बढ़ने का अधिक उत्साह नहीं देती। ठोस भौतिकता के आधार पर निर्मित साम्यवादी विचारधारा, विश्व-व्यापी आर्थिक एवं युद्ध की प्रतिक्षण झाँकने वाली विभीषिका ने मनुष्य को अवकाश-शून्य और अप्रकृतिस्थ बना दिया। प्रकृति में रहस्यात्मकता के ये संकेत कभी तो शुद्ध आस्था रूप में व्यक्त होते हैं और कभी कवि भावावेश में आत्म-सिद्धि के लिए प्रकृति का सहारा लेकर ऐसा आरोप कर देता है। इस युग में 'रहस्य' के दर्शन रूप में स्वीकृत होने एवं प्रकृति पर मानव-भावारोप की समानान्तर प्रवृत्ति के कारण दोनों में विभाजन करना भी कभी-कभी दुरूह हो उठता है। यद्यपि, समाज की परिस्थितियाँ दिनों-दिन छायावादी काव्यधारा के अग्र-विकास को धुन्ध से अलग कर उसे स्वस्थ मानवीय रूप प्रदान करती जा रही हैं, जीवन की सहज प्रेरणाओं की रेखाएँ उसमें स्पष्टता से उभरती आ रही हैं, फिर भी आधुनिक स्वच्छन्दतावादी, काव्यधारा (जो छायावाद का ही विकसित एवं जीवन-सहज रूप है और जिसमें 'स्वच्छन्दता' का अर्थ निरर्गलता नहीं वरन् जीवन-शोषी रूढ़ियों से मुक्ति एवं जीवन के सहज-तरल रूप का स्वस्थ उपभोग है) में भी प्रकृति में रहस्यात्मकता के मधुर संकेत-सूत्र निकाले जा सकते हैं—

किसी के चरण पर वरण-फूल कितने लता ने चढ़ाये, लहर ने बहाये।

× × ×

विकल सिंधु से साध के मेघ कितने, गगन ने उठाये, पवन ने उड़ाये।

—('छायालोक'—शम्भूनाथ सिंह)

प्रकृति-वर्णन की विचारात्मक कोटि वह कही जायगी, जहाँ प्रकृति के किसी दृश्य-व्यापार का वर्णन कर कवि उससे किसी वैचारिक निष्कर्ष अथवा दार्शनिक अन्विति तक पहुँचता है। पूर्ववर्ती काव्य में भी अन्योक्तियों एवं दृष्टान्त, उदाहरण और अर्थान्तरन्यास अलंकारों के सहारे ऐसे निष्कर्ष निकाले गये हैं, पर छायावादी काव्यधारा ने और अधिक रमणीय साम्य का आरोप हुआ है जिससे उसमें पूर्ववर्ती काव्य जैसा स्थूल उपदेश-स्वर नहीं, वरन् स्वयं वर्णित विषय से सहज-रूप में उद्भूत हुई विचार-लहरी की व्यंजना है। इसी से वर्णित प्रकृति-दृश्य एवं दार्शनिक विचार परस्पर घुले-मिले एवं अविभाज्य-से

हो गये हैं। उसमें बलपूर्वक लाया गया दूरारोप नहीं, सत्य का सहज अनुराग है।

कविवर 'निराला' ने सूर्यास्त के चित्रण के सहारे जीवन की नश्वरता का कितना करुण निष्कर्ष निकाला है—

"ढल रहे थे मलिन मुख रवि, दुख किरण
पद्म मन पर थी, रहा अवसन्न वन
देखती थी यह छवि खड़ी मैं साथ वे
कह रहे थे हाथ मे यह हाथ ले,
एक दिन होगा
जब मैं न हूँगा।"

—(परिमल)

'प्रसाद' जी को झरना देखकर 'कल्पनातीत काल की घटना' की रटना लग जाती है—

मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी।
बात कुछ छिपी हुई है गहरी॥
कल्पनातीत काल की घटना।
हृदय को लगी अचानक रटना॥

—'झरना'

'निराला' जी की 'शेष' एवं 'वृत्ति' रचनाएँ इसका सफलतम उदाहरण हैं। 'पन्त' जी ने अपनी सुप्रसिद्ध 'नौका-विहार' रचना का अन्त एक दार्शनिक निष्कर्ष के साथ किया है—

ज्यों ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत-विचार
इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत कवि का यह रजत-हास,
शाश्वत लघु-लहरों का विलास।
हे जग-जीवन के कर्णधार ? चिर जन्म-मरण के आर-पार।
शाश्वत जीवन नौका-विहार।

कभी-कभी प्रकृति-चित्रण करने के पश्चात् अन्त में विचार निष्कर्ष न निकाल कर, प्रकृति के किसी दृश्य व्यापार का इस प्रकार चित्रण करते हैं कि उससे जीवन-जगत् के किसी मार्मिक सत्य के प्रति मधुर ध्वनि प्राप्त होती है। ऐसे वर्णन को अन्योक्ति-रूप वर्णन कह सकते हैं। 'पन्त' जी की 'झर गई

कली' वाली कविता ('गुंजन') में सौन्दर्य एवं मधुर यात्रा के असमय ही विलुप्त हो जाने का निष्कर्ष ध्वनित है। 'ज्योत्स्ना' के 'ओस का गीत' नामक कविता में भी जीवन की चलता, सुन्दरता एवं लघुता का निष्कर्ष है:—

"जन्म नवल, अगणित पल
लेंगे कल, सृजन प्रवल!
जीवन चल, जीवन कल,
जीवन हिम-जल लघु-पल!"

—('पन्त')

कभी-कभी निष्कर्ष ही नहीं, किसी पूर्व-सिद्ध सत्य को प्रकृति से प्रमाणित भी करते हैं:—

"सुख-दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन;
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन।"

—['पल्लविनी']

विरह-मिलन से भरा साँझ-उषा का आँगन जीवन के हास-अश्रु-मय होने का प्रमाण है—

"यह साँझ-उषा का आँगन,
आलिंगन विरह-मिलन का।
चिर हास-अश्रु-मय आनन
रे, इस मानव-जीवन का।"

—['पन्त']

बेमन की तोडी जाने वाली मकरन्द-भरी कलिका से 'प्रसाद' जी ने असमय ही समाप्त हो जाने वाले मधुमय जीवन या उसकी किसी मधुरतम आकांक्षा को ध्वनित किया है—

"मत कहो कि यही सफलता
कलियों के लघु जीवन की।
मकरन्द-भरी खिल जायें
तोड़ी जायें बेमन की।"

—('आँसू'—पृ० ४४ द्वि० सं० से)

'पन्त' जी की 'परिवर्त्तन' कविता में भी प्रकृति की इस कोटि का अच्छा उपयोग हुआ है। छायावादी काव्य-धारा में आये प्रकृति-वर्णन का अन्तिम रूप प्रतीकात्मक है। यह कोटि शुद्ध रूप के प्रकृति-वर्णन की श्रेणी में पूर्णतः नहीं आती। प्रकृति के रूप-व्यापारों का उपयोग करते हुए भी कवि का लक्ष्य प्रकृति-वर्णन नहीं, वरन् उसके द्वारा किसी अन्य उद्दिष्ट सत्य की व्यंजना होती है। विचारात्मक या दार्शनिक दृष्टि वाले प्रकृति-वर्णन में तो प्रकृति की अपनी निजी वस्तु-स्थिति का भी एक पक्ष होता है और कवि और पाठक दोनों की ही बोध अथवा भावन-क्रिया में प्रकृति के उक्त दृश्य-व्यापारों की एक स्वतंत्र सत्ता होती है, पर प्रतीकात्मक वर्णन में प्रकृति के सभी दृश्य-व्यापार मात्र प्रतीक होते हैं। 'प्रसाद' जी की 'आँसू' की निम्न पंक्तियों में प्रकृति के दृश्यों की वस्तुवत्ता का, अर्थग्रहण में कोई स्वतंत्र महत्त्व नहीं—

"झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी, नीरदमाला
पाकर इस शून्य हृदय को
सब ने आ डेरा डाला।"

× × × —पृ० १५

"पतझड़ था, झाड़ खड़े थे
सूखी सी फुलवारी में
किसलय नव कुसुम बिछाकर
आये तुम इस क्यारी में!"

× × × —पृ० १९

"छिप गईं कहाँ छूकर वे
मलयज की मृदुल हिलोरें।"

× × × —पृ० २९

"है हृदय शिशिर-कण पूरित
मधुवर्षा से शशि तेरी
मन-मन्दिर पर बरसाता
कोई मुक्ता की ढेरी।"

'लज्जा'-सर्ग ('कामायनी') में यौवन के आगमन का वर्णन वसन्तागमन के रूप में हुआ है। यहाँ व्यापार एवं दृश्य तो क्रमशः सब वसन्त के उपस्थित होते हैं, पर उनसे यौवन के आगमन और विकास की ध्वनि स्पष्टतः प्राप्त होती है—

"मधुमय वसन्त जीवन-वन के,
वह अन्तरिक्ष की लहरों में;
कब आये थे तुम चुपके से
रजनी के पिछले पहरों में!
क्या तुम्हें देखकर आते यों
मतवाली कोयल बोली थी!
उस नीरवता में अलसाई
कलियों ने आँखें खोलीं थी!
जब लीला से तुम सीख रहे
कोरक-कोने में छिप रहना;
तब शिथिल सुरभि से धरणी में
बिछलन न हुई थी सच कहना?
जब लिखते थे तुम तरल हँसी
अपनी फूलों के अंचल में;
अपना कल कंठ मिलाते थे
झरनों के कोमल कलकल में।"

ये प्रतीकात्मक वर्णन लाक्षणिकता पर आश्रित होते हैं। यह लाक्षणिकता कहीं 'लक्षण-लक्षणा' और कहीं 'उपादान-लक्षणा' में अन्तर्भूत हो जाती है। किसी भाव-विशेष या गुण-विशेष को मानव मन में जाग्रत करने के लिए कुछ पदार्थ अन्यों की अपेक्षा अधिक सफल होते हैं। सफल प्रतीक वही माना जायगा जो गुण या भाव-विशेष के निमित्त अत्यन्त सबल प्रेरणा देने वाला हो या उसमें धर्म-विशेष इतने अधिक और सर्व-विदित रूप में हो कि सुनने वाला उसके नाम मात्र से उस धर्म या भाव का तुरन्त ग्रहण कर ले। उन्हें सहज भाव-व्यंजना से बहुत दूर न होना चाहिए। गुण-विशेष के लिए प्रतीक रूप में आने वाले पदार्थ तभी विशेष प्रभावशाली होंगे, जब वे उस गुणवाली प्रत्येक वस्तु से सर्वाधिक रूप में प्रकृष्ट होंगे। जीवन में फूल का सम्बन्ध सुख सुविधा से है। इसी प्रकार 'शूल' भी संसार की यावत् कठोर एवं दुःखदायी वस्तुओं का बोधक है। 'वसन्त' सुख, यौवन उल्लास और नव-जीवन का प्रतीक माना जाता है। 'निराला' जी ने अपनी 'वासन्ती' कविता में वासन्ती शोभा को नव-जीवन का प्रतीक माना है। पतझर में वसन्त के आगमन की भाँति कवि समाज में नवीन जीवन और नवयुग की कामना कर रहा है—

"भर रेणु-रेणु मे नभ की फैला दो जग की आशा।
खुल जाय खिली कलियों मे नव-नव जीवन की भाषा॥

× × ×

नव किरणों के तारों से जग की यह वीणा बाँधो।
प्रिय, व्याकुल झंकारों से साधो, अपनी गति साधो॥
फिर उर-उर के पथ बधुर पग-द्रवित मसृण-ऋजु कर दो।
खर नव युग की कर-धारा भर दो द्रुत जुग में भर दो॥"

—('परिमल')

इसी प्रकार कविवर 'पन्त' जी भी 'द्रुत झरो' शीर्षक कविता में पतझर और वसन्त के प्रतीकों से जीर्ण-शीर्ण समाज में नवयुग की अवतारणा कर रहे हैं—

"मंजरित विश्व में यौवन के
जगकर जग का पिक, मतवाली
निज अमर प्रणय स्वर मदिरा से
भर दे फिर नव-युग की प्याली।"

—('पल्लविनी'—पृ० २१०)

'पल्लविनी' में सगृहीत 'आकाक्षा' (पृ० २११) एवं २१३ पृ० पर अकित 'गा, कोकिल!' कविता भी प्रतीकात्मक रूप में ही प्रकृति का चित्र उपस्थित करती है।

सुश्री महादेवी जी ने 'दीप' के प्रतीक द्वारा साधना-रत आत्मा एवं 'सजल सवेरा' के प्रतीक द्वारा साध्यप्राप्ति की सुखद परिस्थिति का सकेत किया है—

'दीप मेरे जल अकम्पित, धुल अचञ्चल।'

× × ×

'जब यह दीप थके तब आना।'

× × ×

'सजल है कितना सवेरा'

—('दीपशिखा')

"कल्पना निज देखकर साकार होते,
और उसमे प्राण का संचार होते,
सो गया रख तूलिका दीपक-चितेरा।"

—['दीपशिखा']

महादेवी जी के प्रतीक बड़े मधुर और व्यंजक हैं। उनमें लोक-गीतों की मिठास है। नये कवियों ने भी प्रतीकों के चयन में प्रकृति का विशाल क्षेत्र ढूँढा है।

निम्न पंक्तियों में 'दो सुमन' दो कोमल हृदयों के प्रतीक हैं—

"आज के निर्जन मिलन में
दो अपरिचित उर मिलेंगे
प्यार की दुनियाँ बसेगी
दो सुमन कुचले खिलेंगे"
—('आराधना'-श्री कपिलदेव सिंह 'कपिल' पृ० १०२)

प्रिया के शशि-मुख एवं स्मृति-तारकों से युक्त अश्रुधारा-रूपी यमुना की शोभा भी देखिये—

"प्रति-बिम्बित शशि-तारा युत वह
बन यमुना की धार वह चली।
पीड़ा बन साकार वह चली।।"—('वही' पृ० ३३)

इसी प्रकार श्री महेन्द्र जी ने अपने 'ये दीप जल रहे हैं' गीत में 'दीप' को 'नक्षत्र' अथवा 'स्मृतियों' का प्रतीक माना है। श्री गिरिधर गोपाल जी ने अपनी 'अग्निमा' पुस्तक के अमर-दीप वाली कविता में 'दीप' को अमर प्रेम का प्रतीक माना है—'प्रिये, साधना के हिमानी शिखर पर अमर दीप जलता रहा है, जलेगा।' श्री गोपालकृष्ण शर्मा 'गोपेश' ने अपनी 'मुझ से मेरा नाम न पूछो' कविता ('धूप की लहरें' संग्रह से) में 'गिरि-गह्वर' को भीषण बाधाओं का प्रतीक माना है। छायावादी काव्य-धारा ने हिन्दी में नवीन प्रतीक ही नहीं प्रदान किये, वरन् नये-नये प्रतीकों को चुनने की दृष्टि का भी श्री गणेश किया। हमारी भाषा में प्रतीकों के रत्न बिखर पड़े और भाषा का अभिव्यक्ति-भण्डार जगमगा उठा। यदि आज के जनवादी और समूह-वादी मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय, तो आज की जन-प्रतिनिधिवादी और निर्वाचन-विश्वासी यह व्यवस्था ही प्रतीक-सहज है। अनेक व्यक्तियों की ओर से एक के द्वारा प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को मानने वाले युग में, यदि कविता के क्षेत्र में भी एक गुणवाली बहुत-सी वस्तुओं के प्रतिनिधि के रूप में एक प्रतीक चुना जाय तो इसमें कौन-सी अस्वाभाविकता है?

प्रकृति के क्षेत्र से किसी व्यष्टि दृश्य या उपकरण को प्रभावशाली रूप में ग्रहण कर, किसी घटना-व्यापार या विचार-धारा को व्यंजित करने के लिए ये प्रतीक

बड़े सहायक सिद्ध हुए हैं। कविवर सुमित्रानंदन पन्त की पतझर के प्रतीक पर लिखी गई 'द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पाता' आदि रचनाएँ इसका उदाहरण हैं।

छायावादी काव्य प्रकृति-मय है। क्या वर्ण्य, क्या अवर्ण्य, क्या प्रतीक, क्या प्रत्यक्ष, क्या शुद्ध, भाव-रंजित और आभूषित, और क्या रहस्यात्मक सभी कोटियों में आया प्रकृति का पुष्कल प्रभूत रूप इस काव्य-धारा में कमल-पंखुरी की भाँति तैर रहा है। भाव प्रकृति-मय हैं तो प्रकृति भाव मय, प्रकृति स्त्री-मय है तो स्त्री प्रकृति मय। अभिव्यक्ति प्रकृति-मय है तो प्रकृति अभिव्यक्ति-मय। वह विषय, भाव और अभिव्यक्ति, तीनों ही पक्षों में सुन्दरतम रूप से विराजमान है। जिज्ञासा और कुतूहल से लेकर वह राग और विराग तक की प्रेरिका है। छायावादी काव्य-कल्पद्रुम पर मन्दार-लता की भाँति छायी इस प्रकृति को देखकर ही तो कितने ही विचारकों ने 'छायावाद' को 'प्रकृति-वाद' कह दिया। प्रकृति के साथ अनेक रूपों में सम्बद्ध यह छायावादी काव्य फिर भी प्रकृति-वाद (प्रकृति में चेतना की अनुभूति) तक ही सीमित नहीं, वह जीवन-वादी और मानव-प्रधान है, प्रकृति मानव के लिए आयी है। वह कहीं जीवन की 'पृष्ठभूमि' के रूप में आती है तो कहीं 'अग्रभूमि' और कहीं 'पार्श्वभूमि' के रूप में। वह अपने 'शुद्ध' रूप में मानव की 'सपाषिका', 'द्रष्टा'-भाव रंजित रूप में मानव की 'सह-धर्मिणी', आभूषित'-रूप में उसकी 'मनोरंजिनी', 'उद्दीपन'-रूप में उसकी सप्रेरिका, 'अवर्ण्य'-रूप में उसकी परिसाधिका, विचारात्मक'-रूप में मनुष्य की सह-चिन्तिका, 'रहस्यात्मक'-रूप में मानव-रागों की अग्रदूतिका तथा 'प्रतीकात्मक'-रूप में उसकी मानस-नेत्री है। छायावादी कवियों ने इस प्रकृति को अन्तर्बाह्य सभी कोणों की संगिनी बनाया। समस्त छायावादी काव्य की अभिव्यक्ति में अपना अविकल सहयोग देते हुए प्रकृति ने इस युग को सम्पन्न बनाया है। इस मानववादी युग में चतुर्दिक् प्रशस्त होते हुए भी वह मानव पर आरूढ नहीं हुई है, वरन् मानव ने ही शिव की भाँति उसे अपनी परिपूरिका बनाया है।

'छाया'-युगीन यथार्थ और आदर्श

'छाया-युग' के कवियों में कल्पना और भावुकता का रमणीय प्रसार देखकर बहुत से पाठकों को भय होता है कि यह काव्य जीवन से दूर, कल्पना-लोक की सृष्टि है, इसका जीवन के यथार्थ से कोई सम्बंध नहीं। इसीसे इसे जीवन की वास्तविकताओं से दूर पलायन का काव्य भी कहा गया है। मनोविज्ञान को साहित्य में सीमा से अधिक प्रमुखता प्रदान करने वाले आलोचक इसे कैशोर-भावना का काव्य भी कहते सुने जाते हैं। कुछ आलोचकों ने ऐसा स्वर भी उठाया है कि जब देश शतियों की खोयी स्वतंत्रता को लौटा लाने के लिए अपने अस्तित्व के जीवन-मरण से जूझ रहा हो, देश के नौनिहाल सर पर कफ़न बाँध कर आज़ादी के दीवाने बन बैठे हों, उस समय छाया-युगीन कवि अपनी रोती कुटिया को भूल मर्मरी स्वप्नों और कल्पना के कुञ्जों में व्यस्त हों, तो यह ममान निरपेक्षता जीवन-शोषी, अस्वस्थ और वैयक्तिक नहीं तो क्या है? उनकी दृष्टि से छायायुगीन काव्य अकर्मण्य बैठे, मनचले अथवा रुग्णप्रेमी युवक का निराश रुदन है, जिसने जाने अथवा अनजाने अपने व्यक्तिगत जीवन की सभी सामाजिक खिडकियों को बन्द कर लिया है, जो दिवा-स्वप्नों की सुनहरी शून्यता में अस्फुट गुञ्जार कर रहा हो, जो अपने निजी विषाद-कुहासों में अपने को ढककर सामाजिक यथार्थों से कट गया हो! भावुकता आज के बौद्धिक-मानी युग मे अत्यन्त हेय और पिछडे मानस-विकास का द्योतक हो गयी है। छायावादी कवि आदान-प्रदान की दुनियाँ के व्यवहार में पटु नहीं है, इसलिए आज का व्यवहार-पटु और अर्थ मनस्क विचारक उसे अनुपयोगी भावुकता का दोषी मानता है। कल्पना, भावुकता और आदर्शवादिता के मूल में कुछ यथार्थ है अथवा नहीं, इसी पर विचार करना इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य है।

छाया-युगीन कवि सामान्य रूप से कल्पना-शील हैं। ये कवि विशेष रूप से कल्पना की विभूति ही लेकर उत्पन्न हुए थे, प्रचलन अथवा विशिष्ट प्रवृत्ति-वश कल्पना को अपनाते थे, अथवा यह कि इसके साथ कोई सामाजिक परिस्थिति भी थी? कल्पना तो कवि-मात्र की विशिष्टता होती है। साधारण व्यक्ति की तुलना में कवि की कल्पना-शीलता अधिक होती ही है। कल्पना बिना

कविता अथवा साहित्य-कला-मात्र की रचना हो ही नहीं सकती। छायावादी कवि इस सत्य से परे हो भी कैसे सकता है? इस युग के साथ इतिवृत्तात्मकता और उपयोगिता-वादी आदर्श-वाद की एक 'द्विवेदी'-युगीन पृष्ठभूमि है। 'द्विवेदी'-युग का स्वर आचार-वाद, व्यवहारिक नीति-निष्ठा और उपयोगिता-मूलक आदर्शों का स्वर है। इस युग के कवि ने कल्पना को जान-बूझ कर छोड़ना भी चाहा है। उपयोगिता और उसपर आधृत एक विवेकवादी आचार-वृत्त से आगे इस युग का काव्य न बढ सका। इस युग ने पुरातन को अपना पूर्ण आदर्श मानलिया था, नवीन सामाजिक विकास की नवीन परिस्थितियों में उत्पन्न नवीन यथार्थों और उन यथार्थों के प्रकाश में व्यक्ति और समाज के नये सम्बन्ध-मूल्यों की चेतना 'द्विवेदी-युग' के कवि की प्रयोजन-भूमि नहीं थी। व्यक्ति, परिवार, वंश, जाति और समाज के स्तरों पर नये मूल्यों की प्रतिष्ठा आवश्यक थी। समाज और साहित्य के रूढ़ि-बद्ध साँचों में व्यक्ति की जागरूक चेतना कसमसा उठी थी। छाया-युगीन कवि ने इसी नवीन चेतना, नये जीवन-मूल्यों और नयी सामाजिक मान्यताओं से प्रतिक्रिया और प्रेरणा ली थी। द्विवेदी-युग के कवियों की अपेक्षा 'छाया'—पीढी का कवि पुरातन के प्रति अधिक मुक्त भाव से विचार करने और नवीन मूल्यों को अधिक सहानुभूति देने की स्थिति में रहा है। रूढि और बन्धनों के प्रति विद्रोही एवं क्रान्ति-चेता होने के कारण समाज और साहित्य दोनों ही भूमियों पर यह पीढी पूर्व निषेधों के समक्ष मुक्त-वक्ष रही है। भावुकता और कल्पना के क्षेत्र में भी इन कवियों का मुक्त-गति होना इस भूमिका पर किंचित अधिक अस्वाभाविक नहीं है। अवरोध के विरुद्ध मुक्ति की कामना जीवन का शाश्वत धर्म है। 'द्विवेदी-युग' की रुद्ध कल्पना और कीलित भावुकता को इस भूमिका पर पूर्ण अवकाश मिला। नयी शिक्षा, नवीन विचारणा, नव्य परिस्थितियों और प्रगति के नवीन सोपानों ने अपने सामाजिक परिपार्श्व की रूढता के प्रति इन कवियों को अधिक संवेदन-शील और भाव-प्रवण भी बना दिया था। इन बातों को ध्यान में रखकर, छाया-युगीन यथार्थ और आदर्श, और इनके मूल में निहित भावुकता और कल्पना का आगमन अधिक सुविधा से समझा जा सकेगा।

जो लोग छायावादी काव्य को भावुकता-वादी और आदर्शाभास से पीड़ित मानते हैं, उन्हें यह न भूलना चाहिए कि छायावादी काव्य 'द्विवदी-युग' की पृष्ठभूमि पर खडा हुआ है। 'द्विवेदी युग' हर चरण पर आचार और आदर्श का मंत्र दुहराता है। पुरातन मान्यताओं और विचार-सरणियों पर 'द्विवेदी-युग' का आदर्शवाद गरज रहा था। मर्यादा और अनुशासन के नाम पर चलने वाले

उसके अंकुशों का सामना करने के लिए एक आदर्शवादी स्तर ही अपेक्षित था। छाया-युगीन कवियों ने अपने सहज भाव-मूल के सहारे, 'द्विवेदी-युग' के जीवन और साहित्य ने जो जीवन-मय तत्त्व खो दिये थे, उन्हें फिर से सोचे; मानव के अस्तित्व की रक्षा, उसके वहन और विकास में सहायक उपादानों को उन्होंने अपनी जीवनी-शक्ति की नवीन भाव-कल्पना से संवारे। जीवन के मौलिक पदार्थों को इन कवियों ने भावना, चिन्तन और अनुशीलन के उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित किये। इन कवियों का यह दृढ़ विश्वास था कि मानवीय मूल्यों और मानव के मूलगत संवेगों के निषेध से आज के युग में किसी जाति या समाज का जीवन सम्भव नहीं है। शृंगार (प्रेम) और सौन्दर्य-मूलक भावनाओं के साहित्यिक बहिष्कार से 'द्विवेदी' युगीन काव्य निषेध-मुखी होने लगा था। 'छाया'-कवियों ने काल्पनिक देवत्व और असहज आचार-वाद की अस्वस्थ सीमाओं को अस्वीकार कर दिया। छायावादी काव्य में भावुकता और आदर्शवाद एक दूसरे के परिपूरक होकर आये हुए हैं; इन दोनों का लक्ष्य है पिछली पीढ़ी के अमान्य तथ्यों और वृत्तियों को उच्च-पीठिका प्रदान कर, समाज में मान्यता दिलाने का काव्यात्मक प्रयास। इन कवियों ने जीवन के यथार्थ और उपेक्षित मानवीय तत्त्वों को सामाजिक स्वीकृति दिलाने के लिए आदर्शीकरण (आइडिअलाइजेशन) की प्रक्रिया अपनायी है।

इस उदात्तीकरण और आदर्शीकरण के कारण जहाँ एक ओर इन कवियों के काव्यों में जीवन के यथार्थों और मौलिक तथ्यों को स्वीकृति मिली है, वहीं मानवता के उदाराशयों और उच्च उद्देश्यों को भी आदर प्राप्त हुआ है। इस कथन की निरापदता पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि 'छाया'-युगीन काव्य का मूल यथार्थ की धरती, और शिखर आदर्श के आकाश में स्थित है। धरती से मूल-रस लेकर आकाश में फैलने वाले अश्वत्थ की भाँति छायावादी काव्य न तो सत्य से विच्छिन्न है और न कल्पना से निरपेक्ष। सत्य और यथार्थ के मूल उपादनों को कल्पना और भावुकता ने संवार कर आदर्श का आसन दिया है। छायावादी कवि अधिक बौद्धिक खण्डन-मण्डन और तार्किक विवेचन में न पड़कर अपने तथ्य को भाव, कल्पना और साधना के सहारे आकर्षक बनाता है। अपनी नवीन स्थापनाओं के लिए उनका पथ बौद्धिकीकरण और तर्क का नहीं, कल्पना और भावुकता के कलात्मक विधान का है।

'सुन्दर' के साथ जीवन के 'सत्य' और 'शिव' के रचनात्मक समन्वय, परिष्कृत प्रेम की स्थापना, नारी के परिपूरक व्यक्तित्व के उदार उद्घाटन, मानव और प्रकृति के बीच निकट भावात्मक सम्बन्ध, तथा दैवी आदर्शों और अलौकिकता

के स्थान पर मानववादी स्थापनाओं को प्रतिष्ठित करने के साथ करुणा और पीड़ा को आवश्यक जीवन-मूल्य मानकर इन कवियों ने, उस नयी परिस्थिति और पाश्चात्य भौतिकतावाद की झकझोरती आँधी में उखड़ते हुए भारतीय जीवन-चरण को आस्था की सुदृढ़ नींव और विकास का व्यवस्थित आधार दिया है। पुरानी व्यवस्था की कीलें हिल रही थीं, रूढ़ मान्यताओं की सार्थकता सन्दिग्ध हो रही थी और आदर्श तथा यथार्थ एवं सत्य तथा कल्पना के बीच दरारें पड़ गयी थीं। आस्था और आचरण तथा मान्यता और व्यवहार की दूरी बढ़ती जा रही थी। भूत-वाद के कठोर प्रहार से आस्तिकता श्रद्धा से उतर कर संस्कारों में सिमट चली थी। अतीत और वर्तमान के बीच की दूरी जब-जब दुर्लंघ्य हुई है, आदर्श और यथार्थ परस्पर जब-जब अपरिचित होने लगे हैं, अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् के बीच जब-जब तनाव बढ़े हैं, जीवन-रागी आत्माओं ने अपनी मूल्यवती सवेदनाओं, अभाव-पूरक स्वर्ण-कल्पनाओं और नवीन मान-दृष्टियों से इस अन्तराय को भरा है। एक विशिष्ट और बीती परिस्थिति में गठित जीवन-व्यवस्था के मूल्य, जब-जब प्रगतिशील और जड़ होकर असतुलन और वैषम्य की सृष्टि करने लगते हैं, सहित्य का इतिहास साक्षी है कि जीवन-शक्ति के नवीन अभिषेक्ताओं ने सदैव नयी भाव-कल्पना की अक्षत-रोली से 'राग-वादी' साहित्य का अर्चन किया है। समाज-व्यवस्था से जब-जब व्यक्ति का सन्तुलन ध्वस्त होने लगा है, जीवन के नये सौन्दर्य-शिल्पियों ने 'सत्य' और 'शिव' को 'प्रेय-वाद' की वीणा से विमुग्ध किया है। समष्टि-समवाय के बौद्धिक तन्तु जब-जब बिखर कर उलझने लगते हैं, 'भाव-योगी' कवि मानवता के उदात्त उपादानों को अपनी आस्थाओं के ताप से पिघलाकर मानों की एक नई चाशनी उतारते हैं। इन छाया-युगीन कवियों के समक्ष कुछ, ऐसी ही विषम परिस्थिति, कुछ ऐसा ही कसकने वाला असन्तुलन उपस्थित था। इनकी साहसिकता, भावुकता, कल्पना-शीलता और आदर्श-वादिता के काव्य-गत तत्त्वों का यही मर्म है, और इस खाई और दरार को भरने-पारकरने की प्रक्रिया में प्राप्त चोटें और व्यथाएँ, निराशा और आँसू, उनके 'कलाकार' के मानव का 'वेदना-वाद' है। ये कवि-कलाकार राजनीतिक आन्दोलन-कर्त्ता और प्रत्यक्ष सुधार-उपदेशक नहीं हैं, इनके पास एक सवेदन-शील, प्रेम स्वप्न का प्यासा निश्छल मानव-हृदय है। इस हृदय पर इन्होंने समाज और जीवन के आघात सहे हैं और उन आघातों को अपनी वाणी मे उसी प्रकार मुखरित करने का प्रयास किया है जैसे दीपक अपने अन्तस्ताप से प्रकाश विकीर्ण कर जगत् को स्नेह का ज्योति-दान देता है। उनकी आँसू-धुली मुसकान और पीडा-धवल हासों का यही मर्म है। इसे ही

ये कवि काव्य—'साधना' का नाम देते हैं। अभी पिछले दिनों 'आलोचना'-संपादक श्री विजय देव नारायण साही ने पूना की 'राष्ट्र-वाणी' में 'साधना' शब्द के प्रयोग पर आपत्ति की है और इसे पूर्व पीढ़ी का अन्तर्विरोध माना है। परिपाटी-गत पारिवारिक बन्धनों को निबाहते, अथवा चिर-कुमार रहकर समाज के विकृत सम्बन्धों और मूल्यों की आँच और विष को पीते हुए भी, इन काव्य-कला-साधकों ने जिस सत्यता और मर्यादा के साथ नवीन ज्योतियों को पूजित बनाने का प्रयास किया है, वह शब्द, अर्थ और उनके 'साहित्य' की भूमि पर 'साधना' से निम्न-स्थानीय नहीं। बद्ध परिपाटी और रूढ़ जीवन-दृष्टि को छोड़कर, स्वतंत्र अनुभूति और नये मूल्यों को लेकर चलने वाले नवीन सन्तुलन के खोजी के लिए कल्पना और आवेग अनिवार्य हो उठते हैं। इस युग की सबसे बड़ी प्राणवत्ता है मानव में विश्वास, जीवन में आस्था। सारी नवीनता इसी पर टिकी है। बड़ा आश्चर्य होता है कि इस तनाव और सक्षोभ की स्थिति से जाते हुए भी, इन कवियों ने नवीन सामाजिक अर्थवत्ता और विगर्हित मानव-मूल्यों को कितनी कला के साथ उभारा है! जीवन के नवीन परिपार्श्व, और नयी वस्तु के साथ नवीन भाव-सन्तुलन स्थापित करना, फिर उन भाव-मूल्यों को नवीन शब्दावली के माध्यम से नवीन अभिव्यक्ति प्रदान करना कितना जटिल कार्य था! भाव और भाषा तथा वस्तु और रूप के इस नये जादू को सोचकर फारसी की निम्नलिखित पंक्तियाँ याद आती हैं—

'बराय पाकिये लफ्जे शबे बरोज़ आरद,
मुर्गोमाही हमः खुफ्तः अन्द व ऊ बेदार।'

'कवि-कलाकार एक शब्द की पवित्रता के लिए रात को दिन कर देता है। चिड़ियाँ और मछलियाँ (मुर्गो-माही) सब (हमः) सोते हैं (खुफ्तः अन्द) और (व) वह (ऊ) जागता रहता है।' समाज में छाये हुए विषाद से ये कवि भी शरीर और मन से पूर्ण मुक्त कैसे हो सकते थे! उनके काव्य में आये विषाद के मधुर स्वर और निराशा का कारण चाहे सामाजिक परिपार्श्व और आर्थिक वातावरण में व्यक्ति के पेषण की चेतना रही हो, चाहे उनका प्रेम-गत नैराश्य और खिन्नता, पर इन कला-साधकों ने अपनी आन्तरिक सत्यता, आनुभूतिक तीव्रता और कला-सौन्दर्य की मीठी चाशनी से उन सब को हृदय-सम्प्रेष्य और भाव-गम्य बनाया है। व्यक्तिगत अनुभूतियों को भी इन लोगों ने इतनी सामाजिक सार्थकता दे दी कि बहुत अंशों में विष अमृत बन गया, दुर्बलता शोभा और पीड़ा-व्यथा मानवता के तरल आभूषण एवं आत्मा के मधुर वरदान-से लगने लगे। इनकी दुर्बलता और सबलता, सब पर एक उदार एवं शिष्ट मानव-वाद

का झलमलाता हुआ प्रकाश है। इनमें मानव के प्रति बड़ी सहानुभूति, उसकी प्यासों के प्रति एक स्नेह-पूर्ण स्वीकृति-भाव तथा उसकी महती सम्भावनाओं के प्रति अडिग आस्था है। क्षीण और दीन-हीन मानव के प्रति उनमें 'श्रद्धा' से कम समवेदना नहीं है—

"तपस्वी! क्यों हो इतने क्लान्त?
वेदना का यह कैसा वेग?
आह! तुम कितने अधिक हताश
बताओ यह कैसा उद्वेग?
हृदय में क्या है नहीं अधीर
लालसा जीवन की निश्शेष?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग
तुम्हें, मन में धर सुन्दर वेश!"

['श्रद्धा']

मानव की वेदना, उसकी क्लान्ति और निश्शेष जीवन-लालसा की वंचना पर उनका हृदय अत्यन्त दूयमान हो उठता है। मानव-हृदय के तरल आकाक्षाओं से भरे आशा के आह्लाद के प्रति उनमें बड़ी सहानुभूति थी—

"तप नहीं केवल जीवन-सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद,
तरल आकाक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद!"

['वही']

पुरातनता के निर्मोक के प्रति अनुचित मोह को छुड़ाकर वे परिवर्त्तन के साथ उन्हें नित्य नूतन आनन्द लेने का सन्देश भी देते हैं। पुराने देव-दैव-वाद के छिन्न-भिन्न उपकरणों पर वे मानव-सत्ता की श्री खिलाने के पक्षधर थे—

"देव असफलताओं का ध्वस
प्रचुर उपकरण जुटाकर आज,
पड़ा है बन मानव-सम्पत्ति
पूर्ण हो मन का चेतन राज!"

['वही']

तरल अकाक्षा से भरा मन का यही 'चेतन राज' इनकी स्वप्न-शाला थी। 'प्रसाद' की मानव-अस्तित्व की कल्पना कितनी महान् थी—

"विधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण;
पटें सागर, बिखरें ग्रह-पुंज
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।
उन्हें चिनगारी-सदृश सदर्प
कुचलती रहे खड़ी सानंद;
आज से मानवता की कीर्ति
अनिल, भू, जल में रहे न बन्द।
जलधि के फूटें कितने उत्स
द्वीप कच्छप डूबे उतराय;
किन्तु वह खड़ी रहे दृढ़ मूर्ति
अभ्युदय का कर रही उपाय।
विश्व की दुर्बलता बल बने,
पराजय का बढ़ता व्यापार;
हँसाता रहे उसे सविलास
शक्ति का क्रीड़ामय संचार।
शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय;
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।"
—['श्रद्धा']

'पन्त' की दृष्टि में भी जिस मानवत्व की कामना-कल्पना थी, वह देवत्व के द्वार का भिखारी निराश और संघर्ष से टूटा—थका मानव नहीं, अपने मानवत्व में ही मूल्यवान् और सर्व-क्षम है। उस मानव के रूप-रंग, अस्थि-रक्त, आशा-आकांक्षा, सभी के प्रति उनकी मधुर लालसा बँधी हुई है—

"यौवन-ज्वाला से वेष्टित तन
मृदु त्वच, सौन्दर्य-प्ररोह अङ्ग।
× × ×
प्रभु का अनन्त वरदान तुम्हें,
उपभोग करो प्रति क्षण नव-नव
क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में
यदि बने रह सको तुम मानव।" ['युग-पथ']

महादेवी भी अपने उसी व्यक्तित्व से देवताओं के पीड़ा पाल सकने की क्षमता को चुनौती देती हैं और अपने मरने-मिटने के अधिकार और अहं को नहीं खोना चाहतीं—

"मेरी लघुता पर आती जो देव लोक को व्रीड़ा,
उनके प्राणों से पूछो क्या पाल सकेंगे पीड़ा ?"

× × ×

"क्या अमरों का लोक मिलेगा, तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव ! अरे यह मेरा मिटने का अधिकार ।"

—['नीहार']

शास्त्र की दृष्टि से 'शृंगार' कहिए अथवा व्यावहारिक रूप में 'प्रेम', 'द्विवेदी-युग' में वह 'रीति-काल' और 'व्रजभाषा' की प्रतिक्रिया में अस्पृश्य-सा समझा जाता था। कवि इसके प्रति बड़ा सशंक भाव रखते दिखलाई पड़ते थे। अवसर आने पर भी सौन्दर्य और प्रेम से कतरा कर ये कवि कुछ आचार-सूत्रों की उद्धरिणी कर अथवा कोई उपयोगिता-वादी उपदेश देकर काम चलता करते दिखाई पड़ते हैं। छायावादी कवियों और सर्वप्रथम 'प्रसाद' जी की दृष्टि में उस युग का वह निषेधात्मक कोण अखरा। वे व्रजभाषाकाव्य की भूमि से खड़ी-बोली के क्षेत्र में उतर कर उसे परिशुद्ध, मानवोचित और स्वीकार्य रूप देने की ओर कृत-संकल्प दिखाई पड़ते हैं। 'चित्राधार' की अधिकांश कविताओं में प्रेम और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा है। 'चित्राधार' से 'कानन कुसुम' की खड़ी-बोली की रचनाओं में आने पर, वहाँ भी प्रेम और सौन्दर्य के प्रति आदर, आकांक्षा और स्वीकृति की भावना असंदिग्ध रूप में मिलती है। 'चित्राधार' की 'मानस', विदाई', 'नीरव प्रेम', विस्मृत प्रेम' आदि रचनाएँ प्रसाद की नयी दृष्टि की द्योतक है। शृंगार परिशोधित और परिमार्जित है। अनुभूतियाँ नवीन हैं। रस और मर्यादा दोनों के प्रति कवि सचेत है। सन् १९०९ से निकट ही 'प्रसाद' जी के 'प्रेम-पथिक' का कुछ अंश व्रजभाषा में 'इन्दु', कला १, किरण २ में ही निकल चुकी है। प्रेम की परिभाषा कितनी मनोवैज्ञानिक, मार्मिक एवं उस युग में कितनी नवीन थी—

"यह वह श्रम-शाला है रहे जो सून
सून रहै पै कलरव नितप्रति दून।"

सन् १९१३ में खड़ी बोली के 'प्रेम-पथिक' में 'प्रसाद' जी ने कहा था—

"इस जीवन का लक्ष्य नहीं है श्रान्त भवन मे टिक रहना।
चलना होगा उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं ॥"

प्रेम और सौन्दर्य का यह चेतना-मय दृष्टिकोण, व्रजभाषा के रीतिकालीन स्थूल शृंगार और 'द्विवेदी'-युगीन शुष्क काव्य-जाल के मध्य जीवन जगत् के प्रति एक नवीन दृष्टि कोण का परिचायक है। विश्वात्मा और विश्व-शरीर की सत्यता की अनुभूति विचारों की प्रत्यग्रता की घोषणा थी—

"स्निग्ध, शान्त, गम्भीर, महा सौन्दर्य-सुधा सागर के कण
ये सब बिखरे हैं जग में-विश्वात्मा ही सुन्दरतम है!
न्योछावर कर दो उस पर हम, मन, जीवन. सर्वस्व, नहीं
एक कामना रहे हृदय में, सब उत्सर्ग करो उस पर।"
—(वही)

प्रेम की यह उदात्त दृष्टि अपूर्व थी—

"उस सौन्दर्य-सुधा-सागर के कण हैं हम तुम दोनों ही,
मिलो उसी आनन्द-अम्बुनिधि मे मन में प्रमुदित होकर
यह जो क्षणिक वियोग, वहाँ पर नहीं फटकने पावेगा
एक सिन्धु में मिलकर अक्षय सम्मेलन होगा सुन्दर।"

प्रेमी और प्रेमिका के समक्ष शरीर-मिलन का स्थूल प्रश्न नहीं, जीवन-पथ में सरिता बनकर उस सौन्दर्य सुधा-सागर तक दौड़ चलने का प्रश्न है।

प्रेम विश्व-शासक, सर्व तत्वों का चालक और गिरि, मरु तथा सागर के हृदय का आनन्द-मय 'धार्य' है। वहाँ अस्तित्व मिटा देना सिद्धान्त है, फिर विरहानुभूति के लिए अवकाश कहाँ—

"हो जब ऐसा वियोग तो संयोग वही हो जाता है
यह संज्ञायें उड़ जाती हैं, सत्य तत्व रह जाता है।"
['प्रेम-पथिक']

सार्वभौम, विशुद्ध, आत्मिक, बलिदान-मुखी एवं पूज्यास्पद प्रेम का यह रूप इसके पूर्व 'रीति-काल' तक कहाँ था? 'भक्ति युग' का प्रेम परलोक-मुखी एवं भगवत्परक है, उसमें मानवीयता की स्थापना नहीं है। 'प्रसाद' का यह प्रेम मानव-स्तर से विकसित प्रेम है। विश्व को स्वीकृति देने का यह भाव, जो कामायनी के शैव-दर्शन में परिपुष्ट हुआ, उस युग के लिए नयी दृष्टि और नूतन चेतना थी—'प्रकृति मिला दो विश्व-प्रेम में, विश्व स्वयं ही ईश्वर है।' 'कानन-कुसुम' में सौन्दर्य की परिभाषा लक्षणीय है—

'किन्तु प्रियदर्शन स्वयं सौन्दर्य है।'
[वही, पृ० ५१]

सौन्दर्य की यह भाव-मूलक और प्रकृति में परिव्याप्त भावना पिछले युग के वस्तुवादी सौन्दर्य से कितना भिन्न और तात्विक है। 'झरना' भले ही १९२८ ई० में प्रकाशित हुआ, इसकी कविताओं का रचना-काल सन् १९१४–१७ तक ही, है। 'झरना' की 'आदेश' कविता में निठल्ली तपस्या और प्रार्थना के स्थान पर दुःखियों पर क्षण भर करुणा करने का आदेश किया गया है—'कोरी भक्ति भला किस काम की।' मानव-हृदय को ही भगवान् का पुण्य मन्दिर और उसके प्रति करुणा को भगवत्सेवा माना है। प्रेम, सौन्दर्य और सेवा के क्षेत्र में स्थूलता के स्थान पर सूक्ष्मता, प्रदर्शन के स्थान पर वास्तविकता और शारीरिकता के स्थान पर मानसिकता और आत्मिकता के उच्च सोपानों का उद्घाटन ऊँचा आदर्श है। यह आदर्श कोरी कल्पना और मन को झुठलाने के लिए नहीं हुआ है और न यह जीवन-भूमि से उच्छिन्न केवल वायवीय है। स्थूल शरीर के सौन्दर्य और मानव-सत्ता की मार्मिकता को स्वीकृति देकर उसे इस प्रकार उदात्त भूमिका दे दी गयी है कि 'द्विवेदी-युग' का कोई स्थूल-आचारवादी कवि निन्दित करने का साहस नहीं कर सकता। जगत् और जीवन के साथ मानव के भीतर निहित सौन्दर्य और आनन्द की क्षमताओं को छायावाद ने दुतकारा नहीं।

जहाँ रूप-सौन्दर्य और शृंगार के प्रसंग उठने पर वितृष्णा की नोंक-भवें चढ़ जाती थीं, वहाँ इस रूप-सुधा, सौन्दर्यामृत और प्रेम-पीयूष को कानों से पी जाते और आँखों से हृदय में उतार लेने के लिए श्रोता और पाठक उत्सुक रहने लगे। 'काम मंगल से मंडित श्रेय' बन गया, अतिरस्कार्य हो गया।

'रीति-काल' की प्रतिक्रिया में, नारी-व्यक्तित्व भी 'द्विवेदी-युग' में एक अछूत विषय-सा हो गया था। इस युग ने नारी के भीतर भी अपनी नैतिकता के आग्रह को स्थापित कर उसे आचार-वाद की पुतली बना दिया था। नर-नारी का अनेकमुख सम्बन्ध और परस्पर परिपूरक रूप जो 'रीति-काल' के स्थूल शृंगार और 'द्विवेदी-युग' के नैतिक आचार-वाद में खो गया था, छाया-कवियों ने उसे ढूँढ कर फिर से प्रतिष्ठित किया। वह सहभागिनी, सहयोगनी, सह-चारिणी, माता, बहन, देवी और प्रियतमा आदि सभी रूपों में निरूपित होकर ग्राह्य और शक्ति-रूप में स्वीकार्य हुई—

> "यह लीला जिसकी विकस चली
> वह मूल शक्ति थी प्रेम-कला
> उसका सन्देश सुनाने को
> संसृति मे आयी वह अमला।"

['काम' पृ० ८४]

अब नारी न संसार बिगाड़ने वाली माया रही और न विलास-पंक मे धँसाने वाली विलासिनी ही, वह जीवन को समतल प्रदान करने वाली और पीयूष-श्रोत बनी—

> "नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
> विश्वास रजत-नग-पद-तल में,
> पीयूष-स्रोत-सी बहा करो
> जीवन के सुन्दर समतल में ।"

['लज्जा' ११५]

'पन्त' जी ने नारी-हृदय मे स्वर्ग देखा और उसकी लहरों मे त्रिवेणी की लहरों का गान सुना, यहाँ तक कि उस शक्ति के अनुकरण में ही कवि ने लम्बे केश भी धारण कर लिये । 'निराला' जी ने नारी को समुचित महत्त्व प्रदान किया है । इस प्रकार व्यावहारिक जीवन के धरातल पर अप्रत्याज्य नारी अपनी स्वीकृति के लिए अपने सभी-रूपों में व्याख्यात हुई । नारी प्रकृति-स्वरूपा तक मानी गयी । नारी का यह आदर्शीकरण जागतिक उपयोगिता के ठोस यथार्थ से विच्छिन्न नहीं, वरन् वहीं से सम्प्रेरित और परि-शोधित हुआ है ।

दुःख, करुणा और पीडा के मूल्यों की उपयोगिता की स्वीकृति के लिए इनका भी विस्तृतीकरण और आदर्शीकरण हुआ । बौद्ध दर्शन से भी पोषण लिया गया । वियोग की महत्ता बढ़ कर जीवन-व्यापिनी हो गयी, यहाँ तक कि कवित्व का उद्गम भी वियोग और आह माने गये—

> "वियोगी होगा पहिला कवि
> आह से निकला होगा गान,
> ढुलक कर आँखों से चुप-चाप
> बही होगी कविता अनजान ।"

['पन्त', 'पल्लव']

यह प्रणय और पीडा महादेवी जी के अधिमानस पर आध्यात्मिक रहस्य बन गये । यहाँ उन्हें एक दार्शनिक पीठिका प्राप्त हो गयी है, जहाँ दूरी भी रस-मय बन जाती है । पथ का अपरिचय और प्राणों का अकेलापन भी काम्य बन जाती है ।

छायावादी काव्य की व्यापक सौन्दर्य-चेतना देखकर इसे कुछ लोग सौन्दर्य-वादी काव्य भी कहते हैं। इन कवियों ने सौन्दर्य को बड़ा ऊँचा महत्त्व दिया, इसी से कुछ आलोचकों का ऐसा मत भी सामने आया है जो इसे 'स्त्रैण' अथवा 'नारी-काव्य' की सज्ञा प्रदान करता है। 'पन्त' जी की सौन्दर्य-चेतना एक परिमार्जित कला-साधक की चेतना है। कहीं-कहीं वह स्वय अपने में ही एक पूर्णता और लक्ष्य बन गयी है। 'पन्त' के अरम्भिक काव्य में उनका सौन्दर्य-प्रेम अधिक मुखर है। 'प्रसाद' का सौन्दर्य प्रकृति में प्रसारित होकर भी नारी में रूपायित हुआ है। 'पन्त' का सौन्दर्य नारी में ही न अटकर उसके बाहर प्रकृति और सूक्ष्म मानस-सवेदनों एव आन्तरिक भाव-जगत् तक तरगायित रहता है। 'निराला' का सौन्दर्य-भाव आत्मस्थ है। उनकी आत्मा स्वय इस सौन्दर्य का मूल है जो प्रकृति पर भी प्रच्छायित और प्रतिबिम्बित होता रहता है। इतना होते हुए भी उन्होंने 'सत्य' और 'शिव' को भुलाया या तिरस्कृत नहीं किया है। ये इन तीनों में अन्तर भी नहीं मानते। इनकी दृष्टि में उच्च सौन्दर्य सत्य और शिव दोनों ही है। 'पन्त' जी का कथन है—

> "वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
> हृदय में बनता प्रणय अपार;
> लोचनों मे लावण्य अनूप
> लोक-सेवा में शिव-आधार।"

'कामायनी' में 'लज्जा' अपने को चपल सौन्दर्य की धात्र मी कहती हुई उसका निरूपण करती है—

> "मंगल कुंकुम की श्री जिसमें
> बिखरी हो ऊषा की लाली,"

× × × ×

> "हो नयनों का कल्याण बना
> आनद सुमन-सा विकसा-सा,"

× × × ×

> "जिसमें दुख-सुख मिलकर मनके
> उत्सव आनन्द मनाते हों।
> उज्ज्वल वरदान चेतना का
> सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं;

जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।"

[पृ० १०८, ९, १०]

इस प्रकार इन कवियों का सौन्दर्य कल्याण और सत्य से विरहित भावुक कल्पना के लोक का विहारी नहीं है। अपने उच्चाति-उच्च रूप में सर्वातिशायी होकर भी अपने भीतर जीवन के समस्त उन्नयनकारी सत्य और श्रेय-तत्वों को समाविष्ट किये हुए है। इस सौन्दर्य में सामान्य देह रूप मन और आत्मा के स्तर पर अनुभूत ऊँचा से ऊँचा भावित और आत्मीय सौन्दर्य-बोध समाया हुआ है। छायावादी काव्यों में नारी-रूप और उसके अगों का जो नख-शिख-वर्णन हुआ है, वह अप्रतिम है। 'प्रस्तुत' और 'अप्रस्तुत' के बीच मूर्त-अमूर्त विधानों की बहुरंगियों से सौन्दर्य-बोध के अभिनव प्रतीकों एवं चेतना-द्वारों का अपूर्व उद्घाटन हुआ है। 'कामायनी' में 'श्रद्धा' और 'इड़ा' के रूप वर्णन अनूठे और अनुपम हैं। 'पन्त' जी ने अपनी कविताओं में मित्र बालिकाओं के जो रूप-चित्र उतारे हैं, वे भी अन्तर्बाह्य सौन्दर्य की दृष्टि से अछूते हैं।

भारतीय अतीत के गौरव युगों के प्रति इन कवियों ने अभ्यर्थना और आदर के भाव व्यक्त किये हैं। भारतीय विचारधाराओं और चिन्तनों से प्रेरणा और बल भी प्राप्त किया है। किन्तु इनमें पुरातन के प्रति अन्ध-मोह नहीं है। इन लोगों ने प्राचीन के प्राण-प्रद तत्त्वों को लेकर भी, वर्तमान की यथार्थ स्थितियों और नवीन मूल्यों की उपेक्षा नहीं की। कह सकते हैं कि वर्तमान विश्व-पृष्टभूमि और प्रगति की स्थिति में अतीत का जो अंश ग्राह्य था, उसकी उपेक्षा न करते हुए इन्होंने अतीत-वर्तमान के बीच कोई खाई नहीं खोदी है। 'द्विवेदी-युग' की इतिवृत्तात्मकता और कठोर आचारिकता तथा 'रीतिकाल' की अंध स्थूलता का विरोध करते हुए भी इन लोगों ने प्रतिक्रिया में इतिहास के जीवन-प्रद सन्देशों को कभी अनसुना नहीं किया है। 'प्रसाद' जी ने शैव-दर्शन को व्यावहारिक पीठिका दी, 'निराला' जी ने अद्वैतवाद को जीवन का रस-रंग दिया, महादेवी जी ने बुद्ध की करुणा को आँखों का जल चढ़ाया। 'पन्त' जी ने नवीनता की ओर सबसे अधिक होकर भी भारतीय साधना की मूल्यवान् उपलब्धियों को कभी नहीं नकारा। 'झरना' में 'तापमय जीवन शीतल करलो' और 'लहर' में 'लघु लघु लोल' लहरों से उठने के अनुरोध में 'प्रसाद' जी के अनुष्ठान की सत्यता स्पष्ट है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावादी काव्य का उपादान जीवन का ठोस यथार्थ है, उसके विन्यास, प्रस्तवन, प्रतिष्ठापन एवं भावन में चाहे जितनी कल्पनाशीलता, भावुकता और आदर्शवादिता आयी हो। यह भावुकता और आदर्शवादिता भी परिस्थिति-सापेक्ष है। यथार्थों को आकर्षक, मान्य एवं उच्च सत्यों से जोड़ने के लिए साधन और माध्यम रूप में भावुकता और आदर्शवादिता आयी है। नये यथार्थों की प्रतिष्ठापना के लिए उसका सर्वांग भावन आवश्यक होता है। जीवन और जगत् के मौलिक तथ्यों से निकटतम सम्बद्ध रहते हैं, इसी से ये कवि कल्पनावादी, आदर्शवादी और अत्यन्त भावुक लगते हैं। इनके आदर्श, कल्पना और भावुकता का मूल यथार्थ से कभी भी परिच्छिन्न नहीं है।

छायावादी काव्य में सादृश्य-योजना

(प्रभाव-साम्य)

जीवन में सादृश्य का बड़ा महत्व है। ज्ञान-प्रक्रिया में भी 'उपमान' का कम महत्व नहीं। सामान्य ज्ञान-बोध में हम देखी गयी वस्तु से अनदेखी वस्तु की तुलना या समानता कर उसका बोध कर-करा लेते हैं। काव्य में भी सादृश्य-योजना या साम्य-विधान का कम महत्व नहीं, पर यहाँ वह साधारण ज्ञान-बोध-प्रक्रिया से आगे बढ़ कर कुछ और अतिरिक्त कार्य भी करता है। वह हमें वस्तु-बोध तो करा ही देता है, उससे भी आगे बढ़कर वर्ण्य वस्तु को वह अलंकृत अथवा मनोरम भी बना देता है। काव्य में इसी विशिष्ट सपादना के लिए सादृश्य योजना का अत्यन्त महत्व स्वीकार किया जाता रहा है। अलकारों में भी साम्य-योजना अलंकार-पद की अधिकारिणी तभी होती है, जब उससे चारुत्व की वृद्धि होती है। 'रस गंगाधर' के रचयिता ने इसी से 'सादृश्य सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालंकृतिः' कहकर सादृश्य के 'सुन्दर' और 'वाक्यार्थ' को सुशोभित करने वाले वैशिष्ट्य पर बल दिया है और सहृदय-हृदय को उसका साक्षी माना है। चारुता, चमत्कार और आनन्द के बिना सदृशता काव्योपयोगी नहीं होगी। आचार्य वामन ने भी समानता को कवि-प्रतिभात्मक और विच्छित्ति-विशेषात्मक कहकर इसी मर्म की पुष्टि की है।

सभी युगों के काव्यों की भाँति 'छाया-युग' ने भी साम्य-विधान का आश्रय लिया है। इस युग के कवियों ने उपमा का प्रचुर प्रयोग किया है। यद्यपि विरोध का भी इस युग में सुन्दर उपयोग हुआ है, पर सादृश्य की दिशा में प्रभाव-साम्य के आधार पर इतनी अधिक उक्तियाँ आयी हैं कि इस प्रकार की उपमा छायावादी काव्य-धारा की एक निजी विशेषता और प्रमुख विभेदक लक्षण बन गयी है। हिन्दी के बहुत से विद्वानों ने सादृश्य के केवल दो ही प्रकार माने हैं, एक रूप-सादृश्य और दूसरा गुण अथवा धर्म-सादृश्य। इन विचारकों ने गुण सादृश्य में ही प्रभाव-सादृश्य को भी अन्तर्भुक्त कर लिया है। सुन्दर सादृश्य-विधान के लिए उन्होंने रूप, गुण और प्रभाव तीनों की सदृशता आवश्यक बतलायी। छायावादी

कवियों ने प्रभाव-पक्ष को ही सर्वाधिक महत्व दिया है। वस्तुतः उपमा की योजना में 'प्रभाव' सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है। 'प्रभाव' के भीतर 'अप्रस्तुत' की भावानुकूलता, तदात्मता और रसात्मकता सभी समा जाती हैं। कवि द्वारा लाया गया 'अप्रस्तुत' यदि पाठक अथवा श्रोता की ज्ञानेन्द्रियों और चित्त-वृत्तियों को उसी प्रकार प्रभावित नहीं करता जिस प्रकार 'प्रस्तुत', तो कवि का प्रयास असफल है। ध्वन्यात्मक आत्म-प्रसाद, रीत्यात्मक मनः—स्फीति, वक्रोक्तिगत विच्छित्ति-विलास, अलकार-प्रसूत चमत्कृति, औचित्य-मूलक संगति और रसात्मक 'तन्मयीभवन-योग्यता' के लिए सादृश्य-योजना में प्रभाव-साम्य का होना अत्यन्त आवश्यक है। सत्य तो यह है कि रूप और गुण की समानता का लक्ष्य भी अनुकूल प्रभाव-सृष्टि ही है। कहें, तो यह भी कह सकते हैं कि रूप और गुण-साम्य साधन हैं और प्रभाव-साम्य साध्य। इसीलिए छायावादी काव्य के प्रसग में प्रभाव-साम्य को इतना अधिक महत्त्व मिला है कि कहीं-कहीं इसी साध्य के लिए उक्त साधनों की नितान्त अनपेक्षा भी हुई है अथवा वे अत्यन्त क्षीण वा अप्रत्यक्ष रूप में ग्रहण हुए हैं। कहीं कहीं तो ऐसा लगता है जैसे कवि ने रूप और गुण की समानता की पूर्णतः उपेक्षा और अवहेलना भी की है।

छायावादी कवि अन्त.-सौन्दर्यवादी अथवा सूक्ष्म-मर्म-ग्राही कलाकार है, अतएव उसने रूप की स्थूल समानता और गुण के परपरित बोध से आगे बढ़-कर वस्तुओं के सूक्ष्म प्रभावों अथच पाठकों के मन पर पड़ने वाली भाव-छायाओं से अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। अपने आन्तरिक सौन्दर्याभि-व्यंजन के अभियान में कवि स्थूल आवरणों को चीर कर वस्तुओं के भीतर प्रविष्ट हो जाता है। दूसरे शब्दो में वह वस्तु की रूप-गुण-वत्ता से न उलझ कर द्रष्टा के ऊपर पड़ी प्रभाव-छाप को ही महत्त्व प्रदान करता है। इस प्रभाव-छाप को कहीं वह प्रतीकों में निक्षिप्त करता दिखाई पड़ता है तो कहीं उपचार-वक्रता से झलकाने लगता है। कहीं यह प्रभाव-साम्य लक्षण की आड से झाँक उठता है तो कहीं विशेषण विपर्यय और ध्वन्यर्थ-व्यंजना के व्याज से कटाक्ष करता दृष्टिगत होता है। इस दिशा मे 'छाया-युगीन' कवि देश-काल की भिन्नता से आगे बढ़कर स्वभाव की भिन्नता में भी दो वस्तुओं में साम्य स्थापित कर देता है। उपमा और सादृश्य-विधान में देश-काल, पात्र, स्वभाव, उपमान की उपमेय से श्रेष्ठता आदि तत्वों को प्रमुखता देनेवाले विद्वान् छायावादी काव्य के इस प्रभाव-साम्य-मूलक औपम्य-विधान और सादृश्य-सयोजन पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं और उस पर अशास्त्रीयता का आरोप लगाते हैं।

यह सच है कि साधारण पाठक के लिये अभ्यास न रहने और अपेक्षित संस्कार के अभाव में ऐसे सादृश्य-विधान के मर्म का भावन अपेक्षाकृत कठिन होता है, किन्तु 'ध्वन्यालोक' के अनुसार (येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशात् विशदीभूते मनो-मुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते हृदय-संवाद-भाजः सहृदयाः) संस्कार-शील पाठकों के सामने यह कठिनाई कुछ भी नहीं है। सहृदय का यह लक्षण ही है कि वह काव्यानुशीलन के क्षण में अपनी वैयक्तिकता और उसके सीमित आग्रहों को भूल कर वर्णित भाव के साथ साधारण सम्बन्ध जोड़ कर तादात्म्य-लाभ करे। काव्य का रसास्वादन चैतन्य भाव-योग अथवा भाव-प्राप्ति में ही है। जो काव्य में अंकित सौन्दर्य अथवा व्यंजित भाव से एकाकार नहीं हो सकते, ऐसे पूर्वाग्रही पाठक कविता का आनन्द नहीं ले सकते और न संकेतित सौन्दर्य का साक्षात्कार कर प्रसन्नता ही पा सकते हैं।

भाव-मर्म के तन्मय साक्षात्कार और वस्तु-सौन्दर्य के अन्तःस्पर्शी दर्शन के बाद, भाव-प्रवण कवि अपनी सम्यक्-ज्ञात और सुष्ठु प्रयुक्त शब्दावली से ऐसा चित्र उपस्थित करता है कि उसके प्रत्यक्षीकृत सौन्दर्य, अनुभूत सत्य तथा उसके पाठकों के बीच के सारे व्यवधान मिट जाते हैं, दोनों ही आमने-सामने हो जाते हैं। पाठक और काव्यानुभूति के बीच इस निकटता को लाने के लिए छायावादी कवियों ने कई प्रकार के साधन अपनाये हैं। जब वस्तु का स्थूल और बाह्य प्रत्यक्ष इतना प्रमुख होता है कि उसके भीतर का सूक्ष्म सत्य छाया में पड़ने लगता है, तो वे मूर्त्त 'प्रस्तुत' के लिए अमूर्त 'अप्रस्तुत' ला खड़ा करते हैं, और जब वर्ण्य विषय का अमूर्त्त पक्ष अत्यन्त प्रबल होकर उसकी मूर्त्तिमता के मूल्यों को गौण करने लगता है तो अमूर्त 'प्रस्तुत' के लिए मूर्त्त 'अप्रस्तुत' की योजना कर देते हैं। दोनों ही दशाओं में वे अपने प्रिय सूक्ष्म अर्थ को उपेक्षित नहीं जाने देना चाहते। ऐसे साम्य-विधानों में यह सूक्ष्म अथवा आन्तरिक मर्म ही मुख्य होता है। इस मर्म को पकड़ कर चलने वाले सहृदय के लिए इन सादृश्य-योजनाओं का रसास्वाद सदैव सुलभ होता है।

इन सादृश्य-योजनाओं को और अधिक चारु और प्राण-मय बना देने वाला दूसरा तत्त्व होता है इन कवियों का व्यापक मानव-वाद, मानवीय संवेदना और मानव व्यक्तित्व का विस्तार। यह मानवीयता प्रकृति के ऊपर भी आरोपित होकर उसे नवीन अर्थों और नये भव्यतर संकेतों से सम्पन्न कर देती है। प्रकृति का यह स्वतन्त्र-समृद्धरूप 'आलम्बन' और 'उद्दीपन' होकर तो आता ही है, अलंकार और अलंकार्य बनकर भी निखर उठता है। जहाँ भी प्रकृति का मानवीकरण

हुआ है, अथवा वह मानव-भाव-रंजित या मानव-सापेक्ष रूप में चित्रित हुई है, साम्य-योजना का यह उच्चतर मानवीय अर्थ-युक्त पक्ष सर्वत्र दर्शनीय है।

मेरे विचार से साम्य-विधान की यह प्रक्रिया प्रयत्न-साध्य अथवा सचेत कला के कृत्रिम प्रयास के फल-स्वरूप नहीं आयी है। अन्तःसौन्दर्य और सूक्ष्म सत्य के तीव्र उन्मेष की दशा में यह व्यापार स्वाभाविक होता है। उस मर्मानुभूति की आँच में ढलकर अभिव्यक्ति का जो रूप बनता है, वह कवि की प्रतिभा से स्वयं अपने उपयुक्त साँचा पा लेता है, उसमें बहुत अधिक अध्यवसाय और बौद्धिक श्रम की अनिवार्यता नहीं होती। सत्य और सौन्दर्य-दर्शन के उस उदात्त क्षण में कवि की प्रतिभा उसकी स्मृति और वासना के संस्कार-कोष से अपने आप आवश्यक उपादान ले लेती है। कहा जा सकता है कि विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण और ध्वन्यर्थ-व्यंजना की अभिव्यक्ति-प्रणालियाँ बाह्य चेष्टा और बौद्धिक श्रम का ही परिणाम हो सकती हैं, जहाँ कविको अपने भाव-लोक से उतर कर सोचना पडता है। इस दृष्टि से छायावादी काव्य-कला सचेष्ट अथवा प्रयत्नज कला है। किन्तु यह पहले ही कहा जा चुका है कि छायावादी कवि मानव-अस्तित्व और उसकी अर्थवत्ताओं के प्रति सदैव जागरूक है। वह चाहे मानवेतर सृष्टि को 'आलम्बन'-रूप में लेता है अथवा 'उद्दीपन'-रूप या 'उपस्कर'-रूप मे, वह उसे मानवीय स्पर्श दे ही जाता है। अपने अस्तित्व और अपनी अनुभूतियों के प्रति जाग्रत छायावादी कवि या तो प्रकृति में भी अपने ही 'मानव' को देखता है अथवा उसमे ही एक मानवीयता का दर्शन करने लगता है।

छायावादी कवियों का यह चैतन्य-विलास कुछ आज की ही वस्तु नहीं है। विश्व के सभी महाकवियों ने सत्य-सौन्दर्य के मर्म-दर्शन-क्षणों मे ऐसा ही वाणी-विधान किया है। इन विशिष्ट क्षणों में वाल्मीकि और कालिदास ने भी 'अप्रस्तुत'-योजना और सादृश्य विधान करते हुए मूर्त्त-अमूर्त्त आधारों का भेद भुला दिया है। अनुभूति की श्री और भाव की तरलता मे 'रूप'-'अरूप' और 'स्थूल'-'सूक्ष्म' के परपरित मोटे विभाग टूट गये हैं और कवि समग्र शक्ति के साथ अपने कथितव्य को पकडकर अपने पाठक को सौंप देता है। फिर आलोचक चाहे उसे उपचार-वक्रता कहें, प्रतीयमानता का नाम दें, विच्छित्ति-भगी के नाम मे अभिहित करें या अन्य कोई अभिधान दें, कवि के लिए तो वह 'सत्य-शिव-सुन्दर' के साक्षात्कार और उसकी अभिव्यक्ति का अनिवार्य साधन अथच सत्य-निष्ठ कर्त्तव्य होता है।

रूप और गुण पर ध्यान देने पर इस प्रकार के साम्य-विधान के समय कवि की दृष्टि स्वभावत. ऐसे 'अप्रस्तुतों' पर जाती है, जो रूपाकार और गुणों

की समानता ला सकें। ऐसे अवसरों पर अपेक्षतया वस्तु की स्थूलतर सत्ता ही कवि दृष्टि में होती है। यद्यपि रूप-सौन्दर्य और गुण की सूक्ष्मता में उतरने पर वहाँ भी ऐसे 'अप्रस्तुत' लाने पड़ते हैं जो बाह्य रूपाकार की समानता को छोड़-कर आन्तरिक विशिष्टताओं को अपना लक्ष्य रखते हैं, किन्तु जहाँ पर सूक्ष्म मर्म की बारीक अनुभूति लक्ष्य होती है, वहाँ तो अनुभूति के प्रति सत्यनिष्ठ कलाकार सामान्य स्थूलता को छोड़ कर, सूक्ष्मता की प्रतीति-प्रीति के लिए आगे बढ़ता ही है, उसे बढ़ना ही पड़ता है।

'ऋग्वेद' के 'ऊषः-सूक्त'-कार को जब ऊषा की समानता दूध दुहते समय ऊधस्वती धेनु से करनी पड़ी होगी, तो उसके सामने स्थूल गत साम्य की भावना अवश्य ही न रही होगी। उसके सामने अवश्य ही ऊषा का वह रूप रहा होगा, जहाँ वह अपनी दुग्धोपम उज्ज्वल रश्मियों से समस्त संसार को अमृत-पय जाग्रति और शक्ति देती है। ऊषा को गाय कहने में, ऊषा के भीतर अनुभूत शक्ति-दाता और आनन्द-प्रदायक सूक्ष्म तत्त्व की व्यंजना को ही रूपायित करने का लक्ष्य निहित है—

'अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते
वक्ष उस्रेव बर्जहं।' ऋग्वेद १। ९२। ४

'वाल्मीकीय 'रामायण' के 'सुन्दर-काण्ड' में वह स्थल भी दर्शनीय और परीक्षणीय है, जहाँ हनूमान ने सीता को क्षीण महाकीर्ति, तिरस्कृता श्रद्धा, परिक्षीणा प्रज्ञा, विध्वस्ता सम्पत्ति, प्रतिहता आशा, उत्पात-काल की दीप्ता दिशा, अपहृता पूजा, राहु-ग्रस्ता पूर्णचन्द्रवाली पूर्णिमा, प्रशान्ता अग्नि-शिखा आदि की भाँति देखा था—

"सन्नामिव महाकीर्तिं श्रद्धामिव विमानिताम्।
प्रज्ञामिव परिक्षीणामाशां प्रतिहतामिव॥
आयतीमिव विध्वस्तामाज्ञां प्रतिहतामिव।
दीप्तामिव दिशं काले पूजामपहृतामिव॥
पद्मिनीमिव विध्वस्तां हतशूरां चमूमिव।
प्रभामिव तमोध्वस्तामुपक्षीणामिवापगाम्॥
वेदीमिव परामृष्टां शान्तामग्निशिखामिव।
पौर्णमासीमिव निशां राहुग्रस्तेन्दुमण्डलाम्॥"

['सुन्दर काण्ड', १९ सर्ग, ११–१४ श्लोक]

अधिकांशतः उक्त छन्दों में आये हुए 'उपमान' सूक्ष्म अथवा अमूर्त हैं। तिमिर-ग्रस्त चन्द्र-बिम्बवाली पूर्णिमा और पद्मिनी तथा नदी आदि 'अप्रस्तुत'

मूर्त्त हैं। पूर्णिमा, पद्मिनी, नदी, यज्ञवेदी, सेना और अग्नि-शिखा आदि उपमानों के स-रूप होने पर भी उनके आकारों और सीता के बाह्याकार में बहुत अन्तर है। यह साम्य-योजना अवश्य ही अन्तर्वर्ती साम्य को लेकर हुई है, अन्यथा स्थूल साम्य की दृष्टि से इसमें बहुत से अभाव निर्दिष्ट किये जा सकते हैं। वस्तुतः कवि की दृष्टि स्थूल एव बाह्य रूपाधारित साम्य पर है ही नहीं। वह तो इन उपमानों की रूपाकार-गत स्थूल विभिन्न के भीतर से अनूभूत किसी न किसी सूक्ष्म अथवा अरूप-अमूर्त्त साम्य को उभाडना चाहता है, इसीसे उसने ऐसे अप्रस्तुत जुटाये हैं। अमूर्त्त उपमानों मे तो वह सूक्ष्म आनुभूतिक समानता और भी मुखर हो उठी है, मूर्त्त उपमानों से रूप में अपेक्षतया सूक्ष्मतर होते हुए भी, अमूर्त्त उपमान उस धर्म-विशेष की सूक्ष्मता को और अधिक स्पष्टता से अभिहित कर देते हैं। सम्पत्ति, प्रज्ञा, श्रद्धा, कीर्ति, आशा, आदि उपमान तो एकदम भावात्मक और अमूर्त्त हैं। वास्तव में कवि वाल्मीकि की दृष्टि यहाँ सीता के व्यक्तित्व के स्थूल स्तरों से भीतर उतर कर उन मूलकेन्द्रभूता सवेदनाओं को सँजोकर पाठकों के सामने समूर्त्त कर रही है जो अन्तःस्थ होकर उसे सप्राण किये हुए हैं। सीता की श्रद्धा कभी भी क्षुण्ण नहीं हुई, पर फिर भी वे पति द्वारा तिरस्कृता हुई हैं। उनकी आशा को प्रतिहत भले ही किया गया है, पर उनकी वह आशा प्रतिहत होकर भी कम नहीं हुई है!! अपहृत भले ही कर दी गयी हो, पर अपने देवता पर निछावर होने की पावन योग्यता और लगन में कण-मात्र भी कमी नहीं!!! यहाँ बाहरी रूपाकार के सादृश्य की बात नहीं है, यहाँ रूप गुण से आगे इनके द्वारा द्रष्टा के मन पर डाले जाने वाले प्रभाव का महत्त्व है। यदि महाकीर्ति ही क्षीण हो जाय, श्रद्धा भी तिरस्कृता हो, आशा प्रतिहत और पूजा अपहृता हो तो यह दृश्य या घटिति अपने में कितनी प्रभाव-कारिणी होगी, इस स्थिति में द्रष्टा का मन कैसा हो जायगा, इसी को केन्द्र बनाकर यह सारा औपम्य-विधान आगे बढा है। गुण साम्य और प्रभाव-साम्य का अन्तर भी इस कोटि पर पहुँच कर स्पष्ट हो जाता है। यहाँ आशा, प्रज्ञा या श्रद्धा के निजी गुणों या धर्मों की समानता पर अवधारण न देकर, उनके उन अवस्थाओं में न होने की स्थिति से उत्पन्न प्रभाव पर बल दिया गया है।

महाकवि कालिदास, 'उपमा कालिदासस्य' के अनुसार अपनी उपमाओं के लिए विश्व-विख्यात हैं। उनका संस्कार-कोष असाधारण-रूप से सम्पन्न है। स्वाभाविकता समानता, उचित प्रसग, गाम्भीर्य, विविधता, लिंग-वचन आदि की एकता एवं रमणीयता में वे परिपूर्ण हैं। आन्तरिक अनुभूति, सौन्दर्य-

भावना की सूक्ष्मता और सत्योद्घाटन की तीव्र प्रेरणाओं ने महाकवि कालिदास को भी मूर्त्त उपमेयों के लिए अमूर्त्त उपमानों के विधान की ओर अग्रसर किया है। अश्लील तथा नग्न शृङ्गार के वर्णन के आरोप वाले कालिदास रूप से गुण और गुण से सूक्ष्मतर प्रभाव के मर्म से पूर्ण परिचित थे। वस्तुतः रूप, गुण और वस्तु द्वारा द्रष्टा के मन पर डाले गये प्रभाव में सूक्ष्मता से सूक्ष्मतरता का क्रम है। 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' में शकुन्तला का रूप-चित्रण स्थूल आधारों से आगे बढ़कर अरूप आधारों को भी अपनाता है। हमारे ज्ञान-बोध और अनुभव-चेतना की परिधि जीवन में सामान्य ऐन्द्रियता तक ही सीमित नहीं है। ऐन्द्रिय अनुभूतियों से आगे बढ़कर हम उच्चतर प्रत्ययों की भी उपलब्धि करते हैं। ये प्रत्यय (कन्सेप्ट्स) भी मानवता के जीवन-अंग बनते रहते हैं। समाज में उनके दैनन्दिन प्रयोगाभ्यास से हम उनके द्वारा भी संस्पृष्ट और सम्पृक्त होते हैं। ये प्रत्यय हमारे सांसारिक सामान्य अनुभवों पर भी आधृत होते हैं और उनकी वैयक्तिक इकाइयों से ऊपर जाकर अनेक इकाइयों के सामान्य सार पर भी निर्मित होते हैं। ये हमारी प्रेरणा को उद्बुद्ध करते और हमारे जीवन के सचालन में भी क्रियमाण होते हैं। हम साम्य-विधान को केवल स्थूल रूप गुणों तक ही नहीं सीमित कर सकते। इसलिए विश्व के सभी महान् साहित्यात्माओं ने इन स्थूल प्रतिबन्धों से आगे बढ़कर सूक्ष्म समानताओं को अपनाया है। काव्य की अभिव्यक्ति जीवन की ही भाँति, ऐन्द्रिय जगत् से लेकर सूक्ष्म प्रत्यय-जगत् तक प्रसृत है। शकुन्तला अनाघ्रात पुष्प, उँगलियों से अलून किसलय, अनाविद्ध रत्न, नवीन अनास्वादित मधु तो है ही, वह अखण्ड पुण्य का फल भी है! पुण्य तो सूक्ष्म है ही, उसका फल तो और भी सूक्ष्म होगा—

> "अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै-
> रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।
> अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
> न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः।"

कालिदास ने 'शाकुन्तलम्' में ही चंचल चित्त की उपमा चीनांशुक (रेशम) से दी है। इसी प्रकार 'रघुवंश' में वैवस्वत मनु की उपमा 'प्रणव' (ओंकार) से दी गयी है और 'मेघदूत' में कैलाश पर्वत के शिखर को शंकर का पुंजीभूत हास्य कहा गया है। रूप-सौन्दर्य के इन्द्रियेतर एवं सूक्ष्म पक्ष के प्रति भारतीय प्रतिभा, भारतीय मनीषा की भाँति ही सचेत रही है। स्वयं महात्मा तुलसीदास

जी ने जब सीता के रूप को 'छवि-गृह दीप-शिखा जनु बरई' कहा, तो उनका ध्यान भी प्रभाव-साम्य पर ही था।

छायावादी कवियो की दृष्टि भी सौन्दर्य के प्रति सूक्ष्म-मुखी थी। उन्होंने कालिदास की भाँति सौन्दर्य का मासल वर्णन भी किया है और ऐंद्रिक भी पर वे सुन्दरता के सूक्ष्म प्रकाश से अपरिचित नहीं थे। वे 'रूप' की 'अरूपता' और 'अरूप' की 'सरूपता'—दोनों से ही परिचित थे। अतएव उन्होंने मूर्त्त उपमेयों के लिए अमूर्त्त उपमान तो दिये ही, अमूर्त्त उपमेय के लिए मूर्त्त उपमान भी दिये हैं। आकार-प्रकार और देश-काल में महान् अन्तर होते हुए भी उन्होने साम्य-योजनाएँ की हैं। मूर्त 'प्रस्तुत' के लिए अमूर्त 'अप्रस्तुत' देने में उनका लक्ष्य स्थूल में छिपे सूक्ष्म अर्थ को उभाड़ना रहा है—

"चन्द्र की विश्राम-राका-बालिका-सी कान्त।
विजयिनी-सी दीखती तुम माधुरी-सी शान्त॥"

—['कामायनी'-प्रसाद]

चाँदनी और माधुरी नारी-व्यक्तित्व के सूक्ष्म पक्ष की व्यजना करती हैं। यहाँ सौन्दर्य अपने विशुद्ध रूप में व्यंजित हुआ है। वासना या काम की गध भी नहीं, फिर भी पावनता, माधुर्य आदि गुणों से युक्त होकर मनोमोहक है। इसी प्रकार 'आँसू' में 'प्रसाद' जी की पंक्ति है—

"जल उठा स्नेह दीपक-सा नवनीत-हृदय था मेरा।
अब शेष धूम रेखा से चित्रित कर रहा अँधेरा॥"

यहाँ विरह-दशा को जले दीपक की धूम-रेखा का चित्र कहना कितना व्यंजना पूर्ण और मार्मिक है। दीपक की लौ की प्रकाशित दशा और बुझी दशा की धूम्रमयता का अन्तर सयोग की सुखदता और वियोग की दु खदता के अन्तर की भाँति है। दीपक जल चुका, केवल धूम बचा। संयोग के सुखद प्रकाश से प्रेमी वियोग के अधकार में पड़ गया है। यहाँ का साम्य प्रभाव पर ही टिका है। इस मर्म को न समझने वाले बहुत से आलोचकों ने छायावादी काव्य को बौद्धिक और चिन्तन-प्रधान बताया है। उन्हें इनमें सहजता और नैसर्गिक स्फूर्ति के दर्शन नहीं होते। वे इस तथ्य को भुला देते हैं कि काव्य कवि का सहसा और त्वरित कथन ही नहीं है। रूप-गुण और प्रभाव के सूक्ष्म आयामों की अनुभूति और उसकी अपेक्षात कठिनतर अभिव्यक्ति सहज-प्रातिभ (इन्स्टिक्टिव) ही नहीं होती। उसे व्यक्त और व्यजित करने के लिए परिष्कृत लेखनी, परिमार्जित दृष्टि और व्यवस्थित योजना की आवश्यकता होती है। जो अभ्यासी और सामान्य सस्कारों के व्यक्ति की दृष्टि से चिन्तित और

बुद्धि-प्रयास-जन्य लग सकता है, वह परिशीलन—सुसंस्कारी व्यक्तियों की दृष्टि से अक्लिष्ट और अकृत्रिम लग सकता है। 'वर्ण्य' के स्तर की ऊँचाई के साथ-साथ वर्णन का उत्तरदायित्व भी बढ़ता जाता है। 'कामायनी' में श्रद्धा के रूप-वर्णन मे 'प्रसाद' जी ने सौन्दर्य के सभी स्तरों का आलोकित किया है। ऐंद्रियता से लेकर सूक्ष्म आत्म-स्तर तक कवि की दृष्टि ने विहार किया है—

"झुक चली सव्रीड़ वह सुकुमारता के भार,
लद गयी पाकर पुरुष का मर्म-मय उपचार।
गिर रहीं पलकें झुकी थी नासिका की नोक,
भ्रू-लता भी कान तक चढ़ती रही बेरोक।
स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदम्ब-सा था भरा गदगद बोल।

उपर्युक्त छन्दों में लज्जावती 'श्रद्धा' का चित्रण किया गया है। वर्णन शारीरिक और स्थूल है। लाक्षणिक भंगिमाओं से व्यापकता अवश्य आ गयी है और गौण होते हुए भी व्यंजना की झलक उस स्थूलता पर भी एक आभा फेंक देती है, पर वर्णन की कायिकता में कोई सन्देह नहीं है। इस वर्णन और रीति-कालीन वर्णन का अन्तर भी स्पष्ट है। यहाँ शारीरिकता और मांसलता होते हुए भी, अश्लीलता तो है ही नहीं, अतिरंजना द्वारा दूर की कौड़ी लाने का प्रयास भी नहीं है। लक्षणा अभिधा के सहभाव में ही नियोजित है। इसी कारण, अभिधा और लक्षणा में समञ्जस सहचार-भूमि पर रूपाकार का जो चित्र अंकित किया गया है, वह 'वर्ण्य वस्तु' और 'मूल भाव' के अस्थि-रक्त से बना है। 'प्रसाद' जी की लाक्षणिकता की यह सर्व-प्रमुख विशेषता है कि वह मूल उद्देश्य से बहुत ही कम विरहित होती है। लज्जावती नारी का एक साकार रूप आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। अनुभव अत्यन्त स्वाभाविक और सु-चीत हैं। भ्रू और पुलक के 'अप्रस्तुत' भी चित्र-विधान के साथ पूर्णतः सम-स्वर हैं। यहाँ कवि का लक्ष्य एक मूर्ति खड़ी करना है, अतः अरूप अप्रस्तुतों की योजना की ओर वह नहीं गया। चेतन के लिए जड़-जगत से लाये गये ये उपमान पूर्णतः एकीकृत और समप्रभावी हैं। कालिदास का एक चित्र भी तुलनीय हो सकता है—

"अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम्॥"

—('अभिज्ञान शाकुन्तलम्')

महाकवि ने शकुन्तला को वसन्त-कालीन पुष्पित लता की समानता दी है। अरुण अधर नवीन-रक्त किसलय हैं, भुजाएँ कोमल विटप का अनुकरण करनेवाली हैं। स्पृहणीय पुष्प की भाँति अंगों में यौवन खिल उठा है। किसी अंग को खिला पुष्प कहने में जो सौन्दर्य है, वह परपरित होने से अलंकार की प्रेरणा से नियोजित भी कहा जा सकता है, किन्तु अंगों में प्रतीयमान यौवन को प्रफुल्ल कुसुम कहना सुन्दरता की एक अद्‌भुत झाँकी उपस्थित कर देता है। निश्चय ही यह उक्ति एक आलंकारिक उक्ति नहीं है, इसके पीछे सौन्दर्य की एक आह्लादक अनुभूति है, जो ऐसे ही कवि के भाग्य में है जिस का ऐसा विश्वास है—

"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत् सुखितोऽपि जन्तु ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तर-सौहृदानि ॥"

ऐसी दृष्टि और ऐसी सौन्दर्य चेतना ऐसे ही कवि की होगी जो शैवालानुविद्ध सरसिज एवं मलिन हिमांशु में भी रम्यता और लक्ष्मी का दर्शन कर सकता है। 'प्रसाद' ने सलज्ज श्रद्धा' के गद्‌गद् बोल को खिला कदम्ब-सा पुलकित और भरा कहा है। लज्जा-स्पृष्ट वाणी की सकोचशीलता, आनन्दमयता और पुलक की सूक्ष्म मुद्रा को दृश्यमान कदम्ब-पुष्प की समानता देकर कवि ने अरूपता को सरूपता दे दी है, आन्तरिक उत्फुल्लता को मूर्त्तिमान् कर दिया है। निम्नस्थ पक्तियों में सौन्दर्य की सूक्ष्मानुभूति सहृदय-सवेद्य है। उसमें तीव्रता के साथ-साथ विशदता का अभाव नहीं है। उपमेय ठोस और उपमान अशरीरी है पर कोमलता, कृशांगिता और समर्पणशीलता की सूक्ष्मानुभूति विशद रूप से प्रतीयमान है—

"धूम-लतिका-सी गगन-तरु पर न चढ़ती दीन।
दबी शिशिर-निशीथ से ज्यों ओस-भार नवीन ॥"

('कामायनी'—'लज्जा')

शिशिर ऋतु को अर्धरात्रि में आकाश की ओर बढ़ने के प्रयत्न में ओस से दबकर नमित हो जाने वाली धूम-लता के समान दीन-सी दिखलायी पड़ने वाली 'श्रद्धा' का रूप कितना मर्म-मधुर और भाव-सजीव है।

'पन्त' जी ने सजल-साकार जल की एक बूँद की समानता के लिए सुकुमारता, गान, चाह आदि कई अरूप, भावात्मक 'अप्रस्तुत' प्रस्तुत किये हैं—

"जब अचानक अनिल की छवि में पला
एक जल कण, जलद-शिशु सा, पलक पर
आ पड़ा सुकुमारता-सा, गान-सा,
चाह सा, सुधि-सा, सगुन-सा, स्वप्न-सा।"

['ग्रन्थि']

यहाँ सुकुमारता, सुधि और सगुन मे कोई प्रत्यक्ष अर्थ-सङ्केत भले ही किया गया हो, पर स्वप्न, चाह और गान उस प्रसग मे प्रत्यक्ष अर्थ न देकर भी, बुन्द-निपात के सौन्दर्य और उसमे उत्पन्न सुखानुभूति की व्यंजना के लिए स्वप्न-सी मधुर-काम्यता, चाह-सी सहज प्रियता और गान-सी संगीत-मय मोहकता अपना निश्चित मूल्य रखती है। यह साम्य निश्चय ही अन्तः साम्य है, प्रभावगत साम्य है। इसी अन्तः साम्य को ध्यान में रखते हुए आनन्द-वर्धन ने कहा था—

"भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्ट सुकविः काव्य-स्वतंत्रतया॥"

'श्रद्धा' का शरीर-सौन्दर्य बड़ा ही मनोमुग्धकारी और भावाकर्षक है। 'प्रसाद' शरीर रूप-सौन्दर्य को जहाँ एक ओर साकार कर देने का प्रयत्न करते हैं, वहीं दूसरी ओर प्रकृति के रमणीय रूपों के सन्निकर्ष से उदात्त, परिष्कृत और शरीरोत्तर भी बना देते हैं। छायावादी युग के अप्रस्तुतों मे प्रकृति के उपकरणों से प्राप्त यह औदात्य यत्र-तत्र सर्वत्र दर्शनीय है। जड़ से चेतन की समानता देकर इन कवियों ने अतिशयोक्ति और सम्भावना-विरह (वस्तु में अप्रतीति) को जन्म नहीं दिया है, वरन् चेतन में और भी चेतनता जगा दी है, मासलता में सूक्ष्म सौन्दर्य का प्रकाश जगमगा उठा है—

"नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अङ्ग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ वन बीच गुलाबी रंग।
× × ×
घिर रहे थे घुँघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास,
नील घन शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।"

['कामायनी'—'श्रद्धा']

नीले परिधान से झाँकते अधखुले अंग की समानता मेघ-बन-बीच खिले गुलाबी रंग के बिजली के फूल से दी गयी है ! यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। साम्य-विधान में छायावादी काव्य-दृष्टि संश्लिष्ट योजना की ओर अधिक है। 'रीति'-कालीन काव्य में साम्य-विधान विश्लिष्ट है। वे रूप और गुण में किसी एक को उसके एक ही पक्ष में ग्रहण करते हैं। वर्ण-समानता होती है तो धर्म-साम्य को वे भूल जाते हैं, धर्म साम्य के अवसर पर रूप-साम्य को। छायावादी कवि साम्य योजना के समय समग्र प्रभाव (टोटल इम्प्रेशन) को दृष्टि से ओझल नहीं होने देता। इसके कारण जहाँ एक ओर रूप-धर्म और आकार का उत्कर्ष होता है, वहाँ प्रभाव की गहराई भी बढ जाती है। इससे रूप 'जौहरी की दूकान' न बनकर एक सजीव प्रभाव के रूप में ग्रहीत होता है। उसका प्रभाव इन्द्रिय-विशेष की परिधि में ही न सीमित रहकर पंच-ज्ञानेन्द्रियों से भी आगे हृदयावर्जन के विन्दु तक बढता जाता है। मेघ में ऐसी विजली जो वन में फूल की भाँति खिली हो! यह चित्र ही अपने में कितना मनोहर और उडा ले जाने वाला है !! पाठक जब इन सबका भावन कर चुकता है, तब 'श्रद्धा' के अधखुले अंग के रूप की ओर बढता है। कल्पनातीत यह सारा प्रकाश एक विन्दु पर केन्द्रीभूत हो उठता है, कवि की सहजानुभूति सचित्र हो उठती है ! प्रभाव-समग्रता पर दृष्टि रहने से ही, कवि प्रकृति में दैनन्दिन प्राप्त रूप-साँचों में अपने अनुभव को नहीं ढालता, वह अपने अनुभूत रूप के लिए प्रकृति-रूप-व्यापारों के साँचों को विशेषणों, क्रियाओं और भाववाचक संज्ञा के योग से बढाता घटाता चलता है। ऐसे अवसरों पर प्रकृति की अनुकृति लक्ष्य नहीं होती, अनुभूति को स्पष्ट रूप में प्रत्यक्ष करने के लिए प्रकृति ही अपने संशोधित रूपों में अनुगमन करने का प्रयास करती दिखलाई पडती है। ऐसी ही स्थिति में मेघ के बन कहे जाते हैं और बिजली के फूलों की कल्पना की जाती है। यहाँ कला अनुकारिणी नहीं, मौलिक योजिका होती है। घनों के शावक चाहे न होते हों, पर केशों की समानता के लिए उन्हें लघुकाय शावक बनना पडता है। इस स्थल पर चन्द्रमा का परंपरित मुख-साम्य भी नया जीवन पा गया है ! रूप का बहिरंग तो आ गया, पर अन्तरंग को तूलिकार्पित करने की समस्या थी। 'श्रद्धा' के मुग्धात्व सलज्जता, अभिनवता, प्रत्यग्रता (नूतनता, ताजापन), मधुरता, निष्कलुषता और प्रकाशमयिता को लक्षित करने के लिए ही उषा की पहली कान्त लेखा आयी है—

"उषा की पहली लेखा कान्त
माधुरी से भींगी भर मोद,
मद-भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक-द्युति की गोद।"

[वही–'श्रद्धा']

आन्तरिक चित्रण की प्रत्यक्षता के सामने कवि ने स्थूल और सूक्ष्म के भेद का तिरोभाव कर दिया। 'वासना-सर्ग' में वही 'श्रद्धा' वाल्मीकि की सीता के पृष्ठोक्त चित्रण की भाँति सूक्ष्म शरीरिणी हो जाती है—

"कौन हो तुम विश्व-माया-कुहक-सी साकार,
प्राण-सत्ता के मनोहर भेद-सी सुकुमार।"

यहाँ शरीर-साम्य नहीं, अन्तःस्थ सूक्ष्म चेतना का साम्य है। मनु को 'श्रद्धा' अपनी प्राण-सत्ता के सुकुमार भेद-सी लग रही है। मनु उसे पूर्णतः जानते तो नहीं; अतः वह 'भेद' है; पर उसकी प्राण-मोहकता में तो मनु को कोई भी सन्देह नहीं है, अतः वह प्राणस्थ कही गयी है। मनु को लगता है वह इस विश्व की माया का साकार कुहक ही न हो, जो उसे सशरीर मोहने आयी हो! ये उपमान अतीन्द्रिय भले हों पर काव्य और जीवन स्थूलता से लेकर अपनी सूक्ष्मता के बृहद्विस्तार में सर्वत्र इन्द्रिय ग्राह्य ही तो नहीं और न रूप-सौन्दर्य ही ऐन्द्रियता-परिसीम है। छायावादी काव्य के ये सफल सूक्ष्म साम्य-विधान स्थूल से भी अधिक चित्रात्मकता लानेवाले हैं। कागज पर स्थूल का भले ही सूक्ष्म चित्र न बन सके, पर सहृदय के भाव संवादी हृदय-फलक पर ये सूक्ष्म प्रत्यय (कन्सेप्ट्स) भी चिरकालीन मन-साहचर्य के बल से जो प्रतिक्रिया जगाते हैं, वह चित्र से कम रंगीन, चाक्षुष और प्रभावकारी नहीं। माना, इनमें मानसिक प्रयास और बौद्धिक चेष्टा की अपेक्षा है, पर संस्कार-शील के लिए यह प्रक्रिया सहज, और बहुत अंशों में अयत्नविहित या अप्रयत्नसाध्य होती है। कल्पना को 'बुद्धि'-प्रक्रिया से सम्बद्ध कर समस्त छायावादी काव्य को बौद्धिक प्रयास कह देने से काम न चलेगा। कल्पना के इस कमनीय छोर को छोड़कर काव्य चल भी नहीं सकेगा। जैसे जीवन-जगत् में सत्य के सूक्ष्मतर मर्मों को समझने के लिए ऊर्ध्व मन और ऊर्ध्व दृष्टि की आवश्यकता पड़ती है, वैसे ही काव्यान्तर्गत सूक्ष्म सत्यों की अनुभूति, रमण और आस्वादन के लिए भी अवसर के अनुसार सूक्ष्म दृष्टि और अधिक ग्रहण-शील हृदय की आवश्यकता बनी रहेगी। काव्य-जगत् का 'प्रजातन्त्र' उभयपक्षीय और 'साम्यवाद' एक ऊँचे स्तर पर ही सम्भव होगा। छायावादी काव्य में सामान्य आकारों की निर्मात्री बुद्धि

क्षीण होकर कल्पना को अपना ध्वज दे देती है जो एक अपेक्षतया उच्चतर भूमि पर हृदय का परिपोषण और सन्नयन किया करती है। साम्य-योजना में छायावादी कवियों ने अलंकारों से परहेज नहीं किया, पर अलकारों की शास्त्रीयता के पीछे उन्होंने भावों को जकड़ने का प्रयास नहीं किया है। इसीलिए उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकार और उनके वाचक शब्द सहजतया आते-बदलते रहते हैं—

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास-रजत-नग-पद्-तलमें,
पीयूष-स्रोत-सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल मे।"

—['कामायनी'-'लज्जा']

ऊपर नारी का श्रद्धा के साथ रूपक है, द्वितीय पक्ति भी रूपक में ही अभिव्यक्त है। तीसरी पक्ति में 'सी' वाचक से उपमा है, चतुर्थ में विभक्ति-युक्त रूपक है। नारी केवल श्रद्धा नहीं है, और भी वृत्तियाँ उसके व्यक्तित्व में सचरित होती हैं, पर यहाँ नारी को श्रद्धा-स्वरूपा कहकर नारी के सर्वश्रेष्ठ गुण को उभारा गया है। विश्वास को रजत-पर्वत कहा गया है। श्रद्धा विश्वास से उद्भूत होकर अमृत-धार की भाँति जीवन की विषमता को सम बनाती चलती है। अपने सुधा-मय सस्पर्श से जीवन में प्राणोत्साह को प्रणोदित करने वाली क्रिया-मुखी नारी सचमुच एक शीतल प्रेरणा-स्रोत है। छायावादी काव्य-धारा में 'वस्तु' और 'प्रस्तुत' को उदात्त बनाने अथवा रँगने का चाहे जितना प्रयास किया गया हो, पर उस परिष्कृत-उदात्तीकृत रूप को भी सचित्रता देने की दृष्टि सदैव प्रमुख रही है। इसीलिए आलकारिक योजनाओं में भी एक सश्लिष्ट चित्र बाँधने का प्रयास किया गया है। इन चित्रों मे एक वातावरण को ही सजीव करने का यत्न है। इस समग्र प्रक्रिया का अन्तिम कार्य वही प्रभाव-सृष्टि रह जाता है। ऐसे स्थलों पर कभी कभी भावाभिव्यक्ति में कवि इतना डूब जाता है कि 'प्रस्तुत'-'अप्रस्तुत'-पक्षों की विद्यमानता की अनिवार्यता को भी वह छोड चलता है। निम्नस्थ पंक्तियों में एक सधि-पत्र का चित्र प्रमुख है, पर उसमें स्मिति रूपी स्याही की खानापूरी नहीं हुई है और न सधि-पत्र के उपमेय का स्पष्ट कथन ही है। यह सधि-पत्र वस्तुत. मनु और 'श्रद्धा' के बीच भाव-सम्बन्ध का है—

"आँसू से भींगे अञ्चल पर
मन का सब कुछ रखना होगा।
तुमको अपनी स्मिति-रेखा से
यह संधि-पत्र लिखना होगा।"

यहाँ व्यापार-साम्य है और उपमान-पक्ष को इतनी व्यापक विशदता दे दी गयी है कि उपमेय-पक्ष स्वयं स्पष्ट हो जाता है। छायावादी काव्य में यह साम्य बहुत आया है। उपमान स्वयं इतना व्याख्यात हो जाता है कि उसके भीतर से उपमेय भी झलक उठता है। मुख्य साम्य के अगल-बगल उपमान के अवान्तर अंग हैं, जो स्वयं परिस्फुट होकर प्रस्तुत को परिस्फुटता प्रदान कर देते हैं। पाठक अपनी संवेदना से संकेत का मर्म समझ जाता है। उपर्युक्त पंक्तियों में संधि-पत्र के विशद विस्तार ने उसके उपमेय-पक्ष अथवा प्रस्तुत अर्थ को सजा दिया है। निम्न पंक्तियों मे भी 'प्रस्तुत' मुख के पश्चात् 'अप्रस्तुत' का ही विस्तार है, जिनमें केशों के बीच से 'श्रद्धा' के मुख की शोभा अपने आप सचित्र हो जाती है—

"आह! वह मुख पश्चिम के व्योम
बीच जब घिरते हों घनश्याम,
अरुण रवि मंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छवि-धाम।"—['कामायनी']

'निराला' की 'जुही की कली' कविता में इसी पद्धति का विलम्बित रूप अपनाया गया है। वहाँ 'प्रस्तुत' जुही की कली का 'अप्रस्तुत' नारी-रूप ही विशदता से व्याख्यात हुआ है और उसके भीतर से जुही की कली की समस्त मुद्राएँ अभिव्यक्त की गयी हैं—

"विजन वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी स्नेह-स्वप्न मग्न
अमल कोमल तनु तरुणी जुही की कली
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में..."
['परिमल']

महादेवी जी का प्रसिद्ध गीत 'मैं नीर-भरी दुख की बदली' इसी रीति के अन्तर्गत है। 'मैं' को बदली कहने के बाद कहीं-कहीं 'क्षितिज-भृकुटि' जैसे पद भले ही 'प्रस्तुत'-'अप्रस्तुत' दोनों ही पक्षों को अभिहित कर दें, पर पूरा गीत बदली की स्थितियों को लेकर ही चला है—

"विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना, इतिहास यही
उमडी थी कल मिट आज चली।"

'पन्त' की 'बादल' कविता का यह अश भी 'अप्रस्तुत' दमयन्ती के चित्रण के माध्यम से बादल की स्थिति को द्योतित करता है—

"दमयन्ती-सी कुमुद-कला के
रजत करों से फिर अभिराम
स्वर्ण हंस-से हम मृदुध्वनिकर
कहते प्रिय संदेश ललाम।" —['पल्लव']

प्रश्न हो सकता है कि इन चित्रों में 'प्रस्तुत' प्रमुख है अथवा 'अप्रस्तुत', और किसका प्रभाव पाठक के मन पर अन्तत अङ्कित होता है? पौर्व संस्कारों के आलोचक कहते हैं कि यह पाश्चात्य प्रभाव है और यहाँ सौन्दर्यानुभूति से आगे बढकर रसानुभूति सम्भव नहीं, रसानुभूति तो 'प्रस्तुत' की सवेदना पर ही आधृत होती है, और यहाँ 'प्रस्तुत' स्वय एक विशदीकृत 'अप्रस्तुत' के प्रकाश में विलीन हो जाता है। इसके समाधान के पूर्व एक प्रश्न और उठ सकता है कि क्या प्रकृति-चित्रों से रसानुभूति हो सकती है? यदि रसानुभूति को केवल चेतन, और मानव-व्यापार तक ही सीमित रखना है, तो ऐन्द्रिक चेतना से लेकर प्रमुख संवेगों (स्थायीभावों) तक ही रस-वृक्ष का मूल सीमित रहेगा, और यदि इनसे आगे चेतना के उच्चस्तरों पर भी रमने की सम्भावना को स्वीकृति देनी है तो हमें प्रकृति के रमणीय चित्रों में आत्म-विभोरता की समावना भी माननी पडेगी, अन्यथा काव्य-रस 'रीति'-कालीन काव्य की भाँति स्थूल शारीरिकता के क्षेत्र में ही जा पाएगा। अस्तु, काव्य, में 'अप्रस्तुत' में 'प्रस्तुत' के तिरोभाव और गौणत्व का प्रश्न उठाना नितान्त अमनोवैज्ञानिक है। कारण यह है कि पाठक या श्रोता 'प्रस्तुत' के बोध को अन्ततः भुला नहीं पाता। उसकी अन्तः सलिला कल्पना के सहारे उसकी रिरसा (रसेच्छा) अपना कार्य साधित किया करती है। अन्तत 'अप्रस्तुत' का समस्त गौरव-प्रकाश 'प्रस्तुत' पर ही प्रतिफलित होता है और पाठक की वृत्ति इस संश्लेषण में रस लिया करती है। कुछ आलोचकों ने इसे 'चित्र-व्यजना' भी कहा है, क्योंकि कवि 'अप्रस्तुत' के विविध उपादानों को चुनकर चित्र बनाता है और उस चित्र के माध्यम से 'प्रस्तुत' पर एक मार्मिक प्रकाश डालता है, जो इतिवृत्तात्मकता से तो मुक्त होता ही है, एक मधुर साम्य संकेत से सहृदय का अनुरजन भी करता है। एक

बात और होती है। अभिधात्मक विशेषणों अथवा संज्ञाओं के प्रयोग से अर्थ-भूमि सीमित हो जाती है, किन्तु इन चित्रों के माध्यम से जो व्यंजना होती है, वह अर्थ-छायाओं के लिए विविध द्वार भी खोल देती है—

"तुम पथ-श्रान्ता द्रुपद-सुता-सी
कौन छिपी हो अलि! अज्ञात
तुहिन-बिन्दुओं से निज गिनती
चौदह दुखद वर्ष दिन रात?"

—['पन्त'—'छाया']

छाया के लिए द्रौपदी का चित्र देकर 'पन्त' जी ने उसकी सूक्ष्म विशेषताओं के लिए प्रत्यक्ष (डाइरेक्ट) विशेषणों का प्रयोग नहीं किया है। छाया की सूक्ष्मताएँ हमें द्रौपदी की कारुणिकता से ही झाँकती हुई दिखलाई पड़ती हैं, पर उन पर एक हलका, व्यंजना का प्रकाश झिलमिलाता रहता है, जो अर्थ की रमणीयता को बढ़ाता है। इस अर्थ के विस्तार को निश्चित रेखा के घेरे में नहीं घेर सकते। 'निराला' की निम्नस्थ पंक्तियाँ भी ली जा सकती हैं—

"आँखें अलियों-सी किस मधु की गलियों में फँसी
बन्द कर पाँखें?
पी रही हैं मधु मौन?
अथवा सोई कमल-कोरकों में?
—बन्द हो रहा गुंजार!
जागो फिर एक बार।"

ऐसे स्थलों पर प्रभाव-साम्य ही लक्ष्य होता है। आँखों की समस्त अर्थवत्ता अलियों के मधुपान-चित्र से व्यंजित है। यह मर्म-संकेत न तो 'अप्रस्तुत' रूप में सीधी आलंकारिक पद्धति पर, मात्र अलि का नाम लेने से हो सकता था और न 'प्रस्तुत' 'अप्रस्तुत' की समानान्तर, अंग-प्रत्यंग पर आधारित तुलना से ही सम्भव था। रूपक का निर्वाह यह सौन्दर्य लाने में असमर्थ है। उभय पक्षों से, समानता के लिए सावयव रूपक की योजना कृत्रिम भी लगती और बुद्धि-प्रणीत भी। अलि के मधु-पान का शब्द-चित्र पढ़ते जाइए और पाठक कल्पना आँखों की मधु-लुब्धता का चित्र खींचती जायगी। यह सत्य है कि ऐसा सौन्दर्य एक निश्चित मूलगत भाव रखता हुआ भी अपने पूर्ण विस्तार में समझे जाने के लिए संस्कारी हृदय की अपेक्षा रखता है, किन्तु हृदय-संवादी पाठक जितना भी अनुभव कर पाता है, प्रसन्न ही होता है। 'वासवदत्ता' की यह उक्ति यहाँ पूर्णतः चरितार्थ होती है—

"अविदितगुणापि सत्कवि-भणितिः
कर्णेषु वमति मधु-धाराम्।
अनधिगत-परिमलापि हि
हरति दृशं मालतीमाला ॥"

—[सुबन्धु]

प्रभाव—साम्य की यह योजना गुण-क्रिया के साम्य की व्यजना तो करती ही है, रूप-रग के माध्यम से प्रभाव की समानता में भी नियोजित होती है। महादेवी वर्मा और 'पन्त' जी में रंगों की ऐसी योजना बहुत से स्थलों पर दिखलाई पडती है। छायावादी काव्य में 'नीलम', 'रजत', 'स्वर्ण', 'प्रबाल', 'मरकत' 'हीरक', आदि रगों वाले पदार्थों (सज्ञाओं) को विशेषणों के रूप में प्रयोग करने की सामान्यता भी वर्ण-साम्य के भीतर से प्रभाव-साम्य का भाव रखती है। 'पन्त' की निम्न पंक्ति में रग की बाहरी समानता है—

"मंजु छाया के विपिन में पूर्णिमा
सजल पत्रों से टपकती है जहाँ,
विचरती हो वेश प्रतिपल बदलकर
सुधर मोती-से पदों से ओस के।"

—['ग्रन्थि']

किन्तु 'पन्त' जी की 'पल्लव' की 'बालापन' रचना में भी 'इन्द्र-चाप-सा वह बचपन', 'स्वर्ण गगन-सा', 'एक ज्योति से आलिंगित जग का परिचय', 'इन्दु विचुम्बित बाल-जलद सा'—आदि पंक्तियाँ रंगों के माध्यम से (प्रभाव-साम्य) आन्तरिक साम्य का विधान करती हैं। नहीं तो, बचपन में इन्द्रधनु से सात रग नहीं खिचे होते और न तो बालापन एवं इन्दु-चुम्बित जलद में ही बाहरी वर्ण-साम्य है। इनका अर्थ इन्द्रधनुष की भाँति आकर्षक स्वप्नों वाला अथवा कुतूहल-मय और उज्ज्वल भावनाओं के प्रकाश से जगमगाने वाला ही हो सकता है। ये अर्थ प्रभाव-साम्य पर ही निकाले जा सकेंगे।

महादेवी में भी रंगों वाले पदार्थों का उपयोग वर्ण साम्य और प्रभाव-साम्य, दोनों के लिए हुआ है। निम्नस्थ पक्तियों में कवयित्री ने 'जुगुनू' और 'सुनहले आँसू' की समानता रंग के लिए तो की ही है, करुणा की एक हल्की प्रभाव-छाया भी उद्दिष्ट है—

"बिखर जाती जुगुनुओं की पाँति भी
जब सुनहले आँसुओं के हार-सी।"

—[महादेवी–'रश्मि']

एक बात तो मान ही लेनी होगी कि वैसे, प्रभाव तो प्रत्येक वस्तु का कुछ न कुछ पडता ही है, पर जहाँ वह प्रभाव अवधारित और विशिष्ट रूप से संकेतित हो, वहाँ उसकी प्रमुखता माननी होगी। करुणा-कवयित्री महादेवी के उक्त साम्य में इसी से प्रभाव की बात उठायी गयी है। निम्नस्थ पंक्ति में प्रभाव की अपेक्षा वर्ण-साम्य प्रमुख है—

"इन कनक-रश्मियों में अथाह
लेता हिलोर तम-सिंधु जाग;
बनती प्रवाल का मृदुल कूल जो क्षितिज-रेख थी कुहर-म्लान।"

('नीरजा')

निम्न पंक्तियों में केवल प्रभाव-साम्य है—

"तड़ित है उपहार तेरा
बादलों सा प्यार मेरा"

('दीपशिखा')

'पन्त' ने निम्नस्थ पंक्तियों में वर्ण-साम्य को ही लक्ष्य रखा है—

"यहाँ तो झरते निर्झर
स्वर्ण किरणों के निर्झर
स्वर्ण सुषमा के निर्झर!"

—['स्वर्ण-धूलि']

× × ×

"कनक छाया में जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार…"

—['मौन निमंत्रण' कविता]

× × ×

"अरुण अधरों का पल्लव-प्रात
मोतियों-सा हिलता हिम-हास,"

['गुञ्जन'-'भावी पत्नी के प्रति']

छायावादी काव्य-धारा में हिन्दी-कविता, 'रीतिकालीन' विषय-सङ्कोच और 'द्विवेदीयुगीन' अतिनीतिवादी स्वनाटोर से आगे बढ़कर जीवन और प्रकृति-विस्तार में फैल गयी है। 'रीतिकाल' में 'अप्रस्तुत' कमल, खञ्जन, शुक, दाडिम, अलि, कदली, केहरि, कोयल आदि तक ही सीमित हो गये थे। जीवन-विस्तार और उसके अनेकविध सम्बन्धों से उनका साथ ही छूट गया था। वे 'रीति'-गणित उपमान-सूची को ही दुहराते रहे। ज्योत्स्ना, वर्षा, बसन्त, नदी, कुंज, कछार

आदि अपने निजी सौन्दर्य-प्रभाव को छोड़ केवल मिलन-स्थल होने में ही अपनी उपयोगिता और 'उद्दीपन' होने में ही अपनी उपादेयता बचा पाये थे। सौन्दर्य और रूप के सूक्ष्म स्तरों और इनसे उत्पन्न मन के गहरे प्रभावों की व्यंजना भी अनुपयोगी हो चली थी। शारीरिकता और मासलता तथा उनसे उत्पन्न उत्तेजन ही उनके विषय थे। 'द्विवेदी-युग' इसकी प्रतिक्रिया में विरागी वन गया था। ऊँचे आदर्शों और नीतिमत्ता के आवेग में वह जीवन-जगत् के प्रेरणा-रस-स्रोतों से विच्छिन्न हो गया था। विशुद्धवादिता उनका स्वभाव-वैषम्य बन गयी थी और उपदेशात्मकता एक अवरुचि। इन कवियों ने शृंगारिकता की घृणा में हाव-भाव की भंगिमा तो छोड़ दी थी, पर अप्रस्तुत वे ही दुहराये जाते रहे। संस्कृत के पूर्व-मध्यकालीन कवियों अथवा वाल्मीकि आदि की भाँति प्रकृति-रूपों की प्रत्यग्रता (ताज़गी) लुप्त हो चली थी। उपदेश-वृत्ति की प्रधानता ने प्रकृति की जीवन-सहकारिता और प्रेरणा-प्रदता को भुला ही दिया था। विशाल प्रकृति-राशि से प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होने के कारण नवीन उपमानों का प्रवर्तन, कौन कहे, पुराने-घिसे अप्रस्तुतों का पुनरनुप्राणन भी न हो सका था। छायावादी कवि ने प्रकृति के साथ एक बार फिर से सम्बन्ध स्थापित किया। इस नवीन सम्बन्ध-सूत्र ने उनके नये-पुराने अप्रस्तुतों में नवीन प्राण-प्रतिष्ठा कर दी। इसी तरह जीवन के रागों के साथ उनके सम्बन्ध नवीन हो गये। छायावादी कवियों ने प्रकृति को अपने में तो स्थापित किया, उसमें अपने राग-विराग के रङ्ग भरे, उसे अपनी सहचरी तो बनाया ही, प्रकृति में भी अपने को स्थापित किया और प्रकृति के कार्य-व्यापारों में मानवीय अर्थ गूँथ दिये—

"तुम्हारी मंजुल मूर्ति निहार
लगगयी मधु के वन में ज्वाल,
खड़े किंशुक, अनार, कचनार
लालसा की लौ-से उठ लाल"

× × ×

तुम्हारी पी मुख-वास-तरंग
आज बौरे भौरे, सहकार,
चुनाती नित लवग निज अङ्ग
तन्वि, तुम-सी बनने सुकुमार।"

—['गुंजन']

यहाँ समानता को वाच्यार्थ को न सौंप कर एक वक्रता अथवा उक्ति-भंगिमा को सौंपा गया है। इतिवृत्तात्मक स्पष्टता अथवा आलंकारिक स्थूलता मसृण होकर नवीन बन गयी है।

कालिदास ने उमा को 'कुमार-सम्भव' में सीधे लतावत् न कह कर 'पर्यस्त-पुष्प-स्तवकावनम्रा सचारिणी पल्लविनी लतेव।' और 'रघुवंश' में इन्दुमती को 'सचारिणी दीप शिखेव रात्रौ' कहा। सम्पूर्ण शरीर को 'शिखा' या 'पल्लविनी' अप्रस्तुत प्रदान करना उच्चतर कला-चेतना की सृष्टि है। 'आशा' सर्ग में 'प्रसाद' जी ने मनु के लिए अरुणोदय का उपमान प्रस्तुत किया है, जो अपनी मनोहरता, सकान्तता और सुन्दरता में कितना ताजा है—

'उठे स्वस्थ मनु ज्यों उठता है
क्षितिज बीच अरुणोदय कान्त;'
["कामायनी'—'आशा']

'श्रद्धा' के रूप-वर्णन में आये 'प्रसाद' के अप्रस्तुत भी प्रकृति से परम्परागत रूप में नहीं लिये गये हैं। उपयुक्त विशेषणों द्वारा अप्रस्तुतों की शक्ति और आकर्षकता और भी बढ़ा दी गई है। ताजापन दर्शनीय है—

"और देखा वह सुन्दर दृश्य
नयन का इन्द्रजाल अभिराम।
कुसुम-वैभव मे लता समान,
चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम॥
हृदय की अनुकृति एक उदार,
एक लम्बी काया उन्मुक्त,
मधुपवन क्रीड़ित ज्यों शिशु-साल
सुशोभित हो सौरभ-संयुक्त।
× × × ×
या कि, नव इन्द्रनील लघु-शृङ्ग
फोड़कर धधक रही हो कान्त;
एक लघु ज्वाला-मुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रान्त!
× × × ×

उषा की पहली लेखा कान्त
माधुरी से भींगी भर मोद;
मद भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक-द्युति की गोद।"

['कामायनी'–'श्रद्धा']

कुसुम-वैभव में लता, चन्द्रिका से लिपटे घनश्याम, मधुवन में क्रीड़ित सौरभ-सयुक्त शिशु-साल, इन्द्रनील मणि के श्रृङ्ग को फोडकर माधवी रजनी में धधकती ज्वाला-मुखी और भोर की तारक-श्रुति की गोद में मदभरी सलज्ज उठनेवाली माधुरी-भरी मोद-मयी उषा की पहली कान्त लेखा में भावानुभूति का जीवित सचरण तो है ही, सौन्दर्य्य-चायिका दृष्टि की नूतनता भी है। पूर्वज्ञान और सूक्ष्म निरीक्षण के साथ-साथ एक भावुक प्रतिभा के बिना ऐसा सम्भव होना कठिन है। गर्भिणी 'श्रद्धा' के अप्रस्तुत भी परिलक्षणीय हैं—

"केतकी गर्भ-सा पीला मुँह
आखों में आलस-भरा स्नेह।
कुछ कृशता नई लजीली थी
कम्पित लतिका-सी लिये देह॥"

['कामायनी']

गौरता पर काली ऊनकी पट्टिका कैसी है—

"सोने की सिकता में मानों
कालिन्दी बहती भर उसास।
स्वर्गंगा में इन्दीवर की या
एक पंक्ति कर रही हास॥"

['वही']

कालिन्दी का उसास भर कर स्वर्ण-सिकता में बहना और स्वर्गंगा में नीलोत्पल की एक पंक्ति, रग की समानता के साथ-साथ सुषमा की भावना एवं निष्कलुष शृंगार-वर्णन का भाव भी लिये है।

'पन्त' जी ने केवल लहर की समानता ही नहीं दी, वरन् वाणी की समानता के लिए त्रिवेणी की लहरों के सगीत की सृष्टि की। पावनता कपन, भगिमा एवं शीतलता, सभी का सन्धान हुआ है—

"तुम्हारी वाणी मे कल्याणि,
त्रिवेणी की लहरों का गान।"

—['पन्त'-'गुजन']

शिला अत्यन्त साधारण और सहज दृष्ट वस्तु है, पर महादेवी ने साँसों में उसका भार भर कर उसे अधिक अर्थवती बना दिया है—

"बिखरती उर की तरी मे
आज तो हर साँस बनती शतशिला के भार-सी है !"
—[दीपशिखा']

प्यार की उपमा बादल मे देना भी कम अर्थ-मय नहीं है। वहाँ व्यथा की श्यामता, आँसू की सजलता, आवेग की घुमड़न, पीर की बिजली, जीवन की अस्थिरता किन्तु पर-हित साधना मे स्थिति आदि सभी संकेत अनुस्यूत हैं—

"तड़ित है उपहार तेरा
बादलों-सा प्यार मेरा ।"—
(महादेवी—'दीपशिखा')

इसी प्रकार वेदना और स्वप्न की निराकारता को जल और शतदल की साकारता देने में भी तारल्य और सौकुमार्य के साथ ही साथ पावन पूजोपहार की पवित्रता भी व्यंजित है—

"ले मिलेगा उर अचंचल,
वेदना जल, स्वप्न-शतदल।"—
(महादेवी—'दीपशिखा')

'प्रसाद' की निम्न पंक्तियों के साम्य-विधान में सूक्ष्म-निरीक्षण और ताजापन दर्शनीय है—

"धूम लतिका सी गगन तरु पर न चढती दीन ।
दबी शिशिर-निशीथ मे ज्यों ओस भार नवीन ।"—
('कामायनी')

× × ×

"लतिका घूँघट से चितवन की
वह कुसुम दुग्ध सी मधु-धारा ।"—
('कामायनी')

× × ×

"अचल हिमालय का शोभनतम
लता-कलित शुचि सानु-शरीर।
निद्रा में सुख-स्वप्न देखता
जैसे पुलकित हुआ अधीर ।"
(वही)

× × ×

"पंचभूत का भैरव मिश्रण
शंपाओं का शकल निपात,
उल्का लेकर अमरशक्तियाँ
खोज रहीं ज्यों खोया प्रात।"

(वही)

× × ×

"उषा सुनहले तीर बरसती
जयलक्ष्मी सी उदित हुई।"

(वही)

× × ×

"पुलकित कदम्ब की माला-सी
पहना देती हो अन्तर मे।
झुक जाती है मन की डाली
अपनी फल-भरता के डर में।"

(वही)

× × × ×

"विश्व कमल की मृदुल मधुकरी
रजनी तू किस कोने से
आती चूम चूम चल जाती
पढ़ी हुई किस टोने से।"

(वही)

× × × ×

"धवल मनोहर चन्द्रबिम्ब से
अंकित सुन्दर स्वच्छ निशीथ
जिसमें शीतल पवन गा रहा
पुलकित हो पावन उद्गीथ।"

(वही)

छायावादी काव्य-धारा के सादृश्यायोजन की विशेषता तब अपनी चरम सीमा पर दिखलायी पड़ती है, जब ये कवि मानसिक प्रत्ययों और भाव-वृत्तियों का चित्रण करने लगते हैं। 'प्रसाद' ने 'कामायनी' में जहाँ लज्जा, वासना, काम आदि का वर्णन किया है, वहाँ यह सादृश्य-योजना अपनी चरम सीमा को पहुँच गयी है। वर्ण-आकार, गुण-धर्म, क्रिया-प्रभाव सभी मिलकर एक ऐसे

चित्रलोक का निर्माण कर देते हैं जिसमें पहुँच कर मन प्रकाश, ध्वनि और प्रभाव की धारा में परिस्नात हो उठता है। इन वृत्तियों के अनुकूल वातावरण-सृष्टि में 'प्रसाद' जी अत्यन्त कुशल हैं। चित्रमयी भाषा, कल्पना-वैभव, प्रतीक-चयन, लाक्षणिकता, ध्वन्यर्थ-व्यंजक वर्ण-विन्यास, विशेषण-विपर्यय, अन्योक्ति-प्रणाली, मानवीकरण आदि के द्वारा एक ओर उन वृत्तियों एवं भावो के अनुकूल उद्दीपन सामग्री का सचय होता चलता है, दूसरी ओर उन वृत्तियों की मनोदशा में रंजित हो जाने वाले दृश्य भी अंकित होते चलते हैं। कहीं तद्देशीय अनुभूतियो को प्रतीकों के द्वारा व्यंजित करते चलते हैं, तो कहीं तद्दशा-गत व्यापारो को प्रकृति जगत् में अनुबिम्बित करते चलते हैं।

लज्जा का निम्न पंक्तियों में जो चित्रण हुआ है, उसमें आये अप्रस्तुतों और उनके व्यापार द्वारा अमूर्त लज्जा को जो मूर्त रूप प्रदान करने का प्रयास किया गया है, वह लज्जा-व्यापार के साथ एकलय और एकतान है। लज्जा की दशा से अपने को छिपाने, लजाने के हाव एवं भाव में सौन्दर्य के और अधिक आकर्षक एव उन्मादकारी हो जाने, क्षण-प्रतिक्षण मुखाकृति के रंग बदलने, लज्जागत अनुभावों के प्रदर्शन, आँसू आदि सात्विकों के साथ समस्त चेतना के छा जाने, शीश झुक जाने, रोमाच हो आने, और इन सबसे ऊपर एक प्रकार का सुखद लगनेवाली एवं समस्त अस्तित्व को सिहला देनेवाली अनुभूति-सवेदना का आच्छादन अत्यन्त साकेतिकता और अर्थवत्ता के साथ अंकित है। प्रकृति के क्रोड से चुने गये ये उपादान लज्जागत लघुता, सुकुमारता, कोमलता, पुलकमयता एव द्रावकता के कितने अनुकूल हैं—

"कोमल किसलय के अञ्चल में
नन्हीं कलिका-ज्यों छिपती-सी;
गोधूली के धूमिल पट में
दीपक के स्वर में दिपती-सी।
मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में
मन का उन्माद निखरता ज्यों;
सुरभित लहरों की छाया में
बुल्ले का विभव निखरता ज्यों;
वैसी ही माया में लिपटी
अधरों पर उँगली धरे हुए;
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुए।

नीरव निशीथ में लतिका-सी
तुम कौन आ रही हो बढ़ती ?
कोमल बाँहें फैलाये ही
आलिंगन का जादू पढ़ती।
किन इन्द्रजाल के फूलों से
लेकर सुहाग-कण राग भरे;
सिर नीचा कर हो गूँथ रही
माला जिससे मधु-धार ढरे ?
पुलकित कदम्ब की माला-सी
पहना देती हो अन्तर में;
झुक जाती है मन की डाली
अपनी फल-भरता के डर में।
वरदान सदृश हो डाल रही
नीली किरनों से बुना हुआ;
यह अंचल कितना हल्का-सा,
कितने सौरभ से सना हुआ।

वस्तुतः ऐसे चित्रणों को स्फुट रूप में न लेकर एक वातावरण की समग्रता में ग्रहण करना चाहिए, तभी उनका पूरा-पूरा सौन्दर्य और अर्थ भी भावित होता है। लज्जा का व्यापार-सादृश्य केवल एक पंक्ति में ही दर्शनीय है, तरल हँसी स्मिति बन जाती है—

'स्मिति बन जाती है तरल हँसी
नयनों मे भरकर बाँकपना,
प्रत्यक्ष देखती हूँ सब जो
वह बनता जाता है सपना।

इन वृत्तियों के चित्रण में दो प्रकार की पंक्तियाँ आती हैं। कभी 'प्रसाद' जी इनकी आन्तरिक प्रेरणाओं का सचित्र निरूपण करने में उन्हें साकारता के उपादानों में रूपान्तरित करते हैं और कभी इनकी बहिरंग प्रवृत्तियों को रूपायित करने के लिए समतुल्य व्यापार उपस्थित करते हैं। 'काम-सर्ग' में काम के वर्णन में कवि ने अभिलषित वस्तु के पाने की इच्छा (काम) के उदय का संकेत किया है। रात के पिछले पहरों में काम के उदय का संकेत नितान्त व्यावहारिक है। काम जीवन वन का वसन्त है। उसका आगमन अज्ञात भाव से हो जाता है। मनु के निम्नस्थ प्रश्न काम के स्वभाव और उसकी अनुभूति की

दिशा के ही प्रकाशक हैं। काम का यह प्रकृति-व्यापी रूप कितना रमणीय, मनोवैज्ञानिक एवं सांकेतिक है। अलसायी कलियों का आँखें खोलना, मतवाली कोयल का बोल पड़ना मनु के मन में काम के उत्प्रेरक प्रभाव की उल्लिसित ही है जो प्रकृति पर प्रतिबिम्बित हो रही है। अपने ही समान प्रभाव की कल्पना यदि भुक्तभोगी मनु बाह्य जगत् पर भी करें तो अस्वाभाविक ही क्या—

"जब लीला से तुम सीख रहे
कोरक कोने में लुक रहना;
तब शिथिल सुरभि से धरणी में
विछलन न हुई थी? सच कहना!" ['काम'—सर्ग]

'निराला' जी ने अपनी सुप्रसिद्ध कविता 'सरोज-स्मृति' में सरोज के सज्ञान (युवती) होने का जो वर्णन किया है, उसमें नियोजित साम्य, वय के विकास को अधिक चाक्षुष बनाने के लिए गमन-क्रिया की प्रत्यक्षता का सहारा लेता है और अन्त में तारुण्य की शोभा-श्री की सूक्ष्मता और उसके प्रति पावन भावों की प्रतिक्रिया को सम्भव बनाने के लिए, सूक्ष्म 'प्रस्तुत' के लिए सूक्ष्म 'अप्रस्तुत' की योजना की गयी है—

"धीरे-धीरे फिर बढ़ा चरण,
बाल्य की केलियों का प्रांगण
कर पार, कुंज तारुण्य सुघर
आई, लावण्य-भार थर-थर
काँपा कोमलता पर सस्वर
ज्यों मालकोश नव वीणा पर।"

'निराला' जी की मूल-वृत्ति दर्शनोन्मुखी है, अतः जब वे अधिक भावुक होते हैं और अनुभूति वस्तु के सूक्ष्म-स्तरों को स्पर्श करने लगती है तो वे 'प्रसाद' जी की भाँति अरूप को रूप देने की अपेक्षा, अरूप 'प्रस्तुत' को अरूप 'अप्रस्तुतों' में ही व्यंजित करने की ओर अधिक प्रवृत्त होते हैं। 'निराला' जी की कविताओं में प्रकृति से आये नवीन अप्रस्तुतों की संख्या अधिक नहीं है। वस्तुतः वे प्रकृति से प्रेरणा पाने वाले कवि नहीं हैं। प्रकृति से प्रेरित होने से यहाँ मेरा अभिप्राय प्रकृति पर मुग्ध या प्रभावित होकर उसी को विषय बनाकर कविता करने से है। 'यमुना के प्रति' रचना में यमुना की प्राकृतिक शोभा के स्थान पर उसके पौराणिक अथवा सांस्कृतिक अनुराग का कल्पनाजात रूप ही कवि का वक्तव्य है। 'जुही की कली' में सुहाग माती नवोढ़ा का रूप प्रस्तुत है। इसलिए 'निराला' जी की सादृश्य-योजना का श्रेष्ठरूप सूक्ष्म प्रतीकों (पर्सोनिफ़ाइड)

पर आधृत समानता की दशा में ही प्राप्त होता है। प्रपात की समानता एक नवीन आध्यात्मिक अथच सांस्कृतिक भूमिका में ही प्रस्फुटित हुई है—

"जागो, जागो, आया प्रभात
बीती वह, बीती अन्ध रात
झरता भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वाचल।"

['तुलसीदास']

'सन्ध्या-सुन्दरी' रचना में संध्या-काल के सूक्ष्म निरीक्षण की रेखाएँ अवश्य उभारी गयीं हैं, पर नारी-रूप के रंगों से वे डूब-सी गयी हैं—

"अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली,
सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली।"

—['परिमल']

हाँ, एक विशेषता, जिसकी ओर कई बार संकेत किया गया, यहाँ भी प्रकट रूप से सामने आयी है। जितने अप्रस्तुत आये हैं, उनमें संध्या-काल के किसी न किसी धर्म को ही सूक्ष्मता से उभाड़कर सरूपता देनेका प्रयास किया गया है। 'परिमल' के बाद 'निराला' जी की वैचारिकता बढ़ती गयी है और प्रकृति की ओर से वे मानव के आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक द्वन्द्वों की ओर बढ़ते गये हैं। 'पन्त' जी ने संध्या को एक सुन्दरी का रूप दिया है। अपनी छाया में आप छिपी कहकर कवि ने संध्या का एक छाया-चित्र-सा दे दिया है। छायावादी कवि जब प्रकृति को मानवीकृत करते हैं तो अधिकांशतः वे रूपक और स्पष्ट उपमा का निर्वाह छोड़कर 'रूपकातिशयोक्ति'-पद्धति पर 'प्रस्तुत'-पक्ष के स्थान पर केवल 'अप्रस्तुत'-पक्ष को ही उभाड़ते चलते हैं। 'निराला' जी में 'पन्त' और 'प्रसाद' जी की अपेक्षा दोनों पक्षों को उभाड़ते चलने की प्रवृत्ति अधिक है, इसी से उनके चित्रों में अलंकरण का रंग अधिक चटक होता है। यह विशेषता 'निराला' जी की 'संध्या-सुन्दरी' और 'पन्त' जी की 'संध्या' की तुलना से स्पष्ट हो सकती है—

"कौन, तुम रूपसि कौन ?
व्योम से उतर रही चुपचाप
छिपी निज छाया-छवि मे आप

सुनहला फैला केश-कलाप
मधुर, मंथर, मृदु मौन ।
× × ×
ग्रीव तिर्यक्, चम्पक-द्युति गात
नयन मुकुलित, नत मुख जलजात
देह छवि छाया में दिन रात,
कहाँ रहती तुम कौन ?"

सुनहले केश-कलाप के लिए सुनहली किरण, चम्पक-द्युति के लिए स्वर्ण-प्रकाश, मुकुलित नयन के लिए अर्धस्फुट कुमुदिनी आदि शब्द-कथित नहीं हैं । 'मधुर', 'मंथर', 'मृदु', 'मौन' आदि विशेषणों के लिए सन्ध्याकालीन वातावरण की विशेषताओं के अनुभव की अपेक्षा बनी ही रहती है; किन्तु अनुभूति-शील के लिए इन विशेषणों की उपयोगिता छिपी नहीं है । सूर्य के प्रखर प्रकाश के नर्म पड़ जाने पर जब जगत् के सारे व्यापार दिन भर के परिश्रम के पश्चात् मन्द पड़ने लगते हैं, धीरे-धीरे कार्य-कोलाहल दबने लगता है, तब एक मधुर, मथन, मृदु और मौन वातावरण की सृष्टि हो जाती है—हमारी पलकें रात के सपनों की मधुरता के लिए ललकने लगती हैं ।

कबीर का दर्शन अत्यन्त अरूप-मूलक एवं निर्गुण-निराकाराश्रित है, फिर भी उनकी वाणी अत्यन्त संवेदक है । इसका कारण यह है कि कबीर ने अपनी अरूप अनुभूतियों के लिए जिन चित्रों का माध्यम लिया है वे अत्यन्त प्रत्यक्ष और जीवन के अत्यन्त निकट रहे हैं । दैनिक जीवन के साहचर्य में रहने से इन चित्रों के साथ जन-जीवन का सम्बन्ध बड़ा सहज और रागात्मक है । श्मशान, ताना-बाना, बादल वर्षा, घरबार की वस्तुएँ आदि ही उनके अप्रस्तुतों के उद्गम स्थल हैं । छायावादी कवियों के सूक्ष्म एवं अरूप 'प्रस्तुतों' के लिए आये स-रूप 'अप्रस्तुतों' के पीछे भी यही तथ्य सक्रिय है । उन्होंने मानवीकरण का सबसे अधिक उपयोग किया है । सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों एवं प्रत्ययों के लिए उन्होंने मानव रूपों, मानव-धर्मों एवं मानव व्यापारों का सहारा लिया है । 'पन्त' जी की निम्न पंक्तियों में जहाँ अज्ञान में ज्ञान की अभिव्यञ्जना प्रकट की गयी है, वहाँ वेणी में पुष्प अथवा चमकीले डाक-सितारों का चित्र उपस्थित कर दिया गया है । छायावादी काव्य-धारा के अन्तर्गत आये साम्य-विधान में यह मानवीय तत्वों का उभार अत्यन्त सहायक, स्पष्टता वर्धक एवं सौन्दर्य-कारक हुआ है—

"बाँधोऽ छवि के बन्धन बाँधो ।
भाव रूप में, गीत स्वरों में,
गंध कुसुम मे, स्मिति अधरों में,
जीवन की तमिस्र वेणी में,
निज प्रकाश-कण बाँधो ।"

—['युगान्त']

इसी प्रकार विश्व में नव-यौवन के अवतरण की कामना कोयल, कुंज, मदिरा और प्याली के माध्यम से व्यक्त हुई है—

"मंजरित विश्व में यौवन के
जगकर जग का पिक, मतवाली
निज अमर प्रणय-स्वर-मदिरा से
भर दे फिर नवयुग की प्याली ।"

—['युगान्त']

यह मानवीय तत्व, 'निराला' की 'अणिमा' पुस्तक की निम्नस्थ पंक्तियों में, बादल को सपने से जोड़कर अधिक संवेदनीय बना देता है—

"बादल छाये,
ये मेरे अपने सपने
आखों से निकले मडलाये ।"

प्रकृति के निम्न चित्र में मानवीय सादृश्य-तत्त्व ही मर्म-स्पर्श कर रहा है—

"स्नेह निर्झर वह गया है ।
रेत ज्यों तन रह गया है ।
आम की यह डाल जो सूखी दिखी,
कह रही है—
अव यहाँ पिक या शिखी
नहीं आते, पंक्ति मैं वह है लिखी
नहीं जिसका अर्थ-
जीवन दह गया है ।"

—['अणिमा']

महादेवी जी का सम्पूर्ण रहस्यमय विरह-काव्य ही मानवी प्रणय की सवेदना से रग लेकर सचित्र हुआ है । 'सन्ध्या के पद' और 'पुलक-पंख' जैसे पद सूक्ष्म अनुभूति पद्धति को साकारता प्रदान कर रहे हैं—

"नित सुनहली साँझ के पद से लिपट आता अँधेरा;
पुलकपंखी विरह पर उड़ आ रहा है मिलन मेरा;
कौन जाने है बसा उस पार
तम या राग-मय दिन !"

['सांध्यगीत']

मानवीकरण भी एक प्रकार का सूक्ष्म साम्य-विधान ही है, जिसमें अ-मानव पदार्थों में भी मानवीय अर्थों को उभारा जाता है, पर वह अलंकार-गत रूपक-पद्धति से भिन्न होता है। रूपक में 'प्रस्तुत' वस्तु की चेतना सर्वत्र बनी रहती है और साम्य आरोपित होता है; पर मानवीकरण में 'प्रस्तुत वस्तु' में बिना 'प्रस्तुत' के अंग-प्रत्यग को स्पष्टतः अभिहित किये ही, 'अप्रस्तुत'-रूप में मानवीय संकेत एव अर्थ ही कथित होते चलते हैं। 'चित्र-मीमांसा'-कार अप्पय दीक्षित ने कहा है—

"उपमैषा शैलूषी, सम्प्राप्ता चित्र-भूमिका-भेदात्।
रंजयति काव्य-रंगे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ॥"

यह उपमा नटी की भाँति सहृदयों की चेतना का भूमिका-भेद से अनेक रूप-रगों में अनुरंजन किया करती है। उपमा का मूल सादृश्य है। यह सादृश्य काव्य में अनेक रूपों में अभिहित, लक्षित एवं व्यंजित होता रहता है। मम्मट के 'काव्य-प्रकाश' और पण्डित विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' के अनुसार हिन्दी में अत्यन्त प्रचलित उपमा रूपों एवं 'काव्यादर्श'-प्रणेता आचार्य दण्डी के अनेकानेक स्थूल-सूक्ष्म भेद-प्रभेदों को यदि छोड़ भी दिया जाय, तो भी छायावादी काव्य में इस सादृश्य के अन्यान्य ऐसे रूप भी दृष्टि-गोचर होते हैं, जहां लक्षणाओं ने अनोखी भंगिमा उत्पन्न कर दी है, और जो एक सूक्ष्म अर्थ-छाया को भी विस्तार देते चलते हैं। कभी-कभी तुलना करते हुए विरोध को भी उभारा जाता है, पर उनमें भी एक आन्तरिक सम्बद्धता होती है। 'निराला' जी की 'तुम और मैं' कविता में ऊपरी विरोध का आभास है और भीतर से ऐक्य ही परिलक्ष्य है। भाव-भाषा, विटप-छाया, प्राण-काया और ब्रह्म-माया का सम्बन्ध भेद नहीं, अभेद के लिए लाया गया है—

"तुम मृदु मानस के भाव और मैं मनोरंजिनी भाषा,
तुम नन्दन-वन घन विटप और मैं सुख-शीतल तल शाखा।
तुम प्राण और मैं काया, तुम शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म,
मैं मनोमोहिनी माया।"

['निराला'-'परिमल']

उक्त खण्ड में दो विशिष्ट वर्गों के अप्रस्तुत लाकर न केवल कथन को बोधगम्य बनाने का प्रयास किया गया है, वरन् सौन्दर्य की दृष्टि भी स्पष्ट है। ऊपर की पंक्तियों में तो दो वस्तुओं के पारस्परिक-सम्बन्ध को 'परंपरित रूपक' की पद्धति में कहने का प्रयास किया गया है, जिसमें एक रूपक के आरोपित हो जाने पर परंपरा-सम्बन्ध के निर्वाह के लिए दूसारा अप्रस्तुत आरोपित होता है। इसी प्रकार डा० रामकुमार वर्मा ने अपने को निम्न पंक्तियों में विश्व-नर्तकी विराट्-चेतना के नूपूरों का हास कहा है, जो उन चरणों में लिपटा हुआ झंकृत होता रहता है। वे चरण यदि मौन गति करते हैं तो यह झंकार का हास्य उसको स-राग बनाता है—

"मैं तुम्हारे नूपुरों का हास।
चरण में लिपटा हुआ करता रहूँ चिर-वास।
मैं तुम्हारी मौन गति में भर रहा हूँ राग,
बोलता हूँ यह जताने हूँ तुम्हारे पास।
चरण कम्पन का तुम्हारे हृदय में मधु-भाव,
कर रहा हूँ मैं तुम्हारे कंठ का अभ्यास।"

['चन्द्र किरण']

चरणों के हिलने के साथ तुम्हारे हृदय में जो मधु-भाव उठते हैं और जिनकी अभिव्यक्ति तुम्हारे कंठ से होनी चाहिए उसे मैं अपने कंठ से व्यक्त करता हूँ अर्थात् भाव तुम हो या तुम्हारे हैं और स्वर मेरा। इस प्रकार नूपुर-धारी नर्तक अथवा नर्तकी तथा उसकी झंकार के सम्बन्ध माध्यम से परमात्मा-आत्मा अथवा उपास्य-उपासक का सम्बन्ध ध्वनित किया गया है।

छायावादी काव्य में अभिव्यक्ति की एक प्रमुख पद्धति विरोध-मूलक अप्रस्तुत-विधान की भी है। इस युग के पूर्व के अप्रस्तुत-विधानों में साम्य (रूप, धर्म अथवा प्रभाव-गत) अथवा सादृश्य ही साध्य होता था। हाथ को कमल की समानता देने में कवि दोनों के पक्ष-विशेष की समानता को ही अपना लक्ष्य रखता था। छायावादी काव्य में विरोध को लक्ष्य बनाकर अप्रस्तुत-विधान किये गये हैं और यह इस युग की भावाभियक्ति का एक विशिष्ट मार्ग बन गया है। इसी विरोध के कारण सादृश्य मूलक अप्रस्तुत-विधान की सुदीर्घ परंपरा के संस्कारी सहृदयों को, प्रारम्भ में ये पंक्तियाँ सदोष अथवा अरुचिकर लगीं। छायावादी कवियों का वास्तविक लक्ष्य अपनी अनुभूति की तद्वत् अभिव्यक्ति रही, रस अथवा भाव-विशेष की विशुद्ध एवं अमिश्रित शास्त्रीय अभिव्यक्ति नहीं। अपनी लघु-गुरु, ऋजु कुटिल एवं मिश्र-अमिश्र अनुभूतियों

को ठीक उसी प्रकार व्यक्त करने के लिए उन्होंने अनुभूति-सूक्ष्मता की दृष्टि से ऐसे अप्रस्तुत भी ग्रहण किये जो साम्य से अधिक विरोध दिखलाकर उनके मन्तव्यों की पूर्ति करते हैं। इसके लिए उन्होंने दो रीतियों का अनुसरण किया है; एक तो दो विरोधी धर्मों वाले पदार्थों का प्रभाव-साम्य स्थापित किया, दूसरे विरोध-ज्ञापक विशेषणों का प्रयोग किया है। प्रथम रीति का उदाहरण महादेवी जी के 'सान्ध्य गीत' से निम्नस्थ है—

"ताज है जलती शिखा, चिनगारियाँ शृंगार-माला,
ज्वाल अक्षय कोष है, अंगार मेरी रंगशाला;
नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ।"

[महादेवी]

ताज और शिखा, चिनगारियों और शृङ्गार-माला तथा अंगार और रंगशाला में धर्म-गत विरोध है। प्रेमिका अपने प्रियतम की प्रेम-साधना में प्राप्त शिखा, चिनगारी और अंगार को भी ताज शृङ्गार-मालिका एवं रंग-शाला का पद देकर, उनसे सन्तोष की बात उपलब्धि करती और अपनी शोभा समझती है, अन्यथा कष्ट को कष्ट जानकर भी उसके इस स्वेच्छा-वरण के पीछे दूसरी कौन-सी वृत्ति कही जा सकती है। त्याग, बलिदान और कष्ट-सहिष्णुता की अभिव्यक्ति इस माध्यम से अत्यन्त सबल रूप में सम्भव हुई है। 'प्रसाद' जी ने लज्जा को ठंढक देने वाली कहा है—

"वह कौंध कि जिससे अन्तर की शीतलता ठंडक पाती हो!"

—['कामायनी']

दूसरी रीति का उदाहरण 'प्रसाद' जी की निम्न पंक्तियाँ हो सकती हैं—

"शीतल ज्वाला जलती है
ईंधन होता दृग-जल का।
यह व्यर्थ श्वास चल-चलकर
करता है काम अनिल का॥"

—['आँसू']

अभिशाप को 'मधुमय' कहकर चिन्ता की काम्यता प्रकट की गयी है—

"अरी व्याधि की सूत्रधारिणी अरी आधि, मधुमय अभिशाप॥"

—['प्रसाद'—'कामायनी']

यहाँ रूपकातिशयोक्ति पद्धति में विरह-जन्य प्रेम को केवल 'ज्वाला' न कहकर 'शीतल ज्वाला' कहा गया है, क्योंकि प्रेमानुभूति में सन्तोषदायकता

भी है, यह प्रेम विदाहक होकर भी प्रेमी को प्रेम करते चलने और अपने प्रिय के लिए कष्ट-सहन करने का सन्तोष भी देता है, अन्यथा प्रकृति-जगत् में आग शीतल नहीं होती। यहाँ विरोध-सूचक विशेषण के द्वारा प्रेम में एक साथ ही दो विरोधी अनुभूतियों का द्वन्द्व व्यक्त किया गया है। महादेवी के काव्य में प्रथम पद्धति और 'प्रसाद' तथा 'पन्त' में द्वितीय पद्धति की प्रधानता है। 'निराला' जी ने भी यत्र-तत्र इसका सदुपयोग किया है। 'किस विनोद की तृषित गोद में आज पोंछती वे दृग-नीर ?' ('परिमल') 'विनोद' की गोद को 'तृषित' कहकर कवि ने उस विनोद के भीतर छिपे तृषा अथवा अतृप्तता के तत्त्व का अन्तर्द्वन्द्व लक्षित कराया है। 'यमुना के प्रति' रचना में 'निराला' जी ने गोपियों की अनन्त विनोद-लालसा को उभारा है। 'प्रसाद' जी की निम्न पंक्तियों में कथित मस्तकनति और गर्व में छत्तीस का सम्बन्ध है, पर यहाँ विरोध में सत्य और उभर कर सामने आ जाता है—

"नत मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के घन रस-कन ढरते"

['चन्द्रगुप्त नाटक']

'पन्त' जी की 'एकतारा' रचना में इसी विरोध की भूमिका पर, प्रशान्ति के वातावरण में झींगुर की अकेली आवाज़ को किस प्रकार तीव्रतर किया गया है। यहाँ एक ही अनुभूति में विरोध का द्वन्द्व नहीं है, वरन् एक ही स्थिति में विरोध के द्वारा दो प्रतिकूल स्वभाव की वस्तुओं का उल्लेख किया गया है—

"झींगुर के स्वर का प्रखर तीर, केवल प्रशान्ति को रहा चीर,
सन्ध्या प्रशान्ति को कर गँभीर।
इस महाशान्ति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्णधार
ज्यों वेध रहा हो आर-पार।" ['गुंजन']

'युगान्त' में आयी 'बापू'-विषयक कविता में विरोध-पद्धति पर विचारों और भावों को उद्वेलित करने का बड़ा सुन्दर उपक्रम हुआ है। आदर्श प्राण महात्मा जी के भौतिक अस्तित्व में निहित सूक्ष्म व्यक्तित्व को विरोधी विशेषणों के द्वारा सचित्र किया गया है—

"जड़वाद-जर्जरित इस जग में
अवतरित हुए आत्मा महान् ..

× × × ×

विश्वानुरक्त हे अनासक्त !
तुम मांस-हीन, तुम रक्त-हीन,
तुम अस्थि-शेष, तुम अस्थि-हीन
तुम शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण, हे चिर नवीन !"

—['बापू के प्रति']

यहाँ स्पष्ट रूप से अप्रस्तुत-विधान वाच्य नहीं है, पर इन विशेषणों से मनमें चित्र बनते हैं। 'मांस-हीन' एवं 'रक्त-हीन' का अर्थ 'मांस रक्त-हीन की भाँति' ही होगा। 'आत्मा महान्' कहने का अभिप्राय 'महान् आत्मा की तरह' ही लेना होगा। अप्रस्तुतों में विरोध होने पर भी तुलना का भाव प्रकट होता है, जिससे पारस्परिकता की परिवृत्ति में, कथनीय स्पष्टतर ही नहीं सुन्दर भी बनता है। अप्रत्यक्ष प्रकारान्तर से, यही कार्य विरोध-मय विशेषण भी करते हैं। 'पन्त' जी ने 'ग्राम्या' में गाँवों की दयनीयता और विषण्णता को उभारने के लिए अत्यन्त कला-पूर्ण ढंग से विरोध एवं विपरीतता मूलक पद्धति का अनुसरण किया है—

"यहाँ न पल्लव-वन में मर्मर,
यहाँ न मधुविहगों में गुंजन !
जीवन का संगीत बन रहा
यहाँ अतृप्त हृदय का रोदन !!"

—['ग्राम्या']

अतृप्त हृदय का रोदन ही यहाँ जीवन का संगीत है ! रोदन और संगीत दो विरोधी वस्तुएँ हैं और रोदन 'प्रस्तुत' के लिए संगीत 'अप्रस्तुत' रूप में लाया गया है। संगीत के नाम पर केवल रोना ही भाग्य में लेकर उतरने वाले भारत के ये ग्राम कितने करुण हैं ! संगीत की विपरीतता में रोदन का प्रभाव बढ़ गया है। ग्रामीण जीवन में रोदन को वही प्राधान्य प्राप्त है, नगर के भद्र समाज में जो प्राधान्य संगीत को।

महादेवी जी ने कभी-कभी बाह्य साम्य के भीतर छिपे मार्मिक विरोध को बड़े ही सुन्दर ढंग से व्यंजित किया है—

"तेरे असीम आँगन की देखूँ जगमग दीवाली
या इस निर्जन कोने में बुझते दीपक को देखूँ !

× × ×

देखूँ हिम-हीरक हँसते हिलते, नीले कमलों पर,
या मुरझाई पलकों से झरते आँसू कण देखूँ।"
['यामा']

साम्य-योजना वाच्य या आलंकारिक ढंग से व्यक्त नहीं है, पर वैषम्य को उभारते हुए एक ऊपरी साम्य यहाँ व्यंग्य है।

प्रतिद्वन्द्वी के रूप में एक साथ एक ही प्रसंग में अन्तर को उभारने के लिए विरोधिनी वस्तु स्थितियाँ लायी जाती हैं। 'पन्त' जी की उपर्युक्त कविता-पंक्तियों में परिस्थिति-वैषम्य को व्यंजित करने के लिए विरोधियों में एकपदीय साम्य आरोपित है, महादेवी में भी उपरितः विरोध होते हुए रूप-गत अथवा बाह्याकार गत साम्य ध्वनित है और 'प्रसाद' जी की निम्न पंक्तियों में, विषमता स्पष्टतः कथित है और तुलना-गत साम्य प्रतिद्वन्द्विता में लक्षित है—

"मधु मालतियाँ सोती हैं
कोमल उपधान सहारे।
मैं व्यर्थ प्रतीक्षा लेकर
गिनता अम्बर के तारे॥"

× × ×

"चातक की चकित पुकारें
श्यामा-ध्वनि परम रसीली।
मेरी करुणार्द्र कथा की
टुकड़ी आँसू से गीली॥"
—['आँसू']

'कामायनी' के निम्न गीत में आये अप्रस्तुतों का सौन्दर्य, विशिष्ट परि-स्थितियों से उत्पादित अन्तर (कन्ट्रास्ट) के आलवाल में ही खिलाया गया है—

"तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन।
विकल होकर नित्य चंचल,
खोजती जब नींद के पल;
चेतना थक-सी रही तब,
मैं मलय की वात रे मन।
चिर विषाद-विलीन मन की,
इस व्यथा के तिमिर-वन की,
मैं उषा-सी ज्योति-रेखा,
कुसुम-विकसित प्रात रे मन।

जहाँ मरु-ज्वाला धधकती,
चातकी कन को तरसती;
उन्हीं जीवन घाटियों की
मैं सरस बरसात रे मन!"

'पन्त' जी ने सुख को रात और दुःख को दिन कहा, क्योंकि सुख में मानव-चेतना के बहिर्मुख होने और दुःख मे अन्तर्मुखी होने का संकेत करते हुए, सुख में व्यक्ति के सीमित 'स्व' और दुःख में विस्तृत 'स्व' की दशा का बोध कराना भी उनका लक्ष्य था—

"अविरत दुख है उत्पीड़न, अविरत सुख भी उत्पीड़न;
सुख-दुःख की निशा-दिवा में सोता-जगता जग-जीवन।"
['गुंजन']

नीचे की पंक्तियों में कवि ने अपनी तुलना उस कली से करनी चाही है जो मुसकाना भी न सीख सकी हो, क्योंकि कवि अब तक सुख से दुःख को अपनाना नहीं सीख सका।

'छायावाद-युग' व्यक्ति-स्वातन्त्र्य एवं समष्टि तथा व्यष्टि के अन्तर अथच सन्तुलन पर आधृत प्रजातंत्र के विकास का युग रहा है। समाज और व्यक्ति की पृथक्-पृथक् सत्ताओं को बनाये रखना और दोनों के बीच के अन्तर को आवश्यक मानते हुए भी दोनों के सामंजस्य एवं सन्तुलन को भी अनिवार्य मानना प्रजातान्त्रिक पद्धति का मूलाधार है। एक प्रकार का अन्तर्विरोध प्रजातंत्र के मूल में ही है, प्रजातान्त्रिक जिसको मान्यता देकर आगे बढ़ता है। यह जीवन-दर्शन छायावादी काव्य की 'वस्तु' एवं 'रूप'—दोनों में ही प्रतिच्छायित हुआ है। विरोध एवं तुलना-मूलक अप्रस्तुत योजनाओं में 'छाया'-युग का वही जीवन-दर्शन सञ्चरित है। एतद्युगीन काव्य में इस पद्धति के इस प्रकार उभर कर आने का, मेरी दृष्टि में यही कारण है। पं० सोहनलाल द्विवेदी की महात्मा जी पर लिखी 'कोटि कंठ, कोटि बाहु' वाली कविता इसी पीठिका पर अर्थ-शालिनी हुई है।

अपने गीतों में 'शत-शत क्रन्दनों का रुद्ध द्वार' खोलने वाले 'बच्चन' जी ने निम्न गीत-पंक्तियों में अपने जीवन के 'खारे जल' एवं 'हालाहल' को किसी के मधु स्वर में मधुमय बनाकर, विरोधी प्रतीकों से वैषम्य को प्रखर किया है। यहाँ 'प्रस्तुत' और 'अप्रस्तुत' का विरोध नहीं वरन् दो स्थितियों के विरोध का संकेत लक्ष्य है—

"मेरे जीवन का खारा जल,
मेरे जीवन का हालाहल,
कोई अपने स्वर में मधुमय कर बरसाता, मैं सो जाता।"
—['एकान्त सगीत', पृ० २०]

अपनी परिचय वाली कविता में 'दिनकर' जी ने भी विरोधी अप्रस्तुतों द्वारा आत्मा अथवा प्रजातत्र में व्यष्टि के महत्त्व को प्रकट किया है—

'सलिल कण हूँ कि पारावार हूँ मैं'

आराधक का आराध्य देवता ही जब उसकी पूजाराधना को दुर्बलता कह हँस पडे तो परिस्थिति की विद्रूपता का क्या कहना ! यहाँ पूजन-प्रक्रिया का समस्त सम्भार नहीं, केवल एक वैषम्य ही उद्दिष्ट भाव की नोक है—

"मेरे पूजन आराधन को,
मेरे संपूर्ण समर्पण को,
जब मेरी कमजोरी कहकर मेरा पूजित पाषाण हँसा !
तब रोक न पाया मैं आँसू।"
—[वही]

'आत्म-समर्पण' कविता में श्री नरेन्द्र जी ने प्रिया के सम्पर्क से उत्पन्न वस्तु-स्थिति-परिवर्तन को द्योतित करने के लिए हृदय के पावक को जावक बना दिया है—

"पद चूम हृदय की
पावक बनती जावक,
बन फूल विहँसते
पावों में नभ-तारक।"
—['पलाश-वन' पृ० १०]

यही नहीं, शलभ दीप और मिट्टी गुलाब बन जाती है—

"लौ चूम शलभ
बन जाता जैसे दीपक,
मेरी मिट्टी से खिलते
पाटल चम्पक।"
—[वही-पृ० १०]

श्री शम्भूनाथ सिंह ने 'जी सकूँ चुपचाप !'—गीत में मौन को मुखर, अभिशाप को वर और गरल को ही पेय बनाकर मौन की भाव-मयता अभिशाप की शान्तिदायकता एवं गरल में अमृतपान के-से सन्तोष की अनुभूति को तीव्रता दी है। 'प्रस्तुत' और 'अप्रस्तुत' विरोधी हैं—

"मौन मेरा मुखर स्वर हो,
मौन का अभिशाप वर हो,
मौन ही मेरा अमर हो,
प्राण, हँस-हँस इस गरल को
पी सकूँ चुपचाप !
प्रिय, मैं जी सकूँ चुपचाप !"

—['दिवालोक' पृ० १७]

'तमसो मा ज्योतिर्गमय'-गीत में कवि ने 'बापू' के शरीरान्त होने पर भी भारतीय जन-जीवन में एक उच्च-स्तरीय चेतना के रूप में समा जाने का संकेत विरोधिनी अभिव्यक्तियों के द्वारा बड़े सुन्दर रूप से किया है। सान्त आत्मा के अनन्त परमात्मा में विलीन होने का आध्यात्मिक संकेत तो अपना अलग सौन्दर्य रखता ही है—

"मरा न काम-रूप कवि बना अमर,
कि कोटि-कोटि कण्ठ में हुआ मुखर,
मिटा न काल का प्रवाह बन घिरा
असीम अन्तरिक्ष में अनन्त स्वर,
न मंत्र-स्वर अमृत सँभाल मृण्मयी धरा सकी,
त्रिकाल-रागिनी अनन्त सृष्टि बीच छा गई !
अनेकता अखण्ड एक हो गई,
अभेद बीच भेद-भ्रान्ति खो गई,
अबन्ध गंध बँध सकी न फूल में
समष्टि बीच पूर्ण व्यष्टि खो गई,
जिसे न पाश तन बना, न छू सका मरण-चरण,
विराट् चेतना अरूप बन स्वरूप पा गई !"

—['दिवालोक' पृ० ६१]

डा० रामकुमार जी वर्मा के जीवन की प्रतीक चाँद तो विरहातिरेक में जीवन-घातिनी हो गयी है—

"मेरी साँस कर रही मेरे जीवन पर आघात।
देव, मैं अब भी हूँ अज्ञात ?"

'फटे-से बादलों का मधुमास' ही कवि के अभी-अभी विषाद-ग्रस्त जीवन में सहसा आयी प्रिय झलक की सुखदायकता का आभास दे सकता है—

"यह तुम्हारा हास आया।
इय फटे से बादलों मे कौन-सा मधुमास आया !"
[रा० कु० वर्मा]

सुखातिरेक की कल्पना में, जीवन की कितने ही वर्षों की काली रात यदि प्रिय के एक मधुर चुम्बन की सीमा में ही सिमट कर, इस विषम साम्य के लिए ललच उठे, तो अस्वाभाविक क्या !

'आओ चुम्बन सी छोटी है, यह जीवन की रात ?'

श्री भगवतीचरण जी वर्मा ने वरदान की भाँति मिले प्रेम के कष्टों को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"हाँ, प्रेम किया है, प्रेम किया है मैंने,
बरदान समझ अभिशाप लिया है मैंने ?"

क्षण भर के मिलन-सुख के बाद का अश्रुमय परिणाम प्रिय के इन दो विरोधी अप्रस्तुतों से व्यक्त किया है—

"आये बनकर उल्लास अभी,
आँसू बनकर बह चले अभी,
सब कहते ही रह गये अरे
तुम कैसे आये कहाँ चले ?"
—[भ० च० वर्मा]

प्रेम बन्धन है और प्रिय के नयनों की अलस शोभा विजय का भार—

"आज बन्धन बन रहा है
प्यार का उपहार रंगिनि।
अलस नयनों में लिये हो
किस विनय का भार रंगिनि ?"
—['प्रेम-संगीत']

भौंरे केवल चाह, लाज और प्यार ही नहीं, राग की भी आग लगा देते हैं—

"चाह भरे अलि, आह जगाते,
पल मे नव अलि दल घिर आते,
कभी लाज की कभी प्यार की,
कभी राग की आग लगाते।"— [नरेन्द्र-'पलाश-वन']

पं० सोहन लाल जी प्रिय को अपना रूप और छाया ही नहीं, मन-विहंग के लिए धूप भी बनाना चाहते हैं—

'मन विहंग के नन्दन कानन
मधुमय छाया-धूप बनोगे

श्री आरसी प्रसाद जी की 'मदनिका' नाटिका के 'तुम टोको हे..' गीत में आये नेत्र में मदिरा का विभ्रम, अतृप्त सुख का श्रम और जादू साथ ही है—

"इनमें मदिरा का विभ्रम है;
इनमें अतृप्त सुख का श्रम है!
उस जादू को मत रोको
" तुम टोको ' हे!"

वेदना-व्यथा की आग में भी प्रेमी का व्यक्तित्व अपने को सँजोये पल रहा है, अन्यथा अंगार पर इतिहास न पलते और लव पर गीत अगरु बनकर न महक पाते और न लपटों से मुस्कान की रश्मियों की प्रेरणा ही सम्भव हो पाती—

"लव पर अगरु बने-से ये गान जल रहे हैं।
अङ्गार के कणों पर इतिहास पल रहे हैं।
देती लपट-लहरियाँ कुछ रश्मि आज हँस-हँस—
उनको सँजो अधर पर मुसकान छा रहा है!
मैं गान गा रहा हूँ॥"

['नीलम-तरी']

स्थिति के इन्हीं अन्तर्विरोधों को लक्षित कराने के लिए 'मानव' जी ने नयन में इन्द्रधनु-सी रंगिनी और हृदय में विद्युत्-सी जलन का अस्तित्व घोषित किया है—

"रूप-सुधा पीने का मुझको
इधर मधुर अधिकार दिया है,
उधर मौन रहने का प्राणे ?
एक शिला का भार दिया है;
नयनों में सुरधनु भी रचती,
उर विद्युत् में दिया बोर भी।"

['अवसाद', पृ० २२]

स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् भी बन्धनों की अनुभूति को कवि ने निम्न विरोधी स्थितियों से तुलनीय बना दिया है—

"गगन मिला, पर न पंख खुल रहे,
किरण मिली, पर न कमल खिल रहे,
पथ मिला, पर न चरण हिल रहे,
दीप-सजल नयनों से निज असीम वेदना
कबतक तुम मौन कहोगे ओ जन-देवता ?"

['दिवालोक']

श्री पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र अपने विविध कोणों को व्यक्त करने के लिए अपनी तुलना शीतलता और आकुलता दोनों से करते हैं—

"शीतलता हिमकर-किरनों में जीवन मलय पवन में।
मैं अविराम नृत्य लहरों में, आकुलता हूँ घन हूँ॥"

['अतर्जगत्']

श्री जनार्दन प्रसाद 'झा' द्विज दाह को भी शीतल बतलाते हैं—

"दाह अति शीतल है यह, है न—
कहीं इसमें ज्वाला का नाम ?
बरसने दो करुणा-घन को न,
न है उसका अब कोई काम।"
जला, जल चुका बहुत, चुपचाप पड़ा हूँ अब तो बनकर छार।"

['अनुभूति' से]

पं० इलाचन्द जी जोशी की 'मायावती' कविता में विधुरा भी प्रभात-सी पुलकित रह लेती है—

"पुलकित प्रभात-सी रहती हूँ नित विधुरा,
उत्फुल्ल कुसुम-सी रहती हूँ मधु मधुरा।"

—['विजनवती' से]

उद्दाम भावनाओं के कवि 'अंचल' ने अपनी 'जलती निशानी' कविता में तरंगों की तरी पर प्यासा तूफान जलता हुआ अनुभव किया है—

"शून्य मंडल लालसा का आज क्यों विप्लव भरा-सा;
क्यों तरंगों की तरी पर जल चला तूफान प्यासा ?"

सङ्केत-प्रिय छायावादी कवि अलङ्कारों के शास्त्रीय निर्वाह की ओर सजग नहीं रहता, वह तो अपनी बात को अधिक से अधिक प्रभावशाली और रमणीय ढंग से कहना चाहता है। इसी प्रभाव सृष्टि की सलक्ष्यता में वह विशेषणों और दुहरे-तिहरे सादृश्य का विधान कर देता है। इस प्रकार मिश्र उपमाओं

और रूपकों की जहाँ अधिकता हो गयी है, वहीं अनुकूल वातावरण की सृष्टि और प्रभाव वृद्धि भी हुई है। 'पन्त' की 'छाया' कविता के निम्न अंश—

"तुम पथ-श्रान्ता द्रुपद-सुता सी
कौन छिपो हो अलि अज्ञात।
तुहिन-अश्रुओं से निज गिनती
चौदह दुखद-वर्ष दिन रात ?"

में ओस को आँसू कहने के बाद वर्ष-गणना का अंक-चिह्न भी कहा गया है और यह साम्य 'गिनना' क्रिया से ध्वनित है। महादेवी की निम्न पंक्तियों में भी प्रिय की उपमा मेघ और मेघ की उपमा नीलम से है—

'वे नीलम के मेघ, नहीं जिनको है घुल जाने की चाह'

इसी प्रकार—

"तू भू के प्राणों का शतदल !
सित क्षीर-फेन हीरक-रज से
जो हुए चाँदनी में निर्मित।
पारद की रेखाओं में थिर
चाँदी के रंगों से चित्रित।
खुल रहे दलों पर दल झलमल !"

—में बादल क्षीर-फेन और हीरक-रज से निर्मित बतलाये गये हैं। इसी प्रकार 'पन्त' की निम्नपंक्ति—

"दमयन्ती-सी कुमुद-कला के
रजत करों में फिर अभिराम,
स्वर्ण-हंस-से हम मृदु ध्वनिकर
कहते प्रिय संदेश ललाम !"

—['पल्लव'—'बादल']

—में 'रजत-कर' का अर्थ है 'रजत के समान किरण रूपी हाथ' और बादल स्वर्ण हंस तो कहा ही गया है, साथ ही संदेश-वाहक का साम्य भी क्रिया 'संदेश कहते' से लक्षित है। 'प्रसाद' जी की निम्न पंक्ति में भँवर को पात्र तो कहा ही है, पर यह भँवर स्वयं रूपकातिशयोक्ति में हृदय-गत भावनाओं के अर्थ में आयी है। यहाँ लहर उपलक्षण है, प्रतीक नहीं।

"लहरों में प्यास भरी है।
है भँवर-पात्र भी खाली।
मानस का सब रस पीकर
लुढ़का दी तुमने प्याली॥"

—['आँसू']

'निराला' जी की निम्न पक्ति में गंगाजल का कण ज्योति-सा कहा गया और फिर उसे हार सा अभिहित किया गया है—

"गंगा-ज्योतिर्जल-कण
धवल-धार-हार गले।"

—['गीतिका']

'निराला' जी के 'कौन तम के पार रे कह'-गीत में ऐसे सकुल सादृश्य-विधानों का उलझाव अत्यन्त जटिल हो गया है। 'प्रसाद' जी ने जीवन की मरु-मरीचिका में मृत्यु को 'अधकार के अट्टहास सी मुखारित' कहा है। अज्ञान को अधकार माना जायगा, फिर जीवन में मानव की अपदार्थता सिद्ध करने वाली मृत्यु को उस अधकार का उपहासात्मक अट्टहास। मानवीकरण का आरोप अलग अपनी छटा से एक चित्र उपस्थित कर दे रहा है।

छायावादी युग की साम्य-योजना लक्षणाओं के सहारे बहुत विकसित हुई है। प्रतीक-विधान में साम्य-योजना का बडा ही निखरा रूप उपस्थित हुआ है। विशेषण वक्रता (विशेषण-विपर्यय) और मानवीकरण भी छायावादी साम्य-विधान के प्रमुख द्वार हैं। विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण और प्रतीक-विधान के भीतर संचरित लक्षणा न केवल अदृश्य भावों और विचारों को एक मूर्त्त रूप प्रदान कर देती है, वरन् प्रभाव को वृद्धि में भी अमूल्य योग दान देती है। छायावादी काव्य के विशेषण भाव एवं चित्रात्मक गुग के लिए बडे ही मूल्यवान् होकर आये हैं। विशेषणों को इतना वैशिष्ट्य स्यात् ही किसी अन्य युग में मिला हो। जिस वस्तु के लिए पूर्व-युगीन कवि भारी भरकम रूपक एव उपमाएँ वाँधते थे, उसे इस युग का कवि दो एक विशेषणों में कह देता है।

"क्या तुम्हें देखकर आते यों
मतवाली कोयल बोली थी।
उस नीरवता में अलसाई
कलियों ने आँखें खोली थी।
जब लीला से तुम सीख रहे
कोरक कोने में लुक रहना,
तब शिथिल सुरभि से धरणी मे
विछलन न हुई थी सच कहना?"

—['प्रसाद'-'कामायनी']

काम का आगमन है। जीवन में काम वसन्त-सा आ रहा है। कलियों के साथ 'अलसाई', और सुरभि के साथ 'शिथिल' विशेषणों के भीतर छिपे अर्थ-गौरव को स्पष्ट करने के लिए कितने वाक्यों की आवश्यकता होगी, यह सहृदय मर्मी ही समझ सकते हैं।

'पन्त' जी ने साम्य विधान में बड़े अछूते प्रयोग किये हैं। कुंजको 'गन्ध से गुंजित' कहना गन्ध की अनुभूति की प्रगाढ़ता को बोध के 'श्राव्य मूल्य' में बदल देना है। अनुभूति का यह इन्द्रिय-गत मूल्यान्तरण उसकी तीव्रता की धार पर पानी चढ़ा देता है—

"गंध-गुंजित कुंजों में आज
बँधे बाँहों में छायालोक।"

—['गुंजन']

इसी प्रकार पक्षी के स्वर गुंजन को हरे विटपों में ध्वनित करने के लिए, पक्षी शब्द के स्पष्ट अभिधान को गौण कर दिया। हरीतिमा-नभ हरे वृक्ष हैं और गुंजन पक्षी-स्वर है—

'ऊपर हरीतिमा-नभ गुंजित'

—['गुंजन']

इसी प्रकार—

'हिम परिमल की रेशमी वायु,
शत-रत्न-छाय, खग-चित्रित नभ'

—['गुंजन']

में 'रेशमी' और 'खग-चित्रित' विशेषण परिलक्षणीय हैं। तितली के लिए 'अनिल-कुसुम' एवं 'पुष्प-विहग' शब्द सौन्दर्य-प्राण 'पन्त' के अतुलनीय शब्द-शिल्प हैं।

इस प्रकार छायावादी काव्य में आये साम्य-विधान में लाक्षणिकता का प्रमुख योग देख कर ही बहुत से आलोचक ('शुक्ल' जी जैसे भी) इसे लक्षणा-काव्य की संज्ञा ही दे देते हैं। इस लक्षणा-विस्तार के भीतर प्रभाव-साम्य की दृष्टि बड़ी प्रमुख है और यह प्रभाव-दृष्टि साम्य-पद्धति में तो होती है, विरोध-पद्धति पर भी उसकी भी निखारी गयी है। वस्तुतः छायावादी काव्य में ही उपमा का 'सौन्दर्यत्व' अपने पूर्ण विकास की ओर गतिमान हुआ है। छायावादी कविता के अन्तर्वादिनी एवं स्वानुभूति-निरूपिणी होने से यह साम्य-योजना वस्तु-विषय के सूक्ष्म गुणों को पकड़ने की अधिक प्रयासिनी हुई है। इस अध्याय में साम्य को निर्दिष्ट अलंकारों के साँचों में नहीं विभाजित किया गया है।

प्रतीकों पर अलग, अध्याय में विचार किया गया है। इस स्थल पर एक बात और ध्यान रखने योग्य है कि वैसे तो, 'प्रस्तुत' कवि का लक्ष्य सामान्यतः होता ही है, किन्तु संसार की सत्यता में विश्वास करने वाला मानववादी 'छाया'—युगी कवि, लगता है, जैसे समस्त अप्रस्तुत-विधान के पश्चात् भी अतृप्त ही हो! यह वृत्ति हमें 'भक्ति-युग' में सूर में भी पलिक्षित होती है। जब वे राधा-कृष्ण का रूप-वर्णन करने लगते हैं तो जैसे युग की सीमाओं के बावजूद वे उपमा-उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा देते हैं, उनके हृदय का भाव श्रावण बरस-बरस कर भी, जैसे चुकता नहीं दिखलाई पड़ता, फुहारे पर फुहारे रिमझिमाते चलते हैं। तुलसी की मर्य्यादावादी श्रद्धा-दृष्टि एक बार ही एक निश्चित ऊँचाई को अपना लक्ष्य बना लेती है और उसे छूकर जैसे वह आश्वस्त होकर सन्तोष कर लेती है, पर सूर की भावात्मक सत्ता वह वीणा है जो बार-बार झनकारती रहती है और जिसके तार एक दूसरे को कँपाते एक विलम्बित लय में आगे बढ़ते चलते है। हमारा छायावादी कवि भी अपनी अनुभूतियों में इतना भिना होता है कि जैसे उसका मदावशेष उतरता ही नहीं दीखता। उसकी पीड़ा वह मीठा शूल है जो ऐसा दर्द देता रहता है, जिसका अधिकाश भीतर ही अननुभूत गड़ा रहता है। उसके अन्तर में छवि के शत-शत शूल चुभे हैं।

'छाया'-युगीन प्रतीक

आज काव्य में प्रतीकों की बड़ी चर्चा है। शब्द अथवा व्यष्टि-गत अर्थ के प्रसंग में ही नहीं, पूरे के पूरे काव्य-प्रबन्ध को ही प्रतीक अथवा प्रतीकात्मक काव्य कहा जाने लगा है। पूरी की पूरी कविताएँ प्रतीक रूप में रचित होती हैं। वेद के 'प्रतीकं मे विचक्षणम्' के बावजूद, आज हिन्दी-साहित्य में 'प्रतीक' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में उस अर्थ में, स्यात्, नहीं आया है। भारतीय साहित्य-शास्त्र में 'उपलक्षण' शब्द आया है, 'एकपदेन तदर्थान्यपदार्थ-कथनमुपलक्षणम्' के अनुसार जब कोई वस्तु-नाम इस रूप में प्रयुक्त हो कि वह वस्तु उस गुण में अपने समान अन्य वस्तुओं का भी बोध करादे, तो वह शब्द 'उपलक्षण' रूप में प्रयुक्त कहा जायगा। यह प्रतीक शब्द आज के अर्थ में नव-गृहीत है और अंग्रेजी के 'सिम्बोल्' शब्द का पर्याय है।

वस्तुतः 'प्रतीकवाद' पाश्चात्य जगत् में एक व्यापक साहित्यिक आन्दोलन के रूप में चला है। १९ वीं शती के अन्तिम अंश में, फ्रांस में 'प्रतीक-वाद' ('सिम्बोलिक स्कूल') का प्रादुर्भाव हुआ और वह फ्रांस के काव्य-साहित्य की सीमा में ही न बँधकर, साहित्य एवं कला के अन्यान्य रूपों को भी प्रभावित करता हुआ महाद्वीप की सीमाओं को पार कर, अमरीका तक फैला। फ्रांस के मलार्मे, वर्लेन, बोदलेयर, प्रूस्त एवं वालेरी आदि कवियों में यह पल्लवित हुआ और अमरीका के हर्यार्ने और इंगलैण्ड के इलियट आदि कवियों को भी इसने प्रभावित किया। बाद के कवि शुद्ध प्रतीकवादी न कहे जाकर उसके उत्तरकालीन सम्प्रदायों में परिगणित होते हैं। भारत का नवीन प्रयोगवादी काव्य-निकाय भी इससे प्रभावित है। वैसे प्रत्येक देश-समाज का काव्य वहाँ की भूमि और विशिष्ट परिस्थितियों से सम्पृक्त होने के कारण, अपनापन तो लिये ही होता है; किन्तु इसमें दो मत नहीं कि हिन्दी प्रयोगवादी कवि भी वैचारिक और साहित्य-सैद्धान्तिक रूप में प्रतीकवादी धारा से प्रभावित और सहमत हैं। परम्परा के महत्त्व को प्रमुखता एवं वरीयता देकर चलने वाले हिन्दी-काव्यादर्शों की दृष्टि से, प्रयोग को प्राथमिकता देने वाले इस काव्य पर ऐसा कहना, अतिरंजित नहीं।

ये पाश्चात्य प्रतीकवादी, कलातंत्र के विरुद्ध खड़ी होने वाली पुरोहितवादिता (क्लेरिसिज़्म) के प्रतिनिधि भी कहे गये हैं। सौन्दर्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण के साथ-

साथ आदर्शवादिता, प्रतीकात्मकता एवं सूक्ष्मवादिता भी इनकी प्रवृत्तियाँ थीं। काट, शेलिंग, हीगेल एवं शापेनहोवर, वैग्नर आदि के आदर्शवादी दर्शन भी इनके प्रेरणाधार थे। प्रतीकवादी धारा के स्तम्भ श्री मलार्मे ने स्पष्ट कहा था कि कविता का आनन्द तभी मिलता है जब उसे क्रमशः अंशों में समझते हुए रस लिया जाय। स्पष्ट कह देने में कविता का तीन चतुर्थांश रस नष्ट हो जाता है। सकेत और प्रबुद्ध करने वाला कथन ही मन को प्यारा होता है। प्रतीक-वाद को समझने के लिए यह कथन बडा ही अर्थ-पूर्ण है। प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति में जिज्ञासा को प्रबुद्ध करने और सूक्ष्म झलक देने की पद्धति प्रमुख होती है। स्थूल रूप से तो नहीं, किन्तु मूल-चेतना एव अन्तिम लक्ष्य की दृष्टि से प्रतीक-वाद बिम्ब-वाद अथवा ध्वनि-वाद की ही कोटि में आवेगा।

ये प्रतीकवादी न केवल व्यक्ति-व्यक्ति की अनुभूति, सवेदना एवं बोध में अन्तर मानते हैं, वरन् प्रत्येक भाव, अनुभव एवं सवेदना का भी अलग-अलग अस्तित्व स्वीकार करते हैं। वस्तु के अनुभव और उसकी अभिव्यक्ति की प्रक्रिया भी, उनके अनुसार इतनी त्वराशील है कि भाषा का सामान्य सामाजिक रूप उसकी अभिव्यक्ति में अत्यन्त अपूर्ण-असमर्थ है। परस्पर एक शृखला में आनेवाले भावानुभव भी अपनी निजता एव इकाई में इतने भिन्न एवं स्वतत्र होते हैं कि उन्हें पकड कर तद्वत् अभिव्यक्ति दे पाना बडा कठिन है। अभिव्यक्ति-कर्त्ता कवि का भी अपना विशिष्ट व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोण होता है। यहीं प्रत्येक अनुभव और प्रत्येक व्यक्तित्व की विशिष्टता को स्वीकृति देकर, प्रतीकवादी भारतीय 'साधारणीकरण' से भिन्न अपनी मान्यता तो स्थापित ही करता है, भाषा एव प्रयोग को भी महत्त्व प्रदान कर देता है। जब हमने व्यक्ति की विशिष्टता एव उसके अनुभवों की व्यष्टि-गत विशेषता को मान लिया तो अभिव्यंजन के नवीन पथों की खोज, नये शिल्प की आवश्यकता और नव्य प्रतीकों को अपने आप स्वीकृति मिल जाती है। अनुभूतियों एवं सवेदनों को अत्यन्त सूक्ष्म, रहस्यमय एव अग्रहणीय मानलेने से उनके स्पष्ट वाच्य-कथन की शर्त भी छूट जाती है। जब संकेत और सूक्ष्म मार्मिक झलक ही सम्भव है तो प्रतीकों का महत्त्व भी भाषा एव भावाभिव्यक्ति में अनुपेक्षणीय हो जाता है। नवीन प्रतीक इसी व्यंजना के माध्यम के रूप में अनिवार्य हो जाते हैं। समाज द्वारा स्वीकृत भाषा को एक सीमित सामाजिक-व्यावसायिक माध्यम मान लेने पर, बिम्ब एव ध्वनि मूलक प्रतीकों के द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म सवेदनों को व्यंजित करना कवि का महत्त्वपूर्ण एव व्यक्तिगत उत्तरदायित्व हो जाता है। मलार्मे ने तो संवेदन (सेन्सेशन) को इतना महत्त्व दिया कि विचार-गत बोध, बुद्धि एवं भावना

महत्त्व-हीन बन गये। अन्तर्मन के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर कम्पन कविता के शिल्प में स्वरूप पाने लगे। दृश्य जगत् को झूठ मान उसे अलौकिक जगत का आभास-मात्र मानने वाले ये प्रतीकवादी अपने अतिरेकों में अस्पष्ट एवं गुह्य भी हो गये, किन्तु संगीत और ध्वनि को प्रधानता देने के कारण भाषा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्ति-सम्भावनाओं का निर्देश उनके द्वारा अवश्य हुआ। मलार्मे में रहस्य-तत्त्व भी समाविष्ट था, पर 'अभिजात अथवा शास्त्रीय' साहित्य (क्लासिकल) के विचार-तत्त्व तथा 'रोमानी-साहित्य' की भावनाशीलता को गर्ह्य ठहराकर, ऐन्द्रिक चेतना अथवा ऐन्द्रिय सम्वेदन को महत्त्व देने के कारण, उनने भाषा के शब्दों को संवेदनों (सेन्सेशन्स) का प्रतीक माना। शब्दों को संवेदनों का प्रतीक मानने से, समस्त काव्य-गत भावानुभूतियाँ वस्तुतः मूल भावानुभूतियों का शब्द-बद्ध प्रतीक ही सिद्ध होती हैं। समग्र भाषा व्यापार को ही प्रतीक व्यापार मानने के कारण इस धारा का नाम काव्य में 'प्रतीक वाद' पड़ा।

प्रतीक-वादी इन कवियों के प्रतीक-अर्थ और आज के काव्य में प्रतीक के सामान्य अभिप्राय में बड़ा भेद भी हो जाता है। प्रतीकवादी यह वर्ग, समस्त काव्य-प्रक्रिया को—भाषा में भावानुभूति की अभिव्यक्ति को ही प्रतीक-प्रक्रिया मानता है, जब कि एक इतर सामान्य कवि उसे अभिव्यक्ति-पद्धति का मार्ग-विशेष ही स्वीकार करता है। छायावाद के विवेचन में श्री अवध उपाध्याय एवं आचार्य 'शुक्ल' जी ने 'छायाभास' (फैंटास्मेटा) की चर्चा की है, और कितने ही आचार्यों-आलोचकों ने छायावाद के निरूपण के प्रकरण में उसे 'प्रकृति में आत्मा का प्रतिबिम्ब' घोषित किया है। लगता है, छायाभास और प्रतिबिम्ब की इसी भूमिका में 'शुक्ल' जी ने उसे पाश्चात्य 'प्रतीक-वाद' से प्रेरित माना था। 'शुक्ल' जी को लगा कि मलार्मे आदि प्रतीकवादी कवि सुबोधता को प्रतीकेतर अथवा अप्रतीकात्मक (प्रतीक से भिन्न) मानते हुए, रहस्यात्मकता अथवा अस्पष्टता को जानबूझ कर कविता के लिए आवश्यक मानते थे, इसी प्रकार ये छायावादी भी सचेततः हाथ घुमाकर नाक पकड़ते हैं! पाश्चात्य प्रतीकवादियों की प्राय-जिक रहस्यमयता भले ही बढ़े और सिम्बोंद की गोपन-शील अनैतिकता में अधःपतित हुई हो, पर 'छायावाद' अपने युग-जीवन की अभिव्यक्ति का एक सफल श्रेष्ठ माध्यम बनकर, आज के 'प्रगति', 'प्रयोग' एवं 'मानववाद' में युगानुकूल विकास का पल्लवन प्राप्त कर रहा है। पाश्चात्य प्रतीकवाद ने जहाँ तत्कालीन कविता में अभिव्यक्ति-मार्गों की रूढ़ जड़ता को तोड़ा, काव्य एवं संगीत के सन्तुलन पर अवधारण दिया, साहित्य को इतर राजनीतिक नारों से बचाकर उसकी विशुद्धता की रक्षा की और सौन्दर्यवादी दृष्टि को प्रतिष्ठा देते

हुए तुक-हीन एवं मुक्त छन्दों का प्रवेश कराया, वहाँ छायावाद ने भी लाक्ष-णिकता, ध्वन्यात्मकता, उपचार-वक्रता एव प्रतीक-विधान द्वारा तत्कालीन खड़ी बोली की अभिव्यक्ति-शक्ति को अत्यन्त सम्पन्न बनाया है।

'प्रतीक' शब्द प्रति-पूर्वक 'इण्' धातु से बना है। 'गतिः गमनम्, गति प्राप्तिः, गतिर्ज्ञानम्' के अनुसार इसका अर्थ चलना, प्राप्ति या पहुँचना और ज्ञान होता है। 'प्रति'+'इण्' (गतौ) में 'इण्' का 'इ' ही शेष रहेगा। इसमें 'क्विप' प्रत्यय और दीर्घीकरण से 'प्रती' बन जाता है और फिर स्वार्थे 'कप्' प्रत्यय के योग से 'प्रतीक' शब्द सिद्ध हो सकता है। इस सिद्धि के अनुसार 'प्रतीक' का अर्थ हुआ, वह वस्तु जो अपनी मूल वस्तु में पहुँच सके अथवा वह मुख्य चिह्न जो मूल का परिचायक हो। यह शब्द संस्कृत में 'प्रतिमा' 'चिह्न' अथवा 'संकेत' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मन्त्रादि के कुछ अक्षर भी जिनसे पूरे का बोध हो, प्रतीक कहे जाते हैं। मूर्ति-पूजा के प्रसग में 'प्रतीक-पूजा' का उल्लेख भी होता है। मूर्ति किसी देवता अथवा महानात्मा का प्रतिनिधि होती है। हम मूर्ति को पूजकर उस देवता अथवा महानात्मा की पूजा का सन्तोष लेते हैं। हम कहते हैं कि 'जीवन फूल और शूल से निर्मित है' तो हमारा यह अर्थ नहीं होता कि फूल और शूल के अतिरिक्त जीवन में और कुछ है ही नहीं। ऐसे स्थल पर हमारा अभिप्राय होता है, फूल के समान सुखद और शूल की भाँति दुःखद समस्त वस्तुएँ। यहाँ सुखदायकता का गुण रखनेवाले समस्त पदार्थ और दु खदायकता के गुण वाली समस्त वस्तुएँ 'फूल-शूल' की परिधि में खिंच आते हैं। अलग अलग एक पद से उस अर्थ अथवा गुण वाले यावत् पदार्थ संकेतित हैं। ये भारतीयशास्त्र के उपलक्षण से कुछ विस्तृत हैं। नवीन पारिभाषिकों के अनुसार ये पद प्रतीक-रूप में प्रयुक्त कहे जाँयगे।

मेरे विचार से, यह भी विचार कर लेना अनुचित न होगा कि प्रतीक से उसी गुण वाली अन्य सभी वस्तुओं का बोध होता है या उस एक वस्तु या पद के भीतर निहित गुण या धर्म-विशेष का ही सामान्यीकरण होता है? प्रतीक रूप में आयी वस्तु एक विशिष्ट इकाई के रूप में अपना महत्त्व खो बैठती है, इतना तो निश्चित ही है। जब हम फूल का प्रयोग एक विशेष इकाई के रूप में न कर, फूल की भाँति सुखद एव इन्द्रिय-रंजक समस्त पदार्थों के सकेत के निमित्त करते हैं, तो फूल की व्यष्टि-गत सत्ता का सामान्यीकरण हो ही जाता है। 'अमुक व्यक्ति जीवन में केवल फूल चुनता आया है, शूलों से उसका परिचय नहीं,' में फूल के साथ फूल-सदृश अन्य सुखकर पदार्थों का भाव-बोध या शूल के साथ शूलवत् अन्य दु खकर वस्तुओं का चित्र मन मे प्रमुख नहीं होता।

सुननेवाले के मन में फूल और शूल का चित्र एक क्षण को आता है और उसके बाद वह तुरन्त फूल शूल के धर्मों का भावन कर सामान्य संकेतों पर टिक जाता है। प्रतीक का अर्थ यदि चिह्न या परिचायक वस्तु माना जायगा, तो यह निश्चित है कि यह चिह्न जिसका संकेतक है, वह एक सामान्य अथवा सामूहिक जाति-गत भाव ही होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रतीक का संकेत धर्म-विशेष रखने वाले सभी पदार्थों का बोध नहीं, वरन् उन पदार्थों में निहित जाति-गत (कॉमन) सामान्य धर्म ही है। यहाँ एक आनुषंगिक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि फिर उस धर्म विशेष का ही कथन सीधे क्यों न कर दिया जाय, इस अप्रत्यक्ष पद्धति की आवश्यकता क्या है? क्या इस अप्रत्यक्षीकरण से भाव-रस की सिद्धि में अनावश्यक अन्तराय नहीं उपस्थित होता और यदि होता है तो क्या प्रतीक-पद्धति काव्य की आत्मा—भावानुभूति-मूलक रस से दूर बाह्य चमत्कार का मार्ग नहीं है?

वस्तुतः जिस परिवेश में हम रहते हैं, उसकी वस्तु एवं स्थितियों के साथ नित्य परिचय-सम्पर्क से हमारा एक रागात्मक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। उनके प्रति सुखदता अथवा दुःखदता के संस्कार बन जाते हैं, नवीन मनोविज्ञान के अनुसार उन्हें रुख, स्वभाव-कोण अथवा झुकाव (अट्टीचूड) भी कह सकते हैं। ये संस्कार जीवन की निरन्तरता एवं संसर्ग सघनता से उसी प्रकार हमारे 'स्व' के निकट होते जाते हैं अथवा हमसे सम्बद्ध हो जाते हैं, जैसे जीवन का जीव-समवाय—हमारे सहवासी, प्रतिवेशी आदि। उनके बारे में हमारे भीतर भावों का जागरण भी सजीवता के साथ होने लगता है और वे इतने अंग से लगने लगते हैं कि सामान्य धर्मों का प्रत्यक्ष संकेत उनके संकेतों के आगे हलका, अतीव और स्थूल (आब्वुड़)-सा लगता है। किन्तु इसी स्थल पर यह भी जान लेना आवश्यक है कि इसीलिए सफल और सजीव प्रभाव वाले प्रतीक वे ही होते हैं, जो सामान्य जीवन के अत्यन्त निकट और साधारण (औसत) लोगों की रागात्मक सत्ता से अ-दूर पदार्थों में से होते हैं। असाधारण रुचि पर आधारित एवं सामान्य जीवन से अत्यन्त दूर स्थित प्रतीक उद्दिष्ट प्रभाव सृष्टि में असमर्थ सिद्ध होते हैं, क्योंकि उनके साथ पाठक-वर्ग अथवा जन-समाज का भाव-सम्बन्ध निर्मित नहीं हो चुका रहता।

प्रतीक-रूप में प्रयुक्त शब्दों में 'लक्षणा'-शक्ति भी सक्रिय होती है; लक्षणा अभिधा और व्यंजना के बीच की अत्यन्त मनोरम शृंखला कड़ी है। वाच्यार्थ की स्थूलता और व्यंग्यार्थ की सूक्ष्मता के बीच, अपनी चित्रात्मकता अथवा मूर्तिमत्ता से यह आवश्यक सेतु निर्मित करती है। मूर्तिमत्ता से यहाँ ऐन्द्रिक

संवेदनों एवं रोमांचों का पुनरुन्मेष होता है, वहाँ मूर्ति अथवा चित्रगत व्यंजना से संकेतार्थ की उपलब्धि। लक्षणा में अभिधेयार्थ और उसकी मूर्त्तता के पश्चात् ही सूक्ष्म अर्थ का भावन होता है और वह ज्ञानेन्द्रियों की तुष्टि से प्राप्त सुख को सूक्ष्म अर्थ से सम्बद्ध कर उच्चतर आनन्द में परिणत कर देती है। जब सूक्ष्म सामान्य 'धर्म' के आधार पर बने प्रतीक उस 'धर्म'-विशेष के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं, तो पाठक के सम्मुख एक कल्पना-गत बिम्ब उपस्थित होता है। उस बिम्ब के 'धर्म' को 'प्रस्तुत' से सम्बद्ध कर पाठक कवि के उद्दिष्ट अर्थ से आत्म-प्रसाद लाभ करता है। 'धर्म' के स्थान पर 'धर्मी' के प्रतीक-रूप प्रयोग की काव्य में यही उपयोगिता है। इस प्रकार हम प्रतीकों में 'साध्य-वसाना गौणी प्रयोजनवती' अथवा 'धर्म-गत प्रयोजन लक्षणा' (मम्मट) मान सकते हैं।

प्रत्येक युग-समाज के काव्य में उसके नवीन प्रतीक भी बनते चलते हैं, पुराने प्रतीकों को क्रमश. छोड़ता हुआ काव्य, नवीन युग-जीवन एवं नये मूल्यों के परिप्रेक्षित में नये प्रतीक ढूँढता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यह त्याग और ग्रहण उस रूप में और उसी शीघ्रता के साथ होता है, जिस शीघ्रता के साथ राजनीति के अवसरवादी उद्घोष बदलते हैं। समाज के बाह्यागी परिवर्तनों का प्रभाव समाज के अन्तरंग पर भी पड़ता है, पर अपेक्षाकृत धीरे-धीरे और काव्य में तो यह परिवर्तन तुलना की दृष्टि से और भी धीमा होता है। काव्य का प्रवाह एक परम्परा के रूप में प्रवाहित होता है, अतः उसकी प्रत्येक कड़ी में एक पूर्वापर-सम्बन्ध होता है, क्योंकि साहित्य किसी जन-समूह या समाज की अन्तरंग एवं गम्भीर प्राण-धारा का विकास भी होता है, अतः व्यक्ति द्वारा रचित होकर भी, वह वैयक्तिकता की परिधि का बन्दी नहीं होता। एक दिन में न तो समस्त प्रतीक बदले जा सकते हैं और न सर्वथा नवीन प्रतीकों का सर्वांशतः अर्थ ग्रहण ही सम्भव हो सकता है। यह प्रक्रिया धीरे-धीरे समाज की आन्तरिक चेतना-धारा के साथ होती है। सुन्दर और प्रभावशाली प्रतीक भावाभिव्यक्ति में अधिक समर्थ होते हैं। भाव अथवा 'धर्म'-विशेष की अभिव्यंजना में उनकी इसी सामर्थ्यवत्ता के कारण, कुछ प्रतीकों के अर्थ-भावन में 'लक्षणा' की वैसी सचेत प्रक्रिया नहीं चलती, जैसी साधारणत. हुआ करती है। सहृदय-मन तुरन्त श्रवण अथवा पाठ से ही उनकी अनुभूति कर लेता है। प्रतीकों के अर्थ-भावन में, लक्षणा व्यापार की इसी सजगता-असजगता के मात्रा-भेद पर प्रतीकों की कोटियाँ भी निश्चित की जा सकती हैं।

शुद्ध प्रतीक—हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में प्रतीकों के बारे में पर्याप्त अराजकता दिखाई पड़ती है। वस्तुतः छायावादी काव्य की अन्यान्य प्रवृत्तियों में प्रतीकात्मकता को भी गिनाकर, हमारा औसत आलोचक उसकी शास्त्रीय विवेचना में बहुत कम उतरा है। यही कारण है कि उपमान रूप में आये शब्दों को भी हम प्रतीक कह कर चलता कर देते हैं। मेरे विचार से, शुद्ध प्रतीकत्व की अवतारणा वहीं होती है, जहाँ हम किसी व्यापक 'धर्म' अथवा प्रभाव-गुण के लिए उसका प्रत्यक्ष कथन न कर, उस 'धर्म' वाले अनेकानेक पदार्थों में से किसी एक ऐसे पदार्थ को ही उस धर्म के स्थान पर प्रयुक्त कर देते हैं। पाश्चात्य प्रतीकवादी धारा से परिचित हिन्दी-समीक्षक, कभी-कभी अभिव्यक्ति में आये साम्य-मूलक सामान्य उपकरणों को भी प्रतीक कह जाते हैं। वस्तुतः इस काल में उनका ध्यान पाश्चात्य प्रतीकवाद की उस दर्शन-भूमिका पर अधिष्ठित रहता है जो दृश्य जगत् को वास्तविक सृष्टि मानता ही नहीं, और वास्तविक सृष्टि को अलौकिक और शाश्वत मानते हुए इस इन्द्रिय-ग्राह्य जगत् को उसका असत् रूप (डिस्टॉर्शन्) मानता है। इस दृष्टि से समस्त काव्यात्मक अभिव्यक्ति ही प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है: भाषा स्वयं प्रतीकों की समष्टि और हर शब्द एक भाव अथवा विचार का प्रतीक है। साहित्य में प्रतीकों पर विचार करते समय हमें इस मूल-गत विचार को मानते हुए, उससे आगे विवेचन करना होगा, अन्यथा ब्रह्म-चर्चा की भाँति पूर्ण मौन ही सत्य-कथन का मात्र मार्ग रह जायगा।

शुद्ध प्रतीकों में 'धर्मी' से 'धर्म' अथवा 'गुणी' से 'गुण'-विशेष तक पहुँचने में 'लक्षणा'-व्यापार असचेत होता है। उस गुण विशेष की उस वस्तु में अन्यान्य गुणों की अपेक्षा इतनी प्रमुखता-आधिकता होती है कि उस वस्तु के नाम-निर्देश मात्र से वह 'धर्म' तुरन्त भावित हो जाता है, 'अभिधेय' की अप्रसिद्धि होने पर 'लक्ष्यार्थ' तक पहुँचने की मानसिक प्रक्रिया उतने प्रबुद्ध रूप में नहीं होती। वैसे प्रारम्भ में किसी भी नये-नये आये प्रतीक के लिए पाठक-मन में 'लक्षणा-व्यापार' अपेक्षित ही होगा, पर निरन्तर प्रयोग से वे अपने उद्दिष्ट 'धर्म' के लिए प्रख्यात होते चलते हैं। इन शुद्ध प्रतीकों में भी दो प्रकार की कोटियाँ हो सकती हैं—एक, ऐसे प्रतीकों की कोटि जो प्रयोग और निरन्तर अभ्यास से 'धर्म'-विशेष के लिए एक प्रकार से रूढ़ हो चले और दूसरे, वे जो कवि की मर्म-स्पर्शिनी प्रतिभा से चुने जाकर ऐसी प्रसंगशिखा में उपस्थित किये जाते हैं कि उस रूप में पहले प्रयुक्त न होकर भी, अपनी विशिष्ट व्यंजना में अत्यन्त सफल होते हैं। ऐसे प्रतीकों को लाने के लिए विशिष्ट एवं असामान्य

प्रमुख होती है। 'उषा का था उर में आवास' में उषा के संकेत-परिवेश (सजेशन आफ असोसियेशन्स) के अनुभावन-परिशीलन में हमें आपाततः 'उर' पर न जाना होगा, वरन् हम प्रथमतः स्वतंत्र रूप से 'उषा' की विशेषताओं का भावन करेंगे और तब 'लक्षणा' से 'उर' पर उनका आरोप करेंगे। इसके ठीक विपरीत, हम उपमान-रूप में आये शब्दों के विषय में, उनके निजी अर्थ-परिवेश को छोडकर पहले 'प्रस्तुत' पर ध्यान देंगे और तब उसकी सापेक्षता में ही हम 'अप्रस्तुत' रूप में आये उस शब्द (वस्तु) के धर्म अथवा धर्मों का चयन करेंगे। मेरी दृष्टि से, प्रतीक और अप्रस्तुत में प्राथमिकता अथवा वरीयता (प्रॉयरटी) का यह भेद प्रमुख, एव अर्थ-ग्रहण की मानसिक प्रक्रिया में महत्त्व-पूर्ण होता है। उपमान की अपेक्षा प्रतीक में अर्थ-विस्तार एवं वैविध्य की सम्भावना अधिक होती है। अधिकाधिक अर्थ—छायाओं के द्वारोन्मोचन की सम्भावना, और एक मूल व्यापक भाव की सार्वभौमता—प्रतीक की ये दो विशेषताएँ हैं। प्रतीकों में, इनमें से एक भावना अवश्य प्रधान एव महत्त्वपूर्ण होती है। जब अनेक संकेतों की शक्ति प्रमुख होती है, तो ये प्रतीक साधारण अप्रस्तुतों की सीमित अर्थवत्ता से बहुत आगे बढ जाते हैं :—

'उषा का था उर में आवास, मुकुल का मुख मे मृदुल विकास।'
['पन्त']

—में उषा ताजगी, निश्छलता, भोलेपन, स्फूर्ति, अनुरंजकता आदि कितने ही अर्थ-पक्षों को एक साथ अनावृत कर देती है, मुकुल कोमलता, आह्लादकता, अनुक्षण विकास, सौन्दर्य के अछूतेपन आदि अनेक अर्थ-संकेतों की विवृति करता है। रात्रि के अंधकार के पश्चात् उषा के उदय और सम्पन्न डाली पर मुकुल के खिलने की स्थिति की समस्त विशेषताएँ मन में नाँच उठती हैं।

जिन प्रतीकों में एक मूल-गत व्यापक भाव की सार्वभौमता प्रतिष्ठित होती है, वे बडी सघनता एवं तीव्रता के साथ, अपने समान गुण-भाव वाले पदार्थों की समष्टि को बिजली की एक कौंध की भाँति, पाठक या सहृदय के मन मे झलकाते हुए मुख्य भाव की निष्पत्ति करते हैं। जीवन की अनेकरूपता की अनुभूति थोडे मे, एक मेले की भावना से हो सकती है और सहृदय का मनोलोक, सासारिक आकर्षणों एवं कोलाहलों की अल्पकालिकता की अनुभूति से सहजतः छाया जा सकता है—

"मैं अकेला,
देखता हूँ, आ रही
मेरे दिवस की सान्ध्य वेला।

पके आये बाल मेरे,
हुए निष्प्रभ गाल मेरे
चाल मेरी मन्द होती आ रही
हट रहा मेला।"

['निराला'—'गीतिका']

निम्न पंक्तियों में आँसू समस्त व्यथा-वेदना के प्रतीक के रूप में आये हैं—

"किसी ने लिखी आँसुओं से कहानी,
किसी ने पढ़ा किन्तु दो बूँद पानी।"

—[शम्भूनाथ सिंह—'छायालोक']

अपने 'गीत-वितान' में श्री-जानकी वल्लभ शास्त्री जी ने चित्र को 'नाम रूप' जग का प्रतीक बनाया है—

"किसका रंग कि किसकी रेखा?
प्राण छोड़कर तन का लेखा!
मैंने ऐसा चित्र न देखा—
जिसमें स्वर हों सप्त बिखेरे!
रूप-चितेरे, रूप चितेरे!"

['युग-चेतना', वर्ष १, अंक, ९ पृ० ९]

'प्रसाद' जी ने यौवन-काल की मधुरता-मयी भावना-समष्टि को केवल एक 'रस' प्रतीक से व्यंजित किया है—

"यौवन तेरी चंचल छाया।
इसमें बैठ घूँट भर पी लूँ जो रस है तू लाया।"

['ध्रुवस्वामिनी', पृ० ४०]

'लज्जा' का अंचल नीली किरनों से बुना और सौरभ से सना है। नीली किरणें प्रतीक हैं—मन की प्रकट होने वाली बात को मन की अबोधता से ही छिपा रखने को बाध्य करनेवाले दुरावों, तथ्यों को न समझकर भी उन्हीं में छिपे रहने की वृत्ति और इस वृत्ति को समझ में न आने वाली स्पृहणीयता की मानसिक स्थिति का। 'नीली' विशेषण अजानेपन की रमणीयता को अपने वर्ण-प्रभाव से सचित्र करता है। 'नीली किरणों' से भी सुन्दरतर और स्पष्टतर प्रतीक है 'सौरभ'। यहाँ सौरभ का व्याकरणगत अर्थ 'गन्ध' लक्ष्य नहीं है, यहाँ सौरभ अनेक सुखद एवं आह्लादिका लालसाओं और इच्छाओं का प्रतीक बनकर आया है—

प्रमुख होती है। 'उषा का था उर में आवास' में उषा के संकेत-परिवेश (सजेशन आफ् असोसियेशन्स) के अनुभावन-परिशीलन में हमें आपाततः 'उर' पर न जाना होगा, वरन् हम प्रथमतः स्वतत्र रूप से 'उषा' की विशेषताओं का भावन करेंगे और तब 'लक्षणा' से 'उर' पर उनका आरोप करेंगे। इसके ठीक विपरीत, हम उपमान-रूप में आये शब्दों के विषय में, उनके निजी अर्थ-परिवेश को छोडकर पहले 'प्रस्तुत' पर ध्यान देंगे और तब उसकी सापेक्षता में ही हम 'अप्रस्तुत' रूप में आये उस शब्द (वस्तु) के धर्म अथवा धर्मों का चयन करेंगे। मेरी दृष्टि से, प्रतीक और अप्रस्तुत में प्राथमिकता अथवा वरीयता (प्रॉयरटी) का यह भेद प्रमुख, एव अर्थ-ग्रहण की मानसिक प्रक्रिया में महत्त्व-पूर्ण होता है। उपमान की अपेक्षा प्रतीक में अर्थ-विस्तार एवं वैविध्य की सम्भावना अधिक होती है। अधिकाधिक अर्थ—छायाओं के द्वारोन्मोचन की सम्भावना, और एक मूल व्यापक भाव की सार्वभौमता—प्रतीक की ये दो विशेषताएँ हैं। प्रतीकों में, इनमें से एक भावना अवश्य प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण होती है। जब अनेक सकेतों की शक्ति प्रमुख होती है, तो ये प्रतीक साधारण अप्रस्तुतों की सीमित अर्थवत्ता से बहुत आगे बढ जाते हैं —

'उषा का था उर मे आवास, मुकुल का मुख में मृदुल विकास।'
['पन्त']

—में उषा ताजगी, निश्छलता, भोलेपन, स्फूर्ति, अनुरजकता आदि कितने ही अर्थ-पक्षों को एक साथ अनावृत कर देती है, मुकुल कोमलता, आह्लादकता, अनुक्षण विकास, सौन्दर्य के अछूतेपन आदि अनेक अर्थ-सकेतों की विवृति करता है। रात्रि के अधकार के पश्चात् उषा के उदय और सम्पन्न डाली पर मुकुल के खिलने की स्थिति की समस्त विशेषताएँ मन में नाँच उठती हैं।

जिन प्रतीकों में एक मूल-गत व्यापक भाव की सार्वभौमता प्रतिष्ठित होती है, वे बडी सघनता एव तीव्रता के साथ, अपने समान गुण-भाव वाले पदार्थों की समष्टि को बिजली की एक कौंध की भाँति, पाठक या सहृदय के मन मे झलकाते हुए मुख्य भाव की निष्पत्ति करते हैं। जीवन की अनेकरूपता की अनुभूति थोडे में, एक मेले की भावना से हो सकती है और सहृदय का मनोलोक, सासारिक आकर्षणों एवं कोलाहलों की अल्पकालिकता की अनुभूति से सहजतः छाया जा सकता है—

"मैं अकेला,
देखता हूँ, आ रही
मेरे दिवस की सान्ध्य वेला।

पके आधे बाल मेरे,
हुए निष्प्रभ गाल मेरे
चाल मेरी मन्द होती आ रही
हट रहा मेला।"

['निराला'—'गीतिका']

निम्न पंक्तियों में आँसू समस्त व्यथा-वेदना के प्रतीक के रूप में आये हैं—

"किसी ने लिखी आँसुओं से कहानी,
किसी ने पढ़ा किन्तु दो बूँद पानी।"

—[शम्भूनाथ सिंह—'छायालोक']

अपने 'गीत-वितान' में श्री-जानकी वल्लभ शास्त्री जी ने चित्र को 'नाम रूप' जग का प्रतीक बनाया है—

"किसका रंग कि किसकी रेखा?
प्राण छोड़कर तन का लेखा!
मैंने ऐसा चित्र न देखा—
जिसमें स्वर हों सप्त बिखेरे।
रूप-चितेरे, रूप चितेरे।"

['युग-चेतना', वर्ष १, अंक, ९ पृ० ९]

'प्रसाद' जी ने यौवन-काल की मधुरता-मयी भावना-समष्टि को केवल एक 'रस' प्रतीक से व्यंजित किया है—

"यौवन तेरी चंचल छाया।
इसमें बैठ घूँट भर पी लूँ जो रस है तू लाया।"

['ध्रुवस्वामिनी', पृ० ४०]

'लज्जा' का अंचल नीली किरनों से बुना और सौरभ से सना है। नीली किरणें प्रतीक हैं—मन की प्रकट होने वाली बात को मन की अज्ञेयता में ही छिपा रखने को बाध्य करनेवाले दुरावों, तथ्यों को न समझकर भी उन्हीं में डूबे रहने की वृत्ति और इस वृत्ति की समझ में न आने वाली स्पृहणीयता की मानसिक स्थिति का। 'नीली' विशेषण अजानेपन की रमणीयता को अपने वर्ण-प्रभाव से सचित्र करता है। 'नीली किरणा' से भी सुन्दरतर और स्पष्टतर प्रतीक है 'सौरभ'। यहाँ सौरभ का व्यष्टि-गत अर्थ 'गंध' लक्ष्य नहीं है, यहाँ सौरभ अनेक सुखदा एवं आह्लादिका लालसाओं और इच्छाओं का तीक बनकर आया है—

"वरदान सदृश हो डाल रही
नीली किरणों से बुना हुआ,
यह अंचल कितना हलका-सा
कितने सौरभ से सना हुआ।"

—['कामायनी']

'पन्त' जी के 'काँटों ने भी पहने मोती' में काँटे संसार के समस्त कठोर और निर्मम पदार्थों के प्रतिनिधि के रूप में आये हैं और कठोरता मुख्य एवं व्यापक भाव है।

अप्रस्तुनात्मक प्रतीक—ऐसे प्रतीकों को प्रतीकात्मक उपमान या उपलक्षण भी कहा जा सकता है। ये 'अप्रस्तुत'—रूप में आकर अपनी अर्थवत्ता और संकेतात्मकता के लिए 'प्रस्तुत' के मुखापेक्षी नहीं होते। उपमा में दोनों पक्षों में भिन्नता स्पष्ट कथित होती है, रूपक में दोनों का कथन करते हुए भी 'प्रस्तुत' पर 'अप्रस्तुत' का आरोप करते हैं और दोनों को एकरूपता प्राप्त कराते हैं। प्रतीक इस समानता की वह चरम सीमा है जहाँ एक प्रकार से 'अप्रस्तुत' में ही 'प्रस्तुत' आरोपित हो जाता है। 'रूपकातिशयोक्ति' की भाँति यह आरोप ध्वनित या अनुगम्य नहीं होता, वरन् 'अप्रस्तुत' का एक प्रस्तुतवत् स्वतंत्र अस्तित्व बन जाता है, जिसमें वह प्रस्तुत अपना अर्थ रखता हुआ भी, एक व्यापक भाव के विस्तार में अपने अन्य सहधर्मियों को भी समाविष्ट कर लेता है। भारतीय दार्शनिक पदावली में यदि कहा जाय तो कह सकते हैं कि जैसे परमात्मा-स्वरूप आत्मा विलग होकर अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व बना लेता है, वैसे ही 'प्रस्तुत' की अप्रस्तुतता से उद्भूत होते हुए भी प्रतीक अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की सप्राणता में अप्रस्तुतत्व की सीमाओं को डुबो कर, सम्बद्ध किन्तु स्वतन्त्र अर्थ-साहचर्य से युक्त एक निजी व्यक्तित्व बना लेता है। जैसे परमात्मा अपनी अभिव्यक्ति के लिए आत्मा को माध्यम बनाता है, उसी प्रकार 'प्रस्तुत' भी अपनी अभिव्यंजना के लिए प्रतीक की स्वतन्त्र सत्ता की विशिष्टताओं पर आधृत हो जाता है। ये प्रतीक जब अपनी स्वतन्त्र अर्थवत्ता को छोड़कर प्रकरण या प्रसंग से अर्थवत्ता ग्रहण करने लगते हैं, तो क्रमशः गौण होने लगते हैं और धीरे-धीरे प्रतीकत्व की सीमा से उतर कर उपमान या अप्रस्तुत की परिधि में प्रवेश करने लगते हैं।

'पन्त' जी के—

'काँटों ने भी पहने मोती'

—में 'काँटों' तो

कठोरता के एक मूलवर्ती भाव की व्यापक समानता पर आधृत हैं; अतः वे अपने कठोरता-धर्मी समस्त स-वर्गीयों का प्रतिनिधित्व भी करते हैं। मोती का 'आँसू' अर्थ उज्ज्वलता, गोलाकारता, द्रवता आदि अपेक्षाकृत स्थूल साम्यों पर आधृत है। मोती की व्यंजना 'आँसू' ही तक सीमित हो सकती है, वह एतद्धर्मी अन्य पदार्थों की वर्गगत व्यंजना नहीं कर सकता। यह अर्थ इस प्रकरण-विशेष से सीमित और शासित है। 'मोती' में उपमानत्व या अप्रस्तुतत्व उभरा हुआ है। नीचे के छन्दों में उपमानों में प्रतीकत्व भी है—

"झंझा-झकोर गर्जन था,
बिजली थी नीरद-माला,
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला।"

—['आँसू']

झंझा, झकोर, गर्जन, बिजली और नीरद-माला हृदय में उठने वाली तीव्र विक्षुब्धता की साँसों, सहसा जगनेवाली व्यथाओं और निराशा-भरी उदासी आदि के लिए आये हैं। अप्रस्तुतता इसलिए है कि इन प्राकृतिक स्थितियों की समानता में वियोगी के हृदय की विरह-गत विशिष्ट दशाओं का संकेत मिलता है। प्रतीकता इस कारण है कि इन प्रकृति-रूपों में अनेकानेक संकेत भरे हैं और झटके के साथ बहने, सहसा चमक उठने और छा लेने की परिस्थितियों के ही समान धर्म वाली मन की विविध आन्तरिक स्थितियाँ हैं। हृदय की स्थितियों के अतिरिक्त इस 'धर्म' के आधार पर स्वर्गीयता की व्यंजना-परिधि अत्यन्त संकुचित है। ये धर्म इतने व्यापक नहीं कि यहाँ 'प्रस्तुत'-'अप्रस्तुत' की पारस्परिकता से आगे बढ़कर किसी बृहत्तर सार्वभौमता को स्पर्श करें।

"विष-प्याली जो पी ली थी,
वह मदिरा बनी नयन में।
सौन्दर्य पलक प्याले का
अब प्रेम बना जीवन में।।"

—['आँसू']

विष-प्याली और मदिरा प्रेम की कड़वी घूँट और बाद के प्रेमोन्माद के लिए आये हैं। मदिरा अप्रस्तुतता के साथ-साथ मतवालेपन के धर्म वाला प्रतीक भी है।

इसी प्रकार—

"हृदय धूल में मिला दिया है,
उसे चरण-चिह्न सा किया है,
खिले फूल सब गिरा दिया है,
न अब बसन्ती बहार कोकिल।"

—['स्कन्दगुप्त']

× × ×

"बंशी को बस बज जाने दो
मीठी मीड़ों को आने दो
आँख बन्द करके गाने दो
जो कुछ हमको आता है।
यह जीवन बीता जाता है।"

—[वही]

उपर्युक्त छन्दों में फूल, वसन्त, वशी और मीड-शब्द धर्म-विशेष के धर्मी होने के नाते प्रतीकता, और अन्तर के किसी समानान्तर भाव से सादृश्य के कारण उपमानता भी रखते हैं।

"वहाँ नयनों में केवल प्रात, चन्द्र-ज्योत्स्ना ही केवल गात,
रेणु ही छाये रहते पात, मन्द हो बहती सदा बयार।
हमे जाना उस जग के पार।"

['निराला']

उपर्युक्त छन्द में प्रात और रेणु आशा-स्फूर्ति और शीतलता के प्रतीक हैं, पर ज्योत्स्ना शरीर के धर्मों के साम्य में नियोजित होने से अप्रस्तुतत्व वहन करती है। चन्द्रिका और अंधेरी सुख-दुख के प्रतीक होने पर भी निम्न चरण में उपमान-वत् आये हैं—

'लिपटे सोते थे मन मे
सुख दुख दोनों ही ऐसे,
चन्द्रिका अँधेरी मिलती
मालती कुंज मे जैसे।"

['आँसू']

डा० रामकुमार वर्मा ने आँसू को करुणा के प्रतीक के रूप में लिया है, पर रूपकत्व के कारण अप्रस्तुतत्व भी प्रकट है—

"यह जीवन तो छाया है
केवल सुख दुख की छाया,
मुझको निर्मित कर तुमने
आँसू का रूप बनाया।"

बच्चन जी ने भी जीवन की शक्तियों के लिए 'लोहू' का प्रतीक लिया है, पर जीवन को गायन का रूपक देने पर लोहू (मूल्यवान अनुभूति) पर स्याही का प्रच्छन्न आरोप भी ध्वनित होता है—

"मैं समझूँगा सब व्यर्थ हुआ—
भींगी ठण्डी रातों में जग
अपने जीवन के लोहू से लिखना अपना जीवन-गायन !
सुखमय न हुआ हुआ यदि सूनापन !"
['एकान्त संगीत', पृ० ११४]

विष जीवन की कटुता के लिए प्रतीक-रूप में गृहीत है और विपत्तियों की समानान्तरता से अप्रस्तुतत्व भी विद्यमान है—

"विष का स्वाद बताना होगा।
ढाली थी मदिरा की प्याली,
चूसी थी अधरों की लाली,
काल-कूट आनेवाला अब देख नहीं घबराना होगा।
विष का स्वाद बताना होगा !"
[वही, पृ० १०२]

"धरती पर आग लगी—पंछी मजबूर है,
क्योंकि आसमान बड़ी दूर है।
उड़-उड़ जुगनू हारे
कब बन पाये तारे
अपने मन का पंछी
किस बल पर उड़ता रे,
प्रश्न एक पवन के प्रमाद में मुखर हुआ
पंछी को धरती पर जलना मंजूर है।"
[विद्याधर द्विवेदी, 'बबूल के फूल']

नीचे की पंक्तियों में दीप आशा के लिए आया है—

"दीप की लौ बुझ रही है !
छा गई इसके चतुर्दिक
फिर तमिस्रा की उदासी,
चाहती रहना सजग, पर
स्नेह की यह घोर प्यासी
मैं इसे उसका रहा हूँ
किन्तु छल चलता नहीं है ।"

[मानव'-'अवसाद', पृ० ४६]

निम्न छन्द में किरन चितवन का अप्रस्तुत बन आयी है और प्रतीकता भी सँजोये हुए है—

"बरस कर कुहक चाँदनी का गगन में,
प्रणय ज्वार भरता रहा सिन्धु-मन में ।
नयन-कोर की एक भोली किरन पर हृदय में अतल सिंधु
हो ला रही तुम ।"

['ज्योति-तरी', पृ० ३१]

दूब नवीन भाव-विचारों का प्रतीकात्मक उपमान है—

"नये नये विश्वासों की परती
नयी नयी दूबों से आन मिली ।"

['संघर्ष-तरी', पृ० ८०]

नरेन्द्र जी की निम्न पंक्तियों में ज्योति आशा के अप्रस्तुत के रूप में भी उपस्थित की गयी है—

"तिमिर माया-जाल को हर,
ज्योति से जीवन गया भर,
रहेगा ज्योतित निरन्तर,
ज्योति चुम्बन से हृदय के दीप की बाती जली !
घर-घर जली दीपावली !"

['पलाश वन', पृ० २३]

निम्न पंक्तियों में श्री शम्भूनाथ सिंह ने चित्र को जीवन के अनेक रूपों का अप्रस्तुत भी बनाया है—

'समय की शिला पर मधुर चित्र कितने किसी ने बनाये,
किसी ने मिटाये ।'

['छायालोक', पृ० १]

सावन की बरसात आँखों के प्रकरण में आँसुओं की झड़ी का अप्रस्तुत है। प्रतीकता उपमानत्व के स्तर पर खडी हो गई है—

"खो डाला है रोकर गाकर कितनी ही चाँदी की रातें
आँखों मे ही रोका मैंने सावन-सी अनगिन बरसातें।"

[रमानाथअवस्थी, 'आग-पराग']

किन्तु निम्न पंक्तियों में—

'खोज रहा हूँ पंथ प्रात का मैं रजनी के सूनेपन में।'

[वही]

× × ×

"मैंने सब को गंगा-जमुना दे डाला।
पर फिर भी सबने आग हृदय में पाला॥"

[वही]

'प्रात', 'गंगा-जमुना' और 'आग' शुद्ध प्रतीकों की श्रेणी में आयेंगे, क्योंकि 'प्रात' यहाँ एक सामान्य धर्म, विपत्तियों से मुक्ति पाने से प्राप्त सुख-सन्तोष और स्फूर्ति के व्यापक भाव में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ धर्मी से उसके धर्म-विशेष का सकेत ही मुख्य है, कोई सीधा प्रकट या प्रच्छन्न अप्रस्तुत नहीं निश्चित किया जा सकता। 'गंगा-जमुना' का उद्दिष्ट अर्थ पावनता, पवित्रता और निर्मलता से है जो उक्त धर्मी का धर्म है। 'आग' भी विदाहक ईर्ष्या-द्वेषादि भावों के प्रतिनिधि के रूप में प्रयुक्त है। लक्ष्य की यह एकता-अनेकता और कई स-वर्गीयों के प्रतिनिधित्व की विशेषता, शुद्ध प्रतीक की विभेदक विशिष्टता है।

श्री शम्भूनाथ सिंह की निम्न पंक्तियों में 'दीपक' शुद्ध प्रतीक है, क्योंकि उसका लक्ष्य किसी एक उपमेय से नहीं, समस्त सुविधा स्रोतों से है—

"दीपक सभी बुझाकर, बीती सभी भुलाकर,
मन सो रहा कभी का आशा सभी मिटाकर।"

['छायालोक']

'गान' भी जीवनोल्लास का प्रतीक है, ये उल्लास अनेक-रूप हो सकते हैं—

"मुखरित कर मधुर गान मेरे मन कोई।"

—['उदयाचल', शम्भूनाथ सिंह]

इसी प्रकार 'स्वप्न', 'सिन्धु' और 'लहर' भी प्रतीक-प्रयोग हैं, क्योंकि इनके भी समान-धर्मा अनेक वस्तुओं का सकेत है—

"मुझको पुकारती क्यों ?
मैं छोड़ स्वप्न-छाया, इस दूर देश आया।"

[वही]

× × ×

"अपार सिन्धु सामने, मगर न हार मानना
असीम शक्ति बाहु में, अनन्त स्वप्न के व्रती !
तुम्हें लटर पुकारती।"

[वही]

श्री बलबीर सिंह 'रग' नभ को उच्च विचारों का प्रतीक बना देते हैं—

"प्यार है वह जो हमें भू से उठा दे,
प्यार है वह जो हमें नभ से मिला दे।"

['साँझ सकारे']

श्री वीरेन्द्र मिश्र की निम्न पंक्तियों में स्वप्न, चाँद, धूल और गीत भी क्रमशः काल्पनिकता, सुन्दरता, नश्वरता और कला के विशिष्ट धर्मों को लक्ष्यकर प्रयुक्त हुए हैं और शुद्ध प्रतीक हैं—

"स्वप्न के मेले सजाते ही न रहना।
सत्य के ईमान का भी ध्यान रखना॥
चाँद से आखें मिलाते ही न रहना,
धूल के शमशान का भी ध्यान रखना,
गीत का मस्तक झुकाते ही न रहना।
गीत के सम्मान का भी ध्यान रखना।"

—['आजके कवि', पृष्ठ० ७२]

श्री रूपनारायण त्रिपाठी जब नाग, हिरन और बीन का नाम लेते हैं तो वे क्रमशः कला-द्वेषी असहृदयों, भोले कला-प्रेमी सहृदयों एवं भावपूर्ण गीतों के प्रतिनिधि-रूप में आये प्रतीकात्मक प्रयोग ही होंगे—

"हो लहराता नाग कि हो बन का सुकुमार हिरन,
एक भाव से दोनों मेरी बीन सुना करते हैं।"

—['माटी की मुसकान']

इसी प्रकार निम्न पक्तियों में भोर नवीन विचारों के उदय-काल की विशेषताओं के लिए प्रतीक रूप में आयी है—

"अँधियारी रात की गयी-गयी !
झाँक रही भोर है नयी-नयी !!"

—['नीलम, ज्योति और संघर्ष', पृ० ७८]

श्री हंसकुमार तिवारी (विहार) ने तम को अज्ञान और भाषा को विचारों की अभिव्यक्ति के साहस आदि के लिए प्रयुक्त किया है—

"तम में ही मेरा जन्म हुआ, तम में ही होने चला शेप !
मैं तो किस्मत का मारा हूँ, मै शेप रात का तारा हूँ !!"
—['रिमझिम']

× × × ×

"दूँ दुखियों को आशा, मूक कंठ में भाषा,
कहीं नहीं रह पाये जग के बीच निराशा ।"
['आज के कवि', पृ० ४६]

श्री रवीन्द्र भ्रमर ने प्रेम के प्रथम आह्वान के लिए वंशी के पहले स्वर का प्रतीक उपस्थित किया है—

"वंशी के पहले स्वर,
गूँज उठे भू-अम्बर;
एक स्वर पुकारा तुम्हें गुन एक गीत गया ।
एक छन निहारा तुम्हें, एक युग वीत गया !!"

इसी प्रकार—

"उतरें देव स्वर्ग से अमृत कलश लिये भूपर !
वंशी करो मुखर !!"

—जैसी पंक्तियों में 'शी कवि के सच्चे काव्य-स्वर और अमृत-कलश जीवन के सर्वोच्च रस के प्रतीक वनकर आये हैं ।

छायावादी युग की चेतना पूर्ण सांस्कृतिक रही है । ये कवि रीतिकालीन कवियों की भाँति समाज-निरपेक्ष रहकर कविता करने वाले नहीं थे । एक रात में ही मार्क्सवादी दृष्टि के जादू से व्यक्ति और समाज को पूर्णतः परिवर्तित कर देने की सम्भावना में विश्वास करने वाले अति-आत्म-विश्वासी आलोचकों के सिवा, दूसरा ऐसा कोई भी विचारशील साहित्य मनीषी न होगा, जो यह न माने कि 'भारतेन्दु-युग' आधुनिक काल का नेत्रोन्मीलन-काल, 'द्विवेदी-युग' जागरण-काल और 'छायावादी-युग' चिन्तन-अनुभावन का काल है । 'द्विवेदी-युग' जहाँ पुराने, रूढ़ भारतीय आदर्शों को ही शाश्वत 'रामबाण' मानकर चलने वाला था, वहाँ छायावादी युग ने मानव-अस्तित्व और मानव-जीवन के मौलिक सूत्रों पर चिन्तन-मनन प्रारम्भ किया है । इस युग की दृष्टि निषेध-वादिनी नहीं, अतः उसने मानव-संस्कृति के अनेक क्षेत्रों से अपना समर्थन किया । काव्य-साहित्य के साथ-साथ इन कवियों ने इतिहास, दर्शन, अन्य

कलाओं एवं सांस्कृतिक सूत्रों को उठाया और जीवन के साथ उनके सामञ्जस्य-समन्वय का भी प्रयास किया। 'भक्ति-कालीन' प्रतीक दर्शनोन्मुख एव प्रत्यय-प्रवण (टेंडिंग 'टुवर्ड्स् कनसेप्ट्स) थे। 'रीतिकाल' प्राकृत घरेलू-जीवन, एवं सज्जा-सम्भार के भंडार के रूप में प्रकृति के स्थल उपादानों तक सीमित रहा। 'भारतेन्दु' और 'द्विवेदी-युग' पुनरावर्तनवादी होने से पूर्व परिपाटी की सँकरी इयत्ता को न पार कर सके। छायावादी कवियों ने सगीत, दर्शन, चित्र-कला, मूर्ति-कला आदि के अध्ययन से भी साहित्य को परिपुष्ट किया। अभिव्यक्ति-क्षेत्र में प्रतीकों के लिए वे प्रकृति की प्रशस्त अछूती भूमियों की ओर तो गये ही, सगीत, चित्र, तक्षण एव दर्शन आदि से भी भाव पूर्ण अभिव्यंजक प्रतीक चयन किये। वीणा, झंकार, तार, वादक, ईमन, प्रभाती, भैरवी, विहाग, मीड, मूर्च्छना आदि प्रतीक सगीत-कला से ही ग्रहीत हैं। रेखा, रंग, तूलिका, चित्रकार, छाया-प्रकाश आदि चित्रात्मकता के प्रतीक चित्र-कला तथा टाँकी, मूर्तिकार, पाषाण आदि प्रतीक मूर्ति-कला के क्षेत्र से संकलित हैं। माया, छलना, नटिनी, विश्व-नर्तिका, कुहेलिका, विराट्, प्रकृति, पुरुष, चेतन, सिंधु, बिन्दु, लहर, जड़ता, चैतन्य आदि दर्शन से सम्बद्ध हैं।

प्रतीक लाक्षणिक प्रक्रिया की निर्मिति है, अत· मूर्तिमत्ता और चित्रात्मकता उनकी विशिष्टता होती है। प्रतीकों का जन्म प्रयोजन को लेकर होता है, अतएव प्रतीक में प्रयोजनवती लक्षणा ही सक्रिय होती है। बहुत से प्रतीक अत्यधिक प्रयोग से विशिष्ट युग अथवा कवि के काव्य में रूढता की ओर भी झुकने लगते हैं। इसके परिणाम दो प्रकार के होते हैं—एक तो यह कि यदि प्रतीक अ-भावमय एव दुर्बल हुआ तो थोड़े ही काल में अपनी रमणीय संकेत-शीलता छोडकर निष्प्राण-सा हाने लगता है, दूसरे, यह कि यदि उस प्रतीक में पर्याप्त जीवन-शक्ति और व्यापक अर्थवत्ता है, तो वह अपने चतुर्दिक् एक सबल भाव मण्डल अथवा सवेदनात्मक विद्युत् केन्द्र बना लेता है और जीवन-जगत् की विविध स्थितियों में अपनी व्यापक अभिव्यक्ति के विद्युत्-संचरण से अर्थ की गहराई, भाव की तीव्रता और सवेदना की सहजता को कई गुना बढा देता है। उर्दू के 'मै' (सुरा), 'पैमाना' (चषक), 'काफ़िला', 'तूर का जलवा', 'गुल', 'चमन', 'बुलबुल', 'बाग़बाँ', 'नशेमन' और 'बर्क' आदि ऐसे ही सजीव प्रतीक हैं। कबीर साहित्य में 'हसा', 'ठगिनी', 'दुलहिन', 'कँवल', 'सखा', 'साजन', 'चादर', 'ताना-बाना' आदि में अपनी सहज भाव-मयता के कारण अत्यन्त प्राणवान् हैं। भक्ति-काव्य में आये 'बिन्दु', 'सिंधु', 'घट', 'पछी', 'फन्द' आदि में भी यही सजीवता है।

सीमित अथवा एकोन्मुखी प्रतीक—प्रतीक जब धीरे-धीरे वस्तु-विशेष के अर्थ में निश्चित से हो जाते हैं, तब इस निश्चितता से उनमें लक्षणा-विच्छित्ति के स्थान पर एक प्रकार की रूढ़ता आने लगती है; फिर वे प्रयोजनवती लक्षणा' के क्षेत्र से 'रूढ़ि लक्षणा' की सीमा के अन्तर्गत चले जाते हैं। छायावादी युग में भी 'निर्गुण पथी' 'हसा' और 'ठगिनी' की भाँति कुछ प्रतीक निश्चितार्थी बन गये हैं। वीणा का अर्थ हृदय, झंकार का अर्थ अनुभूति अथवा भावना, तार का अर्थ सुप्त भाव, क्षितिज का अर्थ इहलोक की सीमा और परलोक का आरम्भ, नौका का अर्थ व्यष्टि-जीवन, धारा का समष्टि-जीवन, लहर का कामना, निर्झर एवं निर्झरिणी का आनन्द स्रोत और चेतना-प्रवाह, ज्वाला का व्यथा, स्वप्न का ईप्सा, शिखा का साधना, दीपक का प्रेमाराधन, किरण का ज्ञान, उषा का जन्म, सध्या का अंत, रात का विपत्ति, अंधकार का अज्ञान, ज्योति का ज्ञान, मध्याह्न का यौवन और प्रात का अर्थ शिशुता के लिए निश्चित-सा हो चला है। इसी प्रकार पतझर वियोग, वसन्त मस्ती, ग्रीष्म दुःखातिरेक, झंझा उत्पात, सावन अश्रु-वर्षा के अर्थ मे भी निश्चित-प्राय हैं। इनमें प्रच्छन्न उपमानत्व आरोपित हो जाता है—

"आज किसी के मसले तारों
की वह दूरागत झंकार,
मुझे बुलाती है सहमी-सी
झंझा के परदों के पार।"

—[महादेवी]

तार, झंकार और झझा उपर्युक्त पक्तियों में ऐसे ही प्रतीक हैं। 'प्रसाद' जी की निम्न पंक्तियों में ज्वाला भी प्रेम के अर्थ मे सीमित है—

"शीतल ज्वाला जलती है,
ईंधन होता दृग जल का;
यह व्यर्थ साँस चल-चलकर
करती है काम अनिल का।"

—['आँसू']

पर निम्न पंक्तियों में मलयानिल और चन्दन में यह बात नहीं, वे अपने शुद्ध प्रतीकत्व की रक्षा करते हुए अपने धर्म-विशेष शीतलता की ही व्यंजना कर रहे हैं—

जिसके कन-कन में स्पन्दन हो,
मन में मलयानिल चन्दन हो

"करुणा का नव अभिनन्दन हो
वह जीवन-गीत सुना जा रे।"
—['चन्द्रगुप्त']

'एकान्त संगीत' में 'बच्चन' जी ने भोर को विपत्ति-मोचन का प्रतीक माना है और तमको निराशा का—

"बहुत सम्भव कुछ न पाऊँ,
किन्तु कैसे लौट आऊँ,
लौटकर भी देख पाऊँगा नहीं मैं भोर!
मुड़ क्यों आज तम की ओर?"
—[पृ० १०२]

'रंग' जी ने पखेरू को हारे मानव के अर्थ में सीमित किया है—

"ओ जीवन के थके पखेरू बढ़े चलो हिम्मत मत हारो।
पंखों में भविष्य बन्दी है, मत अतीत की ओर निहारो॥"

इसी प्रकार बुझती आग में सजग अंगारा, बाधा-विपत्तियों में घिरकर भी सावधान संघर्ष-चेता मानव है, और बहार खुशहाली, माली राष्ट्र-कर्णधारों और मधुवन देश के अर्थ में सीमित है—

"बुझती हुई राख में अब भी
दबे हुए अंगार सजग हैं।"
× × ×
"बीत न जाय बहार मालियों मधुबन की सौगंध।"
—['रंग']

इस प्रकार छायावादी कवियों ने सौन्दर्य-मय प्रतीक-विधान द्वारा भावाभिव्यक्ति को मूर्त्तता, चित्रात्मकता एवं तीव्रता देने के सफल प्रयास किये हैं। 'पन्त' जी के प्रतीक मूर्त्तिमत्ता में बड़े सफल हैं। 'परिवर्त्तन' कविता में उनके प्रतीक-विधान की शक्ति का चरम निदर्शन प्राप्त होता है। छायावन में कूजन करने वाले 'पन्त' के 'गुंजन'-कवि ने अपनी मूर्त्त अभिव्यक्तियों में गहरे रंग भरे हैं और अपने छायात्मक प्रतीकों को जीवन के रूप-रंग से गहरा किया है। 'प्रसाद' जी के प्रतीकों में भावोच्छलता अधिक है। महादेवी के प्रतीक चित्र की तूलिका के चटकीले रंग और छाया-प्रकाश की हलकी-गहरी छायाओं से सँवारे हैं, कहीं व्यथा से सजल, कहीं सुहाग से रंगीन तो कहीं चिन्तन से स-कान्त और सतेज। 'निराला' की प्रतीक-योजना में कहीं दर्शन की व्यापकता और गहराई है, तो कहीं जीवनोष्मता का मांसल प्रसाद। 'बच्चन' जी के

प्रतीक सीधे, खुले और ऐन्द्रिय होते हैं। शम्भूनाथ सिंह के प्रतीकों में कल्पना की चटक और ऐन्द्रिय अनुभूतियों का सन्तुलन मिलता है, तो भारती के प्रतीकों में लाक्षणिक वक्रता के सूक्ष्म एवं अरूप मर्म, जिनकी कल्पना की खुशबू से ही मन गमगमा उठे, पर कड़े हाथों टटोलने पर जैसे हाथ से छूटने लगें या उड़कर दो हाथ ऊपर से ललचाने लगें। 'नरेन्द्र' जी के प्रतीक अपेक्षतया अधिक मांसल होते हैं। 'अंचल' जी के प्रतीकों में शारीरिकता के साथ उर्दू का नाज़ भी झलकता चलता है। श्री बलबीर सिंह 'रंग' के प्रतीकों में सुपरिचय एवं घरेलूपन है। हंसकुमार तिवारी के प्रतीकों में कला एव चिन्तन की चेष्टा जागरूक होती है। जानकीवल्लभ शास्त्री के प्रतीकों में दार्शनिक विस्तार की छाया रहती है।

कुछ कविताएँ ही प्रतीक चेतना मे लिखी गयी हैं। 'निराला' की 'जुही की कली' में एक आध्यात्मिक सकेत है। वसन्त पर लिखी गयी कविता नवीन सांस्कृतिक जागरण की सङ्केतिका है। महादेवी जी के वसन्त-सम्बन्धी गीत-प्रगीतों मे एक आत्मिक उद्बोध का इंगित उबलता रहता है। 'निराला' जी के बहुत से दार्शनिक प्रगीत आन्तरिक अर्थ से अन्तः-सलिल हैं। 'प्रसाद' जी की 'कामना' नाटिका मे कितनी सूक्ष्म वृत्तियों का प्रतीकात्मक मानवीकरण किया गया है। यही बात 'पन्त' जी की 'ज्योत्स्ना' में भी है, जहाँ बहुत से पात्र प्रकृति के उपादान हैं। 'कुकुरमुत्ता'—रचना में सामाजिक यथार्थ गुलाब और कुकुरमुत्ता के प्रतीकों से व्यक्त किया गया है। स्वयं 'कामायनी' की कथा-संघटना प्रतीकों से आलोकित है। 'पन्त' जी की 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि' और 'उत्तरा' की रचनाओं में भी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का सहारा यत्र-तत्र स्पष्ट है। शब्दों से आगे जब प्रतीकात्मकता रचना तंत्र में प्रविष्ट होती है, तो उभयार्थता ही उभर कर आती है। रचना-तन्त्र की यह प्रतीकात्मकता कहीं रूपकात्मकता बन जाती है, कहीं समासोक्ति-पद्धति का सहारा लेती है और कहीं अन्योक्ति-शैली का। शब्द से लेकर रचना की पूर्ण इकाई के तंत्र-विधान तक फैली प्रतीकात्मकता 'छाया'—युगीन अभिव्यक्ति का एक सबल आधार है।

छायावादी काव्य में कथा-रूप

छायावादी काव्य बाह्यार्थ-निरूपण के विरुद्ध स्वानुभूति-व्यंजना का वेग लेकर हिन्दी काव्य-साहित्य में प्रविष्ट हुआ। यह आत्म-निष्ठ अनुभूतियों एवं आध्यान्तरिक उद्गारों की अभिव्यक्ति का आवेग था। समस्त रूढ़ियों एवं परपरा-ढाँचों के भीतर से व्यक्ति के भीतर के सतेज सत्य अपरोक्षरूप से आने को आकुल थे। युग-सत्य का स्रोत बाह्य वर्णना, वस्तु-प्रधानता, पौराणिक कथाचर्चा, वाच्यार्थता एवं अप्रत्यक्ष कथन की शिलाओं को तोडकर बाहर छलछलाने को विह्वल हो रहा था। आत्म-निषेध, अति-सयमन और स्वकीय व्यक्तित्व के उत्सर्ग के भारवाही आदर्शाभास खोखले से हो गये थे। उनके पीछे सक्रिय जीवनावेग ठढा पड गया था। जीवनोत्साह की लौ जैसे, मन्द पडती जा रही थी। व्यक्ति द्विदिग् दमन से असहिष्णु हो चला था। एक ओर शासन का विदेशी बरगद नये पौदों को पीला किये दे रहा था, दूसरी ओर सयम, मर्य्यादा, आदर्श और आत्म-नियत्रण के नाम पर समाज के जीवन-रहित एवं अर्थ रूढ़ प्रचलन-परपरा-जाल, व्यक्ति के व्यक्तित्व की अन्तरीण रसधार को पिये जा रहे थे। सक्षेप में, व्यक्ति समाज के तत्कालीन मूल्यों से असन्तुष्ट था। बहुत से लोग छायावादी काव्य को पलायनशील, कर्त्तव्य-विमुख और कल्पना विलास का कला-काव्य मानते हैं। जब देश स्वतत्रता के सग्राम में 'बापू' के नेतृत्व में अभियान कर रहा था, स्वाधीनता का तुमुल तूर्य्य बज रहा था, देश के नौनिहाल स्वतंत्रता देवी की वेदी पर शीश चढाने को गाते हुए आगे बढ रहे थे, तो छायावादी कवियों ने भी राष्ट्रीयता का जय-घोष क्यों नहीं किया—यह समस्या किसी न किसी रूप में सभी आलोचकों के सम्मुख आयी। सभी विचारकों ने अपने-अपने ढग से विचार किया, किन्तु मेरी समझ से एक बात पर लोगों ने बहुत कम ध्यान दिया। पाश्चात्य-सम्पर्क और पठन-पाठन के परिणाम स्वरूप शिक्षितों के दृष्टिकोण रुढ़िवादिता के विरुद्ध होते जा रहे थे। राष्ट्रीयता और स्वाधीनता की माँग की बात तो खुलकर बाद में आयी। पहले तो हमने नवीन वैज्ञानिक विकास और अन्तर्राष्ट्रिय दिग्पथों के ससर्ग में आकर, समस्त आदर्श-घोपणाओं के बावजूद, शतियों से पथराये हुए अपने सामाजिक सम्बन्धों-मूल्यों की अवाछनीयता का ही अनुभव किया। हमने देखा कि पुरुषाओं की

महिमामयी वाणियों और विशाल ज्ञान-सम्पदा के उत्तराधिकार पर बैठे हुए भी हम दिग्भ्रान्त और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ से हो गये थे : अर्थ के अनर्थ बन गये थे। आभूषण बेड़ियाँ हो चले थे और मालाएँ कण्ठ-भार !! जब सामाजिक मूल्यों के प्रति विद्रोह जगता है तो चिन्तना और विचार-स्रोत के प्रथम, भावावेग का प्रवाह उमड़ता है। इन भावावेगों में व्यक्ति-परक स्तरों पर विद्रोह, अरुचि और असन्तोष की लहरें उठती हैं; बाद में धीरे-धीरे विचार भी क्रियमाण होते हैं। छायावादी काव्य सामाजिक मूल्यों का विद्रोह लेकर चला, जिसमें राष्ट्र-परक भाव भी प्रकट होते रहे; पर उन्होंने अपनी नव-सांस्कृतिक चेतना और पुनस्सांस्कृतिक-निर्माण की भाव-प्रतिक्रिया को गौण न होने दिया। इस नव शिक्षित समाज ने राष्ट्रीय मुक्ति की भाँति ही, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पुनारचना की चेतना को भी महत्त्व दिया। कुछ कवियों ने उस काल में भी जीवन-मुरली को फेंक कर युद्ध-शंख उठा लिया था, पर अधिकांश कवियों ने मुक्ति के उद्देश्य को राजनीतिक नारों से बाँधना उचित न समझा। उन्होंने जहाँ एक ओर 'हिमालय के आँगन में किरणों का अवतरण देखा, वहीं दूसरी ओर नवीन जीवन-तृषा और नये सांस्कृतिक जागरण की कसमसाहट को भी स्वर दिया। तात्कालिक फल की दृष्टि से भले ही दूसरा पक्ष उतना महत्त्वपूर्ण न दिखाई पड़े, पर गहरी नींव और भावी उपलब्धियों की दृष्टि से वह पहले से अधिक गम्भीर, दायित्व-प्रेरित और स्थायी महत्त्व का है। राजनीति यदि मुक्ति को लाने का प्रयास कर रही थी तो साहित्य उस मुक्ति को सार्थक करने वाला जीवन-चक्र और उसकी सार्थकता को वहन करने वाले स्कन्धों के बनाने का प्रयास कर रहा था। राजनीति आज़ादी के पौदे को लाने का संघर्ष कर रही थी और साहित्य के माली उस पौदे को जीवन देने वाले और उसे धारण कर सुरक्षित रख सकने वाले मानसिक आल-बाल को प्रस्तुत करने के लिए प्रयास-लग्न थे।

बहुत दिनों के रूढ़ मूल्यों के प्रति पहले विद्रोह का आवेग उठता है। पहले व्यक्ति का भाव-संघटन आन्दोलित होता है, फिर धीरे-धीरे भावात्मक प्रतिक्रियाएँ विचारों का स्तर कुरेदने लगती हैं और व्यक्ति उन मूल्यों के प्रति बुद्धि से भी सजग होने लगता है। भावात्मक प्रतिक्रिया और विद्रोह-उद्गारों का काल स्वानुभूतियों की तीव्र व्यंजना का काल होता है और स्वानुभूतियों का आवेग-प्रवाह वस्तु-वत्ता, इतिवृत्त-परकता और अभिधात्मकता की अपेक्षा अन्तर्वृत्तियों के निरूपण, चित्रण और अभिरंजन में ही अधिक उत्साह-शील होता है। रागतीमता कथा-कहानी और घटना विवृति को छोड़कर स्वयं आत्म प्रकाशन की ओर प्रवण होती है। यही कारण है कि छायावादी काव्य का प्रारम्भ कथा-घट-

नात्मकता का परित्याग कर लक्षणा और व्यजना की भूमि पर स्वानुभूति-निरूपण को महत्त्व देकर चला। 'प्रसाद' जी के इस कथन में युग-सत्य का निश्चित सकेत है, जब उन्होंने अपने 'यथार्थवाद और छायावाद' निबन्ध में यह कहा कि 'कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य वर्णन से भिन्न, जब वेदना के आधार पर स्वानुभूति-मयी अभिव्यक्ति होने लगी, तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया' (पृ० ८९)। 'वेदना', 'आन्तरिक स्पर्श', 'स्वानुभूति' आदि शब्द कविता के उस वस्तु-द्रव्य की ओर सकेत करते हैं जिसे कवि व्यक्ति के स्तर पर अपने ही जीवन में प्राप्त कर रहा था, जो तत्कालीन परिवेश में व्यक्ति के माध्यम से आयी उसकी निजी अनुभूतियाँ थीं। 'देश-सुन्दरी' से रीतिकालीन नायिकाओं अथवा सीता-उर्मिला आदि की ओर संकेत किया जा सकता है और 'विदेश-सुन्दरी' से 'मिलन' आदि खण्ड-काव्यों अथवा विभाषीय काव्य-ग्रन्थों के हिन्दी-अनुवादों का अर्थ ग्रहण किया जा सकता है। सब मिलाकर, प्रसाद जी ने पौराणिक अथवा विदेशी कथा-घटना को लेकर लिखे जाने वाले वर्णनात्मक काव्यों से, वैयक्तिक अनुभूति-मूलक एव अन्तर्वृत्ति-निरूपिणी सूक्ष्म व्यंजनाओं पर आधृत-अन्तर्वादी 'छाया' काव्य का विभेद किया है, जो अकथात्मकता के प्रति कवियों की सजग सतर्कता का द्योतक है। कवि जानबूझ कर कथा-घटना के वर्णन का आधार नहीं लेना चाहता था।

प्रश्न हो सकता है कि यह कथाभाव अथवा घटना-त्याग क्यों ? समाधान में उत्तर मिलता है—एक तो ये कवि अपनी व्यक्ति-परक प्रतिक्रियाओं के आवेग से ऐसे दोलायमान थे कि उस सवेगता और तीव्रता में घटना विन्यास की बुद्धि शिथिल, निष्क्रिय या गौण हो गयी थी, दूसरे अभी तो भाव-द्रव्य नवीन मूल्यों के साचों में ढल ही रहा था—कथा-रचना तो पश्चात्क्रिया होती है। जो मूल्य रूपायित हो चुके थे, और उन मूल्यों के सदर्भ में जो कथाएँ प्रचलित थीं, वे उनके मनोऽनुकूल न थीं—वह उनसे सन्तुष्ट नहीं था। फिर उनके ग्रहण की बात ही कहाँ उठती थी ?

कथा तत्त्व के इसी अभाव को लेकर आचार्य पं० नन्ददुलारे जी वाजपेयी ने 'हिन्दी-साहित्य—बीसवीं शताब्दी' पुस्तक के 'श्री महादेवी वर्मा' लेख के पृ० १६३ पर छायावाद की यह परिभाषा ही कर दी कि 'मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त-सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भाव मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या होनी चाहिए।' 'सूक्ष्म' की व्याख्या करते हुए उसमें उन्होंने 'साकार क्रिया शीलता (प्रत्यक्ष घटना) और कथात्मकता

के अभाव' का अर्थ निहित बतलाया। ये दोनों विशेषताएँ छायावादी काव्य की उन विशिष्टताओं का संकेत करती हैं जिनमें वस्तु-घटना के प्रत्यक्ष वर्णन के स्थान पर कवि के मन पर पड़ी उनकी प्रतिक्रिया-छाया, और कथा के स्थान पर जीवन-तथ्यों की अन्तरीण संवेदना को प्राधान्य और प्रामुख्य मिलता है। कथा और घटना का अभाव तो सभी स्वीकार करते हैं, पर कोई कहता है कि ये कवि जानबूझ कर गम्भीर, सूक्ष्म और अग्राह्य बनने के लिए ऐसा करते हैं, और कोई कहता है कि बिना किसी गुप्त उद्देश्य के ही छायावादी कवियों ने कला की दृष्टि से उनका परित्याग किया है। मेरी समझ से एक तीसरा भी कारण तथ्य से दूरस्थ नहीं कि स्वभावतः भी वैसा नहीं हो सकता था। जब हृदयों के कटाह आर्द्रोष्म भाव-द्रव्य से आप्लुत हों तो उस स्थिति में दृढ़ कथा-मूर्त्ति का गठन हो भी नहीं सकता था। संकेत कवि की मानसिक दशा, उद्वेलित भाव-द्रव्य और कलात्मक अभिव्यक्ति की सूक्ष्म प्रक्रिया की दृष्टि पर ही किया जा रहा है। कला और काव्य के सर्जनात्मक आवेग और अभिव्यक्ति की अनिवार्य अनुकूलता के सत्य को भुला कर ही हम कह सकते हैं कि कथा और घटना की योजना सर्वत्र-सर्वदैव सम्भव है, अन्यथा नहीं।

ऐसा नहीं है कि उस समय समाज और स्वयं कवि के जीवन-परिवेश में कथा और घटनाओं का सर्वथा अभाव रहा हो। कथाएँ थीं, घटनाएँ थीं; पर उन घटनाओं और कथाओं के कारण-कार्यों एवं अन्तर्निहित जीवन-मूल्यों की सार्थकता में उनकी आस्था न थी। इसी से वे वस्तु के स्थान पर उसके प्रति जगी आन्तरिक अनुभूतियों, घटना के स्थान पर उसके सूक्ष्म संकेत और कथा के स्थान पर कथा के मूल में निहित जीवन-संवेदनाओं और अपनी दृष्टि से उनकी मूल्य-गत प्रतिक्रियाओं की विवृतियाँ ही उपस्थित करते थे। वे यह आशा करते थे कि समान वातावरण में ममशील होने के नाते हमारी स्वानुभूतियों, व्यक्ति-परक प्रतिक्रियाओं और आन्तरिक उद्गारों के पीछे छिपे सामाजिक यथार्थों एवं कथा-घटना के तथ्यों को अन्य लोग भी समझेंगे ही। लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता, चित्र-व्यंजना, प्रतीक-विधान, उपचार-वक्रता और वेदना की विवृति के बाहुल्य का यही मर्म हेतु है। जब हृदय भरा होता है तो शब्द ही नहीं, घटना-तार भी बिखर जाते हैं।

ऐसी ही स्थिति में, छायावादी काव्य में आये कथा, घटना और प्रबंधता के विरल सूत्रों को एकत्र कर उन पर विमर्श करने का प्रयास किया जायगा। ये सूत्र कुछ स्फुट कविताओं में भी उभरे हैं और कुछ निबन्ध-कविताओं और काव्य-प्रबन्धों में भी रूपायित हुए हैं। कभी कवि आत्म-चरित देने

के वेग में भी कुछ कह गया है और कभी विचार-स्तर पर सुस्थिर होकर उसने प्रबन्ध के साथ भी अपने कथ्य का समझौता कराना चाहा है। पौराणिक सुन्दरी का स्थूल रूप वर्णन उसने भले न किया हो, पर पुराण की कथाओं को तो लिया है। यह दूसरी बात है कि उनके भीतर से समाज-रूढ़ मूल्यों का उद्घाटन न कर, अपनी नवीन मूल्य-दृष्टि से नये अर्थ को अनावृत किया गया हो। कथा-कहानी या जीवन का घटना-प्रवाह किसी भी समय या युग में जीवन से सर्वथा बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। जीवन घटनात्मक है, और उस घटना-विस्तार में बुद्धि का कारण-कार्य शृङ्खला ढूढने का सहज व्यापार कथा-सूत्रों को जन्म देता चलता है। व्यक्ति घटनाएँ देखता है और उनके भीतर अपनी बुद्धि द्वारा एक व्यवस्था की प्रतिष्ठा करता अथवा उसमें छिपी व्यवस्था या सार्थकता का संधान करता है। व्यवस्था और कार्य-कारण-शृंखला का यह प्रतिष्ठापन अथवा संधान कथा या कहानी को रूप देता है। जब तक मानव में सार्थक व्यवस्था की रुचि वाली यह बुद्धि है, तब तक जीवन से कथा-कहानी का अस्तित्व भी न मिटेगा। न व्यक्ति बुद्धि को पूर्णतः तिलाजलि देकर चल सकेगा और न मात्र प्राकृत भाव-संवेदन ही जीवन कहला सकेंगे। कथा के भावाभाव का प्रश्न सदैव तुलनात्मक ही रहेगा, और इसी से कथा के अभाव की बात भी छायावादी काव्य-प्रसंग में इसी अर्थ में ग्रहण की जायगी कि इस काव्य में भावोद्गार प्रमुख है और कथा का आग्रह अपेक्षाकृत बहुत कम। जिस प्रकार एक व्यक्ति जब तीव्र भावात्मक प्रतिक्रिया की दशा में होता है तो उस समय वह कथा-कहानी की स्थूलता का सहारा न लेकर अपने भावोद्गारों की अभिव्यक्ति द्वारा ही अपनी अभिव्यक्ति करना चाहता है, उसी प्रकार जब सामान्य परिस्थितियों में किसी न किसी रूप में सारा समाज समान रूप से प्रतिक्रियाशील होता है तो वह समाज और उसके कलात्मक प्रतिनिधि भी, सीधी भावाभिव्यक्ति द्वारा ही अपना कथितव्य उपस्थित करना चाहते हैं। कथा-कहानियों का अप्रत्यक्ष माध्यम उनकी मनःस्थिति के सहज-पथ से दूर पड़ता है। 'छाया-युग' एक ऐसा ही युग था, जब परिवर्तित परिस्थितियों के परिवेश में व्यक्ति ने मान्य मूल्यों को असुविधा-जनक और असहज पाया। उसने अपने उद्गारों को सीधे व्यक्त करने में ही सुख और तोष का अनुभव किया।

धीरे-धीरे उनके समक्ष अपनी परिस्थितियों के कारण-कार्य स्पष्ट होते गये। भावों और सहजानुभवों की निरन्तरता ने धीरे-धीरे उन्हें उन परिस्थितियों को स्पष्टता के साथ समझने-सोचने का भी अवसर दिया। भावावेगों के शान्ति की

ओर उन्मुख होने के साथ विचार भी क्रियमाण होने लगे। शान्त क्षणों में, अपने भीतर से उन्हें अपने परिपार्श्व और आसपास के विस्तृत जीवन को समझने का भी अवकाश मिलता। अपनी पीड़ा-कथा के साथ अन्यों की व्यथा-कथा को समझते हुए उन्होंने विचार का भी सहारा लिया और अपनी मान्यता या रुचि-अरुचि को घटना-व्यापार और छोटी-मोटी कथाओं के माध्यम से व्यक्त करने की भी उनमें प्रेरणा हुई। कथा और घटनाएँ कई रूपों और मात्राओं में आयीं। कहीं घटना केवल सहारा मात्र है और कवि अपनी आन्तरिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए उसे साधन-रूप मे स्वीकार करता है, कहीं घटना घटकर समाप्त हो जाती है और उसी के आघात से जगा कवि का भाव-प्रवाह स्वतंत्र रूप से गतिमान हो जाता है। कहीं घटना के विरल सूत्र आदि से अन्त तक चलते रहते हैं पर उनके बीच भावों का भराव और विन्यास ही प्रमुख होता है, स्वयं घटना या कथा अत्यन्त स्वल्प। कहीं घटना का महत्व प्रतीकात्मक-मात्र होता है और प्रतीक से निकलने वाली ध्वनि या अन्योक्ति से गृहीत अर्थ ही मुख्य होता है; कहीं किसी उद्दिष्ट वातावरण की सृष्टि में सहायतार्थ आयी कथा-घटना समासोक्ति-रूप में उपस्थित होती है। कहीं घटना-कथा अनेकार्थ की सिद्धि के लिए नियोजित होती है; कहीं अपने जीवन के ही किसी मर्माघात को वाणी देने के लिए कोई यथार्थ कथा-घटना गृहीत हुई है, जिसमें उस घटना या कथा के सूक्ष्म सूत्रों के ताने-बाने में कवि अपनी पीड़ा-व्यथा को ही बुन जाना साध्य मानता है—कथा कहना नहीं। कवियों ने ऐतिहासिक घटनाओं को भी ग्रहण किया है और सांस्कृतिक मूल्यों की पुनर्व्याख्या के लिए पुरानी कथा को नवीन अर्थ-संकेतों के साथ उपस्थित किया है। इन समस्त कथा-रूपों में सबसे मुख्य बात जो ध्यान रखने की है वह है कथा और घटना का गौण होना और कवि की निजी भावात्मक प्रतिक्रियाओं और तदुद्भूत अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का सर्व प्राधान्य था। वास्तव में निजी अनुभूतियों की कालिन्दी में कथा के शैवाल-सूत्र इस प्रकार डूब कर बहते रहते हैं कि उनकी अनवरतता और स्थूलता दृष्टिगत ही नहीं होती। हर कवि अपनी कथा और पीड़ा को वाणी देने की सत्यता बरत रहा था; उसके अन्तर के उल्लास-जलद स्वयं बरसने को विकल थे। उसने अपनी व्यथा-कथा की हर धड़कन को इतनी निकटता और गहराई से अनुभव किया था कि उसे दूसरों की कथा बनाकर परोक्ष रूप से कहना ईमानदारी नहीं लग रही थी। बात तो यहाँ तक जाती है कि उसे अपनी कहानी की स्थूल वस्तुवत्ता भी अखर जाती थी, अतः वह अपनी कहानी को छिपा कर केवल उसकी पीड़ा

ही देना चाहता था। पर्वत को छिपाकर निर्झर, वृक्ष को ओट में रखकर केवल फल तथा लता को सामने न लाकर केवल उसका गंध पुष्प ही अर्पित करना उसे सुहाता था। उस युग और उसके कलाकारों की यही विवशता उन्हें फुटकल गीतों, प्रगीत-मुक्तकों और प्रतीकात्मक व्यंजनाओं की विरलता के भीतर से अभिव्यक्त करती रही है। इस युग की हर चोट और प्रत्येक सपना छोटी-छोटी किन्तु भीगीं बिजली से भरी साँसों, भाव-तरगों एवं अनुभूति-स्पन्दनों में पिघलकर काव्याभिव्यक्त होते रहे। कथा-शृङ्खलाओं एवं घटनावलियों का यह भावोच्छ्वास-मय अनुभूति-रूपातरण इस काल का एक अविस्मरणीय तथ्य है। इस तथ्य की अनुगूँज 'प्रसाद' जी की निम्नस्थ 'झरना'-पक्तियों में सुनी जा सकती है—

> "जब करता हूँ कभी प्रार्थना,
> कर संकलित विचार।
> तभी कामना के नूपुर की
> हो जाती झनकार।
> चमत्कृत होता हूँ मन में
> विश्व के नीरव निर्जन में !"

स्थूल कथोपकथन किस प्रकार सिमटकर कुछ भाव-सकेतों में बदल जाता है, इसका उदाहरण 'प्रसाद' जी की 'चित्राधार' पुस्तक के 'नीरव प्रेम' के प्रथम सम्भाषण का रूप देखकर समझ सकते हैं—

> "प्रथम भाषण ज्यों अधरान में—
> रहत है, तउ गूँजत प्रान में।
> ....
> कछु कहौ नहिं पै कहि जात हौ।
> कछु लहौ नहिं पै लहि जात हौ॥"

ये विरोधाभासी पक्तियाँ केवल 'प्रसाद' जी के किशोर कवि ही नहीं, युग-काव्य-पथ की ओर भी मार्मिक सकेत करती दिखाई पड़ती हैं। कहने-सुनने और उत्तर-प्रत्युत्तर का कोई विधान नहीं, केवल कुछ अनुभूति की झलकें हैं, जिनमें समस्त घटना-स्थूलता गंध-सत्व की भाँति उतर आयी है। युग-कवि वस्तु नहीं, वस्तु के अन्तरतम सूक्ष्म रूप, स्थूल रूपाकार नहीं उसके पीछे अन्तः सौन्दर्य तथा घटना-घटिति नहीं उसके मर्म में संचरित भावानुभूति-छाया को पकड़ने का अभिलाषी था। कथा-कहानी का रूप स्थूल आधार पर टिका होता है, इसीलिए युग-कवि उसमें नहीं रमा। मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली पर

कह सकते हैं कि कथा-कथन अथवा कहानी-रचना 'विशिष्ट' का 'साधारणीकरण' और 'स्व' का लोकीकरण है; इसे कला में 'स्व' का 'पर' में, जन का लोक में रूपान्तरण भी कह सकते हैं। छायावादी कवि स्वयं अपने में ही भास्वर एक आलोक-उल्का था, जो अपने ज्वलन में ही अपना प्रकाश-विस्तार भी करना चाहता था। उसके 'स्व' के इस वितरण-विस्तार से लोक का कोई भी कोना यदि आलोकित हुआ, तो वह उसके लिए एक संतोष दायिनी सार्थकता थी। साथ ही यह भी स्मरण रखना है कि ये कवि किसी राजनीतिक मतवाद के प्रचार-भाव से प्रेरित नहीं थे, वरन् समाज में एक व्यक्ति की सहज स्थिति से आयी प्रतिक्रियाएँ ही कविता की प्रेरणा थीं। उनकी प्रतिक्रिया स्थूल राजनीतिक नहीं थी, वरन् उनका विद्रोह जीवन-मूल्यों से सम्बद्ध था।

कथात्मकता का यह अभाव हिन्दी के 'छाया-युग' में ही नहीं, अंगरेजी के 'रोमानी पुनर्जागरण'-युग में भी पाया जाता है। शेली, कीट्स और वर्ड्सवर्थ के काव्य का महत्वपूर्ण मर्म उनकी स्फुट गीतात्मक रचनाएँ ही हैं।

प्रसाद जी में 'चित्राधार' की किशोर-कालीन रचनाएँ प्रकृति के प्रति हैं; किन्तु उनमें प्रकृति का शुद्ध रूपानन्द नहीं आया है। 'चित्राधार' का कवि औपनिषदिक दार्शनिकता की जिज्ञासाएँ लेकर प्रकृति के पास जाता है। 'प्रेम-पथिक' का व्रजभाषा में लिखा मूलरूप सन् १९०५ में ही लिखा जा चुका था, सन् १९१२ में उसका खडी बोली में कवि द्वारा रूपान्तरण हुआ। सन् १९१२ में 'कानन-कुसुम' भी प्रथम बार प्रकाशित हुआ। इसमें कवि की जिज्ञासा और स्पष्ट तथा बलवती होकर प्रकट होती है। सभी कविताएँ स्फुट, अकथात्मक तथा चिन्तन और भाव की इकाइयों में पूर्ण हैं। 'प्रथम प्रभात' कविता वर्णनात्मक तो है, पर उसमें किसी बाह्य वर्णना की अपेक्षा आन्तरिक अनुभूतियों के वर्णन का ही प्रयास लक्षणीय है। 'धर्मनीति' कविता में विचार कुछ शृंखलित रूप में अवश्य आये हैं, पर लाक्षणिक प्रतीकों की शैली के कारण वर्णन में स्थूलता नहीं आयी है। 'कानन-कुसुम' की कितनी ही रचनाएँ इतिवृत्तात्मक और गद्यवत् भी हैं। इनमें पौराणिक कथाओं पर लिखे काव्य भी संकलित हैं। इन रचनाओं में प्राचीन परंपरा का अलंकरण स्पष्ट है, जिनके बीच से नवीन लाक्षणिकता और वचन-भंगिमा भी झाँकती दिखाई पड़ती है। 'मल्लिना' कविता में प्राकृतिक पृष्ठभूमि के पश्चात् एक नारी (वियोगिनी) आती है—

"वह सघन कुंज सुख-पुंज भ्रमर की आली,
कुछ और दृश्य है, सुषमा नई निराली।

बैठी है वसन मलीन पहन इक बाला,
पुरइन पात्रों के बीच कमल की माला।
उस मलिन वसन में अंग-प्रभा दमकीली,
ज्यों धूसर नभ में चन्द्रकला चमकीली।
पर हाय! चन्द्र को घन ने क्यों है घेरा,
उज्ज्वल प्रकाश के पास अजीब अँधेरा।"

—['कानन-कुसुम', पृ० २६-२७]

इन कविताओं में सबसे स्पष्ट वस्तु है कथा-धारा पर भाव-धारा का छाते जाना। कथा भावानुभूति में डूबी जाती है। नारी उपस्थित अवश्य हुई है, पर यह उसका कथा-सहज नाटकीय और सक्रिय रूप नहीं है। वह तो केवल एक गतिहीन भाव-चित्र की भाँति कवि द्वारा चित्रित हो रही है, उसकी अपनी गतिशीलता यहाँ सामने नहीं आती। वियोगिनी के मनोभावों और क्रिया-कलापों के स्थान पर कवि की निजी प्रभावानुभूतियाँ व्यक्त हुई हैं। ये रचनाएँ उस समय की हैं, जब कवि का मनोविकास जीवन के नवीन परिपार्श्व में अधिक नहीं हो सका था, वह बहुत कुछ प्राचीन रूढ़ियों और विचारों से घिरा था। सीता और राम के दो चित्र भी देखे जा सकते हैं—

"खुले हुए कच-भार, बिखर गये थे बदन पर,
जैसे श्याम सिवार, आसपास हो कमल के।
× × ×
निर्निमेष दृग नील, देख रहे थे राम के,
जैसे प्रहरी भोल, खड़े जानकी-बदन के।"

—['प्रसाद'-'कानन-कुसुम']

अपेक्षाकृत कुछ अधिक व्यवस्थित कथाधारा के साथ सन् १९०५ में ही ब्रजभाषा में लिखा गया 'प्रेम-पथिक' खड़ी बोली में परिवर्तित-परिवर्धित होकर (माघ शुक्ल १९७० वि०) सन् १९१२ में प्रस्तुत हुआ। 'प्रेम-पथिक' में कवि के पिछले टकरानेवाले प्रश्न बहुत कुछ अपना उत्तर पा जाते हैं। कवि को प्रेम की एक उदात्त और सात्विकतामयी प्रेमानुभूति की मूल्यवती धारणा मिल जाती है। यह प्रेम त्याग और तितिक्षा के आधार पर विकसित एक निरन्तर साधना है। यह प्रेम अनन्त अविश्रान्त और रूपातपर है—

"इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा तक जिसके आगे राह नहीं।"

'प्रेम पथिक' की कथा संक्षिप्त है। सन् १९०९ (श्रावण शुक्ल, द्वितीया संवत् १९६६ई०) में 'इन्दु' का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ। भाद्रपद के 'द्वितीय किरण' में उसी वर्ष 'प्रेम पथिक' का ब्रजभाषा-लिखित रूप प्रकाश में आया था। इसकी कथा का सारांश यह है कि सहसा नाटकीय प्रारम्भ के साथ एक पथिक अपने नगर से प्रस्थान करता है। पपीहे की 'पी कहां' ध्वनि सुनते ही उसकी पीड़ा जग जाती है। आगे बढ़ता हुआ पथिक सरोवर का जलपान करता है। पथिक पथ के प्राकृतिक सौन्दर्य से अत्यन्त उल्लसित होता है, उसे प्रकृति में कोमलता और सुन्दरता-दोनों ही प्राप्त होती हैं। पृष्ठभूमि से पथिक को प्रेम-पथ के वैषम्य का सन्देश मिलता है। उसे नया बल प्राप्त होता है। वह अनुभव करता है कि प्रेम-समुद्र का विस्तार अछोर है, प्रेम में पथिक का विश्वास अडिग है। इस प्रेम-कथा का मुख्य उद्देश्य न कथा कहना है और न घटनाओं के द्वारा कोई तथ्य-चित्र उपस्थित करना। कवि प्रेम के विषय में अपनी उच्चानुभूति और प्राप्त धारणाओं को ही एक आदर्श-भूमि पर उपस्थित करना चाहता है। काव्य का लक्ष्य स्वानुभूति का निरूपण और आत्म-व्यंजना है, कथा और घटनाओं का वर्णन नहीं। प्रेम की इस परिभाषा में प्रेम की शारीरिकतामयी रीतिकालीन धारणा का विरोध और भाव की महत्ता का प्रतिपादन स्पष्ट है। यह आदर्श, त्याग और पावन भाव पर पल्लवित प्रेम कायिक शृंगार की प्रतिक्रिया और स्थूल मांसलता के प्रति विद्रोह है। कथा केवल नवीन भाव-मूल्यों की स्थापना का मिस-मात्र है। काव्य की काया का बृहदंश पथिक की स्वानुभूतियों एवं प्रकृति-सुषमा के आनन्द-मय सम्पर्क की प्रतिक्रियाओं के उपादान से रचित है।

'इन्दु' की 'चौथी किरण' में जो कार्तिकमास की शुक्ल द्वितीया सवत् १९६६ को 'प्रेम-पथिक' के प्रकाशन के दो मास बाद प्रकाशित हुई, 'प्रेम-राज्य' नामक काव्य का एक खण्ड निकला। सम्पादक-वक्तव्य में इसके अन्य खण्डों के प्रकाशन को बन्द करने की इसलिए घोषणा की गयी थी कि पूर्ण काव्य अलग पुस्तकाकार छप गया था। यह कथा दो खण्डों में बंटी है। प्रथम भाग का आरम्भ युद्ध-भूमि के दृश्य से होता है। राजा सूर्यकेतु की सेना टालीकोट के मैदान में संग्राम के लिए उपस्थित है। राजा सूर्यकेतु अपनी सेना का निरीक्षण कर रहे थे कि उनका पंचवर्षीय बालक आ जाता है। राजा उसे चूमते हैं और कहते हैं कि इस मातृ-रहित बालक को किसे सौंपूं? इतने में एक भील सामने आता है और राजा पुत्र को उसे सौंप देते हैं। अन्त में राजा मारे जाते हैं। कवि ने यहीं वीर-भूमि भारत और उसके इक्ष्वाकु आदि सुपुत्रों की महिमा

संस्कृत काव्यों के पढने में दत्तचित्त थे, इसी से इस समय की कविताओं पर विषय की दृष्टि से उनका प्रभाव है। क्रमशः कुश और शकुतला पर लिखी व्रज-भाषा की 'अयोध्या का उद्धार' और 'मिलन' कविताएँ भी कथात्मक हैं। दोनों 'इन्दु' में सम्वत् १९६७ में प्रकाशित हुई है।

सवत् १९७० वि० में 'इन्दु' के चतुर्थ वर्ष, किरण १ में परिमार्जित खडी बोली में 'सत्यव्रत' नामक कविता प्रकाशित है। इसमें चित्रकूट में राम, सीता और लक्ष्मण का वर्णन है। कविता का अधिकाश कवि की ओर से किये गये प्राकृतिक चित्रणों एव अनुभूति-वर्णनों से भरा है। बीच-बीच में कहीं-कहीं चमत्कार-पूर्ण विदग्ध कथोपकथन भी आ गये हैं। वन में भी राम के राज्य का रूपक बाँधने में कवि ने सुन्दर सूझ का परिचय दिया है। राम और सीता के वार्त्तालाप बडे ही साकेतिक और अलंकार-पूर्ण हैं। बातें करतीं सीता राम के क्रोड में सो गयीं। प्रकृति भी इसी रंग में रंगी हुई प्रस्तुत की गयी है। सहसा लक्ष्मण सेना सहित भरत के आगमन की सूचना देते हैं। प्रभात हो रहा है। पक्षि-गण कलरव कर रहे हैं। उषा-पूर्व ही जानकी नहाकर कुटीर में आ गयी हैं। राम भी आ गये और सीता लक्ष्मण को स्नेह-स्वर में बुलाती हैं, पर वे घने वन में छिप जाते हैं। थोडी देर में वे धनुष माँगते सुनाई पडते हैं। वे भरत से भिडना चाहते हैं, पर राम उन्हें रोक देते हैं। अन्त में राम-भरत का मिलन होता है। यही कविता 'चित्रकूट' नाम से 'कानन-कुसुम', में भी संगृहीत हुई है।

इसी अक में दूसरी कथात्मक अतुकान्त कविता 'भरत' है। हिमालय के उत्तुंग शिखर के पास रवि-रश्मियों की स्वर्णिमा में ऋषिवर कश्यप के आश्रम के निकट बालक भरत सिंह-शावक से खेल रहा है। सिंहिनी गरज उठती है, बालक डाँट देता है। यहीं आकर कवि बालक का नाम भरत बताता है, जिसपर यह देश अभिहित हुआ है। कविता में देश-प्रेम की सबल व्यंजना हुई है। फरवरी सन् १९१३ ई० में 'इन्दु' की दूसरी किरण में 'करुणालय' नामक गीति-नाट्य प्रकाशित हुआ है। इसी कथा को लेकर 'प्रसाद' जी ने चैत्र, सवत् १९६७ की 'इन्दु' की 'नवीं किरण' में 'ब्रह्मर्षि' नामक कहानी भी लिखी है। 'करुणालय' अतुकान्त छन्द एव खडी बोली में लिखित विश्वामित्र, हरिश्चन्द्र और शुन. शेप की कथा का पाँच अकों का गीत-नाट्य रूप है। इसकी कथा-रचना पहले की अपेक्षा अधिक सुव्यवस्थित और वस्तु-परक है। कथा-विस्तार को देखते हुए इसमें पात्र अधिक हैं। एकादश पात्रों की इस छोटीसी नाटिका में नाटकीय द्वन्द्वों का अभाव है। फिर भी भाषा प्रवाह-मय है। प्रथम दृश्य

में हरिश्चन्द्र के नौका-सन्तरण-दृश्य के साथ सन्ध्या का मानवीकृत प्रकृति-वर्णन है। सेनापति ज्योतिष्मान् के तटवर्ती दस्यु-जनपद की ओर राजा के ध्याना-कर्षण के पश्चात् नाव रुक जाती है और आकाशवाणी द्वारा पुत्र-बलि का वचन न पूरा करने वाले हरिश्चन्द्र की भर्त्सना की जाती है। भयभीत राजा उसे पूरा करने का वचन देता है। दूसरे दृश्य मे जंगल मे घूमते रोहिताश्व का वर्णन है, जो पिता द्वारा अपना बलि दिया जाना व्यर्थ समझता है और प्रकृति से दिव्य उत्साह का सन्देश लेकर आगे बढ़ता है। तीसरे दृश्य में अजीगर्त अपनी पत्नी से कहते हैं कि तीन पुत्रों का पोषण कठिन है, जब कि पास मे एक भी पशु नहीं। रोहित ने सौ गायों के बदले अजीगर्त के मध्यम पुत्र शुनःशेप को माँग लिया। चौथे दृश्य में सिंहासनारूढ हरिश्चन्द्र के समक्ष शुनःशेप सहित रोहित आते हैं और वसिष्ठ शुनःशेप की बलि की बात स्वीकार्य बतलाते हैं। पाँचवे दृश्य मे यज्ञ मंडप मे शुनःशेप की यूप-बद्ध मुद्रा, शक्ति का वध से इनकार, अजीगर्त का सौ और गायों के मूल्य पर शुनःशेप के वध को तैयार होना, शुनःशेप का करुणामय को पुकारना, सौ पुत्रों सहित विश्वामित्र का प्रवेश, शुनःशेप के पहले विश्वामित्र का, अपने सौ पुत्र देना, वशिष्ठ का लज्जित होना, शुनःशेप की मुक्ति और सुव्रता आदि का वशिष्ठ से मिलना वर्णित है। कथा का लक्ष्य करुणा का प्रतिपादन है। चारित्रिक दुर्बलताओं को दिखलाने से नाटक में यथार्थवादी दृष्टि भी झलक उठी है।

इसी वर्ष अप्रैल मास की 'इन्दु' की चौथी किरण में 'भक्ति योग' रचना आध्यात्मिक अनुभूतियों की व्यंजना के लिए लिखी गयी है जिसमें सध्या भी एक पात्र बनकर बोलती है। कविता का प्रारम्भ सूर्य की पीत किरणों के वर्णन से होता है। भक्त के सदेश के साथ एकानुभव का वर्णन कर कविता समाप्त होती है। 'इन्दु' अगस्त, १९१३ ई० की 'श्रीकृष्ण-जयन्ती' कविता कथात्मक नहीं, भावात्मक और विचारोत्तेजक है।

सन् १९१४ की 'इन्दु' की जून में प्रकाशित 'छठीं किरण' में 'महाराणा का महत्त्व' कविता निकली है। इसमें भी अतुकान्त छन्द का प्रयोग हुआ है। इसकी कथा ऐतिहासिक है। प्रारम्भ सूर्यास्त के प्रकृति चित्रण से होता है। पतझर की दशा और वसन्त के नवीन आगमन के संकेत और पर्वत-शिखर के वर्णन प्रभाव-पूर्ण हैं। सेविका प्रारम्भ मे प्रश्न करती है कि अभी दुर्ग कितनी दूर है? फिर पतझर का वर्णन प्रारम्भ हो जाता है।

अब्दुर्रहीम खानखाना की पत्नी की पालकी चली जा रही थी, अमरसिंह ने उसे लड़कर छीन लिया और पकड़ कर महाराणा के समक्ष उपस्थित किया।

महाराणा ने उसे ससम्मान खानखाना के पास भिजवा दिया। उस पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने अकबर से युद्ध न करने की प्रार्थना की। खानखाना और उनकी पत्नी का संवाद रोचक है। खानाखाना ने पत्नी से विनोद किया कि तुम्हारे अनुपम सौन्दर्य से वशीभूत होकर वह कानन-केशरी तुझ गांधार के सुन्दर दाख पर दात न लगा सका। पत्नी ने रुष्ट होकर उनके समक्ष महाराणा का महत्त्व प्रतिपादित किया। अकबर ने युद्ध बन्द कर दिया। इस कथा में भी कवि-पक्ष से आयी व्याख्याएँ और विवेचन प्रमुख हैं। (माघ, शुक्ल ५) सन् १९१५ में 'प्रसाद' जी ने 'प्रेम-पथिक' का खड़ीबोली का रूप प्रस्तुत किया। प्रबन्ध दृष्टि से यह 'महाराणा के महत्त्व' से सबल रचना है। आलंकारिक सज्जा संक्षिप्त और मार्मिक है। अतुकान्त होते हुए भी छन्द की पंक्तियाँ- लघु-दीर्घ आकार की नहीं, वरन् एक समान हैं। ब्रजभाषा के छन्दों से इसमें अधिक प्रवाह और कथा क्रम का निर्वाह हो सका है। प्रकृति-वर्णन और भावों के आदर्शी-करण एव विवृति की प्रवृत्ति इसमें भी वर्तमान है। देश-प्रेम की भावना का भी विस्तार सुन्दर ढंग से हो गया है। 'प्रेम-पथिक' का कुछ अंश सन् १९१४ के नवम्बर की 'इन्दु' में 'प्रेम-पथ' के शीर्षक से एवं उसी वर्ष के दिसम्बर की 'इन्दु' में शेषांश 'चमेली' नाम से प्रकाशित हुआ है। इसके कथानक की कल्पना में कवि पं० श्रीधर पाठक की सन् १८८६ ई० में लिखित 'श्रान्तपथिक' अनुवाद-कृति से अवश्य प्रेरित हुआ होगा। पं० रामनरेश त्रिपाठी का 'पथिक' काव्य भी प्रेम के स्थान पर देश प्रेम को महत्त्व देता हुआ भी इसी ढंग का है। 'प्रेम-पथिक' में प्रेम का मानवीकरण भी किया गया है, वह एक पात्र है। कवि के शब्दों में यह ब्रजभाषा-रूप का 'परिवर्तित, परिवर्धित, तुकान्त-विहीन हिन्दी रूप' है। ब्रज-भाषा में लिखे गये रूप का आरम्भ अत्यन्त इतिवृत्तात्मक था—

'छाड़िकै अभिराम अति सुखधाम चारु अराम
पथिक इक कीन्ह्यों गमन, सुप्रवास को अभिराम"

पथिक ग्राम-देवता को नमन करता है, तेज किरणों में चलते-चलते वट-छाया में विश्राम करता है और यहीं उसे 'पी कहाँ' की ध्वनि सुनाई पड़ती है। खड़ीबोली-रूप का आरम्भ प्रकृति-वर्णन से होता है—

"सन्ध्या की हेमाभ तपन की किरणें जिसको छूती हैं,
रंजित करती हैं देखो जिस नई चमेली को मुद से।
कौन जानता है कि उसे तम मे जाकर छिपना होगा ?
या फिर कोमल विधुकर उसको मीठी नींद सुला देगा।"

प्रकृति पर सोचने के पश्चात् लीलामय की अज्ञेय लीला और भविष्य की अज्ञेयता पर चिन्तन करता है। सहसा उसे नदी-तट पर एक रम्य कुटिया दृष्टिगत होती है। वहाँ बैठी एक उदास तापसी उससे निशा विश्राम का अनुरोध कर अपनी कथा सुनाने का प्रस्ताव करती है। रात की चाँदनी में पथिक ने तापसी से अपनी आपबीती कही कि वह एक नगरवासी है। नगरी का नाम आनद-नगर है। उसकी दिन-रात की सहचरी और प्रकृति की मनोहर गोद की संगिनी एक पुतली (बालिका) से उसका सहज प्रेम था। एक दिन वह पितृ-विहीन हो गया और बालिका दूसरे से विवाहित कर दी गयी। तभी से वह उदास जीवन बिता रहा है। एक दिन निर्मल सरिता के किनारे, रात में चन्द्र-बिम्ब से अवतरित एक देव-दूत ने उसे प्रेम के अनोखेपन, त्याग, बलिदान और पवित्रता का उपदेश दिया। तभी से वह अपने आनन्द-पथ का पथिक है। तापसी ने सहसा कहा, क्या तुम अपनी पुतली चमेली को नहीं पहचान रहे हो? पथिक ने पहचान लिया, दोनों कातर प्राणी आनद से मिले। तापसी ने कहा कि मुझे भी पति से स्नेह-वंचिता होना पड़ा। मैं विधवा हो गयी। पथिक ने उससे प्रेम के सीमित न करने का अनुरोध कर, हृदय से हृदय मिलाने का अनुनय किया। दोनों मिल गये। 'प्रसाद' ने स्थल-स्थल पर कथा को मनोरम प्रकृति-चित्रण से सुसज्जित किया है, साथ ही समाज के सामने प्रेम का नया रूप भी रखा है। 'प्रेम-पथिक' मानव-भावों से ओतप्रोत है। कवि ने विश्व को ईश्वर रूप कहा है और विश्व-प्रेम में ही प्रकृति-प्रेम और मानव-प्रेम को समाविष्ट किया है। ब्रजभाषा में लिखे 'प्रेम-पथिक' की कथा से यह कथा बहुत कुछ परिवर्तित और परिवर्धित है। उसमें प्रेम का अत्यन्त आदर्श रूप सैद्धान्तिक भूमि पर प्रतिष्ठित हुआ था, यहाँ प्रेम को लौकिक और व्यावहारिक भूमिका पर उतारने का प्रयास स्पष्टतः परिलक्ष्य है।

'कानन-कुसुम' की 'भरत', 'शिल्प-सौन्दर्य', 'कुरुक्षेत्र' और 'वीर बालक' आदि रचनाएँ भी पौराणिक-ऐतिहासिक कथा वृत्तों का आधार ग्रहण किये हुए हैं। इन सभी रचनाओं में प्रकृति की मनोरम और मानव भाव-रंजित झाँकी दिखाते हुए किसी पवित्र एवं कोमल भाव की अभिव्यक्ति की गयी है। 'भरत' में 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का अन्तिम अंश, 'शिल्प-सौन्दर्य' में आलमगीर का विध्वंसात्मक व्यापार, 'कुरुक्षेत्र' में महाभारत की कथा और 'वीरबालक' में सिक्ख बालक जोरावर सिंह और फतह सिंह का वृत्त गृहीत हुए हैं। इन सबमें घटनाओं की अपेक्षा किसी न किसी आदर्श भाव का प्रतिष्ठापन हुआ है।

'आँसू'—कवि की उत्कृष्ट विरह-गीति है। कुछ विद्वानों ने 'आँसू' को एक आध्यात्मिक अथवा रहस्यवादी काव्य माना है, पर वस्तुत: यह मानव-प्रेम का एक विरह-काव्य है। अनुभूतियाँ त्याग और परिष्कार की उच्च भूमिका पर उदात्त हो उठी हैं और उनमें आत्मा की ऊँचाइयाँ झलक मारने लगती हैं। 'आँसू' के प्रेम की भाँति इसके 'रूप' और वस्तु-विन्यास पर भी दो मत हैं। एक वर्ग इसे पूर्ण रूप से स्फुट पदों का प्रकीर्ण संग्रह मानता है और दूसरा वर्ग इसमें एक भाव-प्रबन्ध का आन्तरिक विधान निहित मानता है। 'आँसू' के पद किसी एक स्थूल कथा को आधार बनाकर तो नहीं चलते, वे समय-समय पर लिखे गये भी हो सकते हैं; किन्तु उसके प्राप्त विन्यास में एक मनोवैज्ञानिक अन्विति और आनुभूतिक क्रम-विधान अवश्य ध्येय रहा है।

'आँसू' का प्रथम संस्करण श्री मैथिलीशरण जी गुप्त के चिरगाँव, झाँसी के 'साहित्यसदन', प्रकाशन से सन् १९२५ ई० में प्रकाशित हुआ था। प्रथम संस्करण में १२६ छन्द थे। एक अतीत प्रेम-सम्बन्ध की स्मृति में अभिव्यक्त पीड़ा और करुणा की भावनावली ही कृति का विषय है। अनुभूति की उदात्तता प्रथम संस्करण में भी वर्तमान थी। कवि सर्ग-प्रलय के पश्चात् भी विच्छेद के मिलन का विश्वासी है।

सन् १९३३ में भारती-भंडार, प्रयाग से 'आँसू' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। छन्द-संख्या लगभग ३४ के और परिवर्धित कर दी गयी थी। अब वह १९० हो गयी थी। क्रम में भी उलटफेर किया गया।

पहले कवि अपने करुणा-कलित हृदय में बजने वाली करुण रागिनी का कारण जानना चाहता है, क्योंकि उसकी वेदना हाहाकार-स्वरों में असीम रूप से गरजने लगी है। मानस-सागर के तट पर कुछ विस्मृत बीती बातें अस्फुट स्वरों में सुनाई पड़ने लगती हैं। उसके प्रश्न शून्य आकाश से निरुत्तर लौट आये हैं। ये स्मृतियाँ ही तो कभी हुए महा-मिलन के शेषचिह्न हैं। किसी समय की मोहमयी मादक क्रीड़ाएँ आज हृदय हिला देती हैं। क्षुब्ध होकर कवि का मन सुनी-अनसुनी करने वाले को मधुर उपालम्भ देता है। प्रथम प्रेमोद्भव का वर्णन करते हुए कहता है कि प्रेम-पात्र के रूप में सत्य-विश्वास रखकर उसने सागर की भाँति, उस प्रेम-ज्योत्स्ना का पर्व मनाया था। शशि-मुख पर घूँघट डाले प्रेम-पात्र जीवन की गोधूलि में अवतरित हुआ था, मन के ससीम प्रसार में वह असीम रूप अँट गया था। उसके बाद कवि ने प्रिय की स्मृति-मूर्ति का नख-शिख-रूप उतारा है। प्राचीन उपमानों की नव्य योजना एवं सूक्ष्म-सौन्दर्य-प्रकाशक नवीन अप्रस्तुतों द्वारा रूप की आन्तरिक प्रतिक्रिया का अभिव्यंजन, बड़ा रमणीय

हुआ है। मानो उष्ण बिजली ज्योत्स्ना मे स्नात हो शीतल हो उठी हो, उस छलना को जानबूझ कर मैंने सत्य माना था !! आज कवि प्रश्नशील है कि क्या उस रूप में हृदय भी था ? यहाँ कवि ने मिलन-व्यापारों को सुन्दर प्राकृतिक पृष्ठभूमि मे आलिखित किया है। एक ओर ये प्रकृति-चित्र जहाँ अपने में रमणीय हैं, वहाँ प्रेमी-युगल की विविध क्रीडाओं की ओर भी सूक्ष्म संकेत करते हैं। विष की प्याली आँखों की उन्माद-मदिरा बन गयी है और पलक-प्याले से पीत सौन्दर्य जीवन में प्रेम बन गया।

अब हृदय से वह प्रेम-रंग छुडाए नहीं छूटता, आज भी प्रेमी को विश्वास है कि प्रिय शिथिल आहों से खिंचकर आएगा ही। प्रेमी वसुधा के दग्ध कण-कण से आलोक-दान पा रहा है। यहीं कवि वेदना को विश्व-व्यापी बतलाकर उसे एक जीवन-दर्शन का रूप दे देता है। वेदना मानवता के सिर का सिन्दूर है, अन्तर की ज्वाला ही इस कठोर धरणी को शुभ प्रकाश देती रहती है, अतः प्रेमी को वेदना को मधुर बनाकर प्रेम के मधुवन में हँसना चाहिए। प्रेमी को अश्रुओं से एक नवीन प्रेरणा मिलती है! वेदना कल्याणी शीतल ज्वाला बन जाती है !! सूफ़ियों-सी अनन्त विश्व वेधी पीड़ा और उससे उत्पन्न एक उल्लास की अनुभूति—श्री 'आँसू' की शोभा है। पर्वत, सिन्धु और पृथ्वी के कण-कण में मुस्कराती यह वेदना, व्यक्ति के 'स्व' से विस्तृत होकर एक विराट् प्रसार से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेती है। अन्त में अपने दुःख को पर-सुख-पर्यवसायी बनाकर कवि, सुख से रूखे संसार-उपवन पर अपने आँसुओं को प्रभात-हिम-कण-सा बरसा देने का अभिलाषी बन जाता है। 'आँसू' के इस सुदीर्घ अनुभूति-प्रसार मे अनेक स्तर आये हैं, विभिन्न 'सञ्चारी भाव' बीच-बीच मे उठ-गिर कर प्रेम-भाव को स्थायित्व ही नहीं प्रदान करते, विशदीकरण, दार्शनिकीकरण, एवं आत्म-प्रसार की बृहदुच्च भूमिका पर एक रहस्यालोक से झिलमिला भी उठे हैं। प्रेमी धूलि-कणों मे चमकने एव सौरभ में उड जाने की क्रिया द्वारा प्रिय से ग्रह-पथ में टकराने का संकल्पी बनकर भी सामने आता है। इसी से लौकिक प्रेम की यह परिष्कृत भूमिका, रीतिकालीन-कोण पर देखने वाली दृष्टि के लिए यदि अलौकिक बन जायँ तो आश्चर्य ही क्या ?

'आँसू' की इस अनुभूति मयी स्मृति कथा में विविध स्मृति-खण्ड मालाकार गुम्फित हो एक पूर्ण बोध और एक पूर्ण भाव-स्थिति की व्यंजना का शब्द-चित्र उपस्थित करते हैं। खण्ड-खण्ड बिखरे-से दिखलाई पडने वाले ये स्फुटाभासी छन्द साद्यन्त एक सूक्ष्म भाव-कथा का विन्यास करते हैं। कथा घटनाश्रित न होकर अनुभावित हो गयी है, मानों कवि के व्यक्तित्व की आन्तरिकता ने समस्त

घटना-जाल को अपनी उष्मा से पिघलाकर अनुभूतियों में द्रवित कर दिया हो ! यह कवि जीवन की मर्म-कथा है, जिसे भोगा-झेला तो है कवि के 'व्यक्ति' ने, किन्तु जिसकी अमूल्य उपलब्धियाँ पाठकों के लिए उनकी अपनी कथा भी बन गयी हैं। 'प्रथम सस्करण' में प्रेम की पीडा का उदग्र रूप तो था, पर उसमें 'द्वितीय सस्करण' सा औदात्य और 'पर' के साथ 'स्व' के विलयन का सामाजिक पक्ष नहीं था। उसमें कवि विश्व पर अपने आँसुओं को हिम-जल-सा बरसाने का विश्वासी नहीं, पीडा को भुलाने का आकाक्षी था। ८ वर्ष के वयोविकास एवं जीवन-अध्ययन ने कवि की व्यक्ति-चेतना को प्रसरित किया है। 'प्रथम सस्करण' का मात्रातिरेक 'द्वितीय सस्करण' में सन्तुलित हो गया है। दाह-दंश से निर्मल यह प्रेम-प्रवाह आत्म-चेतना के आशोत्साह से जगमगा उठा है। प्रज्वलन एव उद्वेग का अंध वायु-वेग, ८ साल बाद, जीवन-दर्शन की पूर्णता एवं दृष्टि की विशालता को भेंटने लगा है। रोकर भी कवि रोदन का पक्षपाती नहीं और निराश होकर भी वह आशा का महत्त्व नहीं भूला है। छायावादी काव्य-धारा का निराश और अवभग्न व्यक्ति-स्वर मानवता की भूमिका पर प्रतिष्ठित होकर जीवन की स्फुटताओं के सग्रथन का प्रयासी बन गया है।

'आँसू' का कथा-तत्त्व आत्माभिव्यञ्जन के माध्यम से आया है, 'आत्माभिव्यंजन' में 'बाह्यार्थ' का निरूपण नहीं, बाह्यार्थ की कवि-मानस गत प्रतिक्रिया का चित्रण अथवा अभिव्यञ्जन होता है; फिर भी इसमें ऐसे सकेत स्पष्ट मिलते चलते हैं जिनसे कथा का सूक्ष्म आधार झलकता चलता है। इसीलिए श्री विनय मोहन शर्मा ने अपनी "कवि 'प्रसाद', 'आँसू' तथा अन्य कृतियाँ" नामक पुस्तक के पृ० ७० पर लिखा है कि "इस तरह, 'आँसू' उन मोतियों की लडी के समान है जिसका प्रत्येक 'मोती' पृथक् रहकर भी चमकता है और लड़ी के तार में गुँथकर भी 'आब' देता है। वस्तुतः उसमें मुक्तत्व और प्रबन्धत्व दोनों है।" छन्दों में लहराती हुई झीनी अनुभूति-यवनिका के पीछे सारी घटनाएँ छाया-रूप में नाचती दिखाई पड़ती हैं, समस्त यौवन विलास, उल्लासमय आलिंगन–परिरम्भ, मिलन की अठखेलियाँ और वियोग के ऊष्म निःश्वास तन-मन को तो छूते ही हैं, आत्मा को भी एक बल प्रदान करते हैं। 'आँसू' को हम एक 'गीति-भाव-कथा' कह सकते हैं। श्री रामनाथ 'सुमन' को 'आँसू' के परिवर्तित संस्करण का परिवर्तन और क्रम का पुनर्व्यवस्थापन नहीं रुचा है। उन्होंने 'अचल' से 'अन्तर' कर देने पर जो खीझ प्रकट की है, वह बहुत कुछ ठीक है। 'प्रसाद' जी ने 'आये' 'क्रिया' और 'अचल' के लिंग-विरोध को ध्यान में रखकर स्यात् यह परिवर्तन उचित समझा था, पर लिंग की

व्याकरण-शुद्धि चित्र की सबलता को भी 'शुद्ध' कर देती है। किन्तु कहीं-कहीं यह परिवर्तन सुन्दरतर बनाने के लिए भी हुआ है और वाञ्छनीय है। 'मिलने की भेंट चढ़ाये' की जगह 'उज्ज्वल उपहार चढ़ाये' एक ऐसा ही सुधार है। 'भेंट' शब्द के प्रयोग में 'अप्रस्तुत' की पूर्णता तो है, पर 'प्रस्तुत' पर लौट कर पढ़ने वाला प्रतिबिम्ब धुँधला पड़ जाता है। 'उज्ज्वल उपहार' से आँसुओं की ओर जो सकेत हुआ है, वह 'प्रस्तुत' की सचित्रता को बढ़ा देता है। साथ ही नवीन पदों एवं नवीन क्रम-स्थापन ने भाव-कथा के बीच के अन्तरायों को भरा भी है, इनसे एकसूत्रता और अधिक पुष्ट हुई है।

कथा के प्रति 'प्रसाद' जी का दृष्टिकोण उनकी 'आत्म-कथा' शीर्षक रचना से (प्रतीकात्मक ढग से) समझा जा सकता है। यह कविता सन् १९३२ में 'हंस' के जनवरी-फरवरी अंक में प्रकाशित हुई है। मधुप का अस्फुट गुंजन ही कथा का ढग हो सकता है। कवि कहता है—

"उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पंथा की,
सीवन को उधेड़कर देखोगे क्यों मेरी कंथा की।"

मुंशी प्रेमचन्द जी द्वारा आत्म-कथा माँगने पर दी गयी इस कविता में एक प्रकार से 'छाया'-काव्य में आयी कथा का रूप भी सकेतित हो जाता है, जहाँ कथा घटनाओं की प्रतिक्रिया में जगे भावों में डूब गयी है।

'लहर' में गीत-प्रगीतों के अतिरिक्त, अन्त में ४ कविताएँ ऐसी भी आई हैं, जो गीति-तत्त्व से पूर्ण होते हुए भी ऐतिहासिक कथाओं के आधार पर रची गयी हैं। 'अशोक की चिन्ता' कलिंग-युद्ध पर हुई अशोक की भावात्मक प्रतिक्रिया का निदर्शन है। कविता एक दीर्घ प्रगीत है। अशोक को भीषण नर-सहार पर घोर क्षोभ और खेद है। जीवन अत्यन्त क्षणिक है और शलभ की भाँति तृष्णा की अनल-शिखा पर जल रहा है। विजयी होकर भी मगध का शिर आज अभिमान-भग्न हो गया है। कलिंग पशुता के द्वारा नत-मस्तक हुआ है। यह विजय मन की विजय नहीं। ससार का रागरग क्षणिक है। नूपुर और मृदग सभी फिर तुरन्त नीरव हो जाते हैं। जीवन के इस नीले विषाद-गगन में सुख-दुःख के बादलों की बिजली है, यहाँ मानव का मन-कुरग मद-मरीचिका के वन में उलझा है। वायु-उषा, सभी काल के निषङ्ग से निकले बाणों से मुक्त नहीं। सारा ससार पीड़ा से नाच रहा है। मिलना पल भर का है और उसके पश्चात् चिर-वियोग का झेलना ही शेष रहता है। एक ही प्रात में खिलकर जब सुमन सूख कर धूल में मिल जाता है, तब उसका रंग इतना चटकीला क्यों है? ससृति के पग ही विक्षत हैं, अतः इसके मग में

मृदु दल बिखेरना ही उचित है। अशोक करुणा की तरग बन वह जाना चाहता है।

इस कविता में घटनाओं का वर्णन न होकर घटनाओं द्वारा अशोक के मन पर पडे मानसिक प्रभाव का भाव-मय चिन्तन-चित्र है। अकेले अशोक स्वगतोक्ति-सा कर रहे हैं।

दूसरी कविता 'शेर सिंह का शस्त्र-समर्पण' है। अगरेजों और सिखों का चिलियानवाला में सामना हुआ। अपने ही एक सेनापति के छल से बारूद के स्थान पर आटे के गोले और लकडी पाकर, सिख पराजित हुए! वीर शेर सिंह ने अन्त में शस्त्र-समर्पण किया। वह कहता है, लाल सिंह, पंचनद के जीवित कलुष को देखकर आज सिंहों का समूह अपना नख-दन्त दिये दे रहा है। अपनी रण-रंगिनी तलवार को प्रतारणा के कर से अलग कर रहा है। आज उस तलवार में वह जलन नहीं जिसे तोपें मुँह खोल देखा करती थीं। फिर वह कहता है कि आज सिख भले ही हार गये हों, पर पंचनद की वीर भूमि कभी भी वीरता से रिक्त नहीं हो सकती। ऐसे युद्ध में मृत्यु ही विजय है। शेर सिंह को वीर श्याम सिंह की भी याद आती है। सिख प्रणय-विहीन वासना की छाया में भी लडे थे और शत संगरों की साक्षिणी शतद्रु की स्वत्व-रक्षा में सदैव प्रबुद्ध रहे हैं। वे गोले को गेंद और युद्ध को क्रीडा समझते थे। वे वीर, पुतली-सी प्रणयिनी का बाहु पाश और दूध-भरी दुलार-सी माता की गोद को सूनी कर बलि-वेदी पर सो गये। पचनद आज सूना है। आज शेर सिंह प्राणों की भिक्षा नहीं चाहता, क्योंकि प्राणाहारी महाकाल स्वयं इसकी रक्षा करते हैं। पचनद का प्रवीर रणजीत सिंह आज मर रहा है, सारा पंचनद उसी शोक में सो रहा है।

इस कविता में 'अशोक की चिन्ता' की अपेक्षा कथा-तत्त्व कुछ अधिक जागरूक है। शेरसिंह के चिन्तन में आनेवाले अतीत चित्र तो सक्रिय हैं ही, स्वयं वह भी सक्रिय है। चिन्तन और भाव-प्रतिक्रिया पीछे छिपी घटनाओं के आधार पर चलाती हैं और इस भाव-प्रतिक्रिया के झीने आवरण के पीछे घटनाएँ काफी स्पष्ट रूप में झाँक उठती हैं।

तीसरी रचना 'पेशोला की प्रतिध्वनि' है। पेशोला का प्रदेश महाराणा प्रताप की भूमि है। आज वह वीरता वहाँ नहीं, केवल उसकी प्रतिध्वनि मात्र गूँजती सुनाई पडती है। निर्धूम भस्म-रहित ज्वाला-पिंड-से पेशोला का आज अरुण-करुण बिम्ब ही दिखलाई पडता है, जो कभी विश्व की आहुतियों को अजस्र रूप से सहस्र-कर सतत लुटाता रहा। अवसाद से दग्ध, विषाद के शिल्प की

भाँति आज झोपड़े खड़े हैं, फिर भी आकाश में यह ध्वनि गूँज रही है कि 'यह भार कौन उठावेगा, कौन अविचलित रहेगा?' आज मेवाड़ में ऊँची छाती कर कौन कहता है 'मैं हूँ-मैं हूँ।' भला आज इस अघड़ में कौन पतवार थामेगा? आह, आज मेवाड़ में वह ध्वनि-प्रतिध्वनि कहाँ? यह कविता भी अपने भाव-संकेतों से मेवाड़ की गौरव-गाथा का संकेत करती है, पर इसमें में प्रत्यक्ष कथा का अंश अत्यन्त स्वल्प है। कविता एक शोक-गीति-सी है।

'प्रलय की छाया' नामक चौथी कविता भी ऐतिहासिक आधार पर रचित है। इसमें रानी कमला का मानसिक चित्रण अत्यन्त गम्भीरता एवं शक्ति के साथ प्रस्तुत हुआ है। एक युवती नारी के मानस का यह वृत्ति चित्र अत्यन्त सुन्दर प्रतीकों की छवि से सज्जित किया गया है। गुजरात की रानी कमला अपने जीवन की ढलती वेला में यौवन-काल की स्मृतियों का आवाहन कर रही है। एक समय था जब निर्जन जलधि-वेला रागमयी सन्ध्या से रंगरलियाँ सीख रही थी, दूर से आया वंशी का रव छा रहा था और रजनी की नीली किरणें उनके यौवन के मालती-मुकुल को उकसाने हँसाने को रन्ध्र ढूँढ रही थीं। उन दिनों वह कस्तूरी के मृग की भाँति अपनी ही मृदु-गंध से पागल थी। इसी प्रकार रूप-यौवन और विलास का एक सघन चित्र खींचा गया है। कमला के चरणों में विश्व की विभव-राशि लेट रही थी और गुर्जर-महीप उसके समक्ष प्रणत थे।

दिन बदलने लगे। भूमि को एक बार फिर पद्मिनी के जौहर की आवश्यकता हुई। मैंने पद्मिनी-सी जल जाने का संकल्प लिया, पर मुझ में वह हृदय कहाँ था? नाटक आरम्भ हो गया, पहले अनहलवाड़ा में अनल-चक्र घूमा। एक झटके में गुर्जर आज सजीव स्वतन्त्र साँस लेता था। गुजरात का हराभरा प्रफुल्ल कानन सुलतान के दावानल से दहक उठा। मैं भी उस विपत्ति में फाँद पड़ी थी, वही कमला मैं हूँ।

यवनों से युद्ध करत गुर्जर नरेश दूर चले गये और मैं बन्दिनी बनी। मेरा पद्मिनी का मत शिथिल पड़ गया। मुझ में सुलतान को भी रूप-बन्दी बनाने की प्यास जगी। मैं रूप-प्रमदा कभी प्रतिशोध की सोचती और कभी सुल्तान के हृदय को अपने रूप से अनुभूति-मय बनाना चाहती। मेरा साहस तृण सा बह जाता। वासना की आँधी-सा मैं सुलतान के निकट पहुँची। मैं झुकी नहीं, एक दिन अपनी कृपाणी को स्वयं पर चलाना चाहा, पर वह छिन गयी, मैं निरुपाय डोरी-सी ऐंठ कर रह गयी।

सुलतान ने अनुनय किया, मैंने सोचा क्या यह थाती जिसके लिए सारा संसार लालायित है, जो अनन्त है, जिसे छीनने का किसी को अधिकार नहीं

उसे त्याग दू ? सुल्तान से कमला ने कहा 'क्या तुम मरने भी न दोगे' सुल्तान ने कहा 'भारतीय नारियों का मरना भी एक गीत-भार है'। मैंने पद्मिनी को खोया, पर तुम्हें न खो सकूँगा, तुम मेरी प्रार्थनाओं में बन्दिनी हो, जीवन की उत्तेजना भरी आँधी में तुम ठहर कर विश्राम करो और मेरी क्रूरता पर शासन। कमला रानी बन गयी।

एक दिन कमला के उदास हृदय-सा ही दिगन्त लाल पीला हो रहा था, कमला के शैशव-अनुचर मानिक ने प्रणय की याचना की कि सुल्तान की तातारी दासियों ने उसे बन्दी बना लिया। रानी कमला ने उसे मृत्यु-दण्ड से बचा लिया था।

प्रतिशोध का भाव अब भी था, पर जाने किस युग से वासना के बिन्दु उसके सवेदनों को सींचते थे। पति कर्णदेव ने शीघ्र जीवन लीला समाप्त कर देने का सन्देश दिया, पर भारतेश्वरी बनाने वाला वह रूप-वैभव अब भी अक्षुण्ण था।

एक दिन मानिक (मलिक काफूर) ने अलाउद्दीन का बध कर दिया। जो कमला करने आयी थी, उसे मानिक ने कर दिखाया और वह खुसरू नाम से बादशाह बना। उसी दिन कमला अपनी सच्ची स्थिति जान सकी, जो वह न कर सकी, उसे खुसरू ने पूरा किया। उस नीच परिवारी ने कहा, 'नारी तेरा यह रूप जीवित अभिशाप है'। सौन्दर्य तुहिन सा ढल गया, पुण्य ज्योति हीन कलुषित सौन्दर्य का नक्षत्र कालिमा की धारा में गिरता है। प्रलय की छाया में असफल सृष्टि सोती है।

यह कविता प्रतीक-सौन्दर्य, रूप-सज्जा, अन्तर्द्वन्द्व एवं सौन्दर्य-दृष्टि के लिए ही नहीं, अन्यों की अपेक्षा कथा-सूत्रों की स्पष्टता एवं गतिशीलता के लिए भी उदाहरणीय है।

'कामायनी' छायावादी काव्य-धारा की श्रेष्ठतम कृति, सर्वोत्तम उपलब्धि और अप्रतिम महाकाव्य है। इस महाकाव्य की कथा पौराणिक है, किन्तु 'रूपकात्मकता' के कारण यह कृति केवल एक पौराणिक आख्यान का ही महत्त्व नहीं रखती, वरन् एक साथ ही सृष्टि के विकास, मानवता के इतिहास और व्यक्ति के आत्म-प्रसार का पथ-निर्देश भी करती है। रूपकात्मकता से अर्थ है एक ही कथा के द्वयर्थकता से। जब प्रत्यक्ष कथा एक ही चल रही हो और उससे ही एक सूक्ष्म अर्थ का भी ध्वनन होता चले, तो ऐसी कथा को 'रूपकात्मक कथा' कहेंगे। 'अन्योक्ति कथा' में प्रत्यक्ष स्थूल कथा मिस-मात्र होता है, उससे ध्वनित होने वाली सूक्ष्म कथा उद्दिष्ट होती है। 'समासोक्ति कथा' में प्रत्यक्ष स्थूल अर्थ ही प्रमुख रूप से उद्दिष्ट होता है, सूक्ष्म अर्थ गौण

रूप से यत्र-तत्र संकेतित होता चलता है। 'रूपकात्मक कथा' में दोनों ही अर्थ समतुल्य-से चलते हैं। यहाँ दोनों के महत्व में कुछ न्यूनाधिक्य की भी सभावना हो सकती है, पर वह न्यूनाधिक्य इतना नहीं होता कि एक अर्थ दूसरे पर इतना हावी हो जाय कि दूसरे का महत्व आड में पड जाय। इसीलिए 'कामायनी' को रूपकात्मक काव्य कहा जायगा, क्योंकि कवि का लक्ष्य पौराणिक कथा कहने का भले ही प्रमुखतः न रहा हो पर सृष्टि की विकास-कथा के साथ मानव की विकास-कथा को भी सकेतित करते चलना अवश्य रहा है। 'कामायनी' के 'आमुख' में 'प्रसाद' जी ने स्वयं लिखा है कि "यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बडा भाव-मय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने मे समर्थ हो सकता है।" 'यदि' के साथ इस मर्म को खोलने का कारण 'प्रसाद' जी की शालीनता है। 'प्रसाद' जी अपनी ओर से इस गर्वोक्ति को नहीं लाना चाहते, पर कथा की द्व्यर्थकता तो इन शब्दों से सिद्ध है। 'प्रसाद' जी ने आमुख में ही इस कथा की ऐतिहासिकता में रूपक का अद्भुत मिश्रण स्वीकार किया है। श्रद्धा और इडा मन के दो पक्ष—हृदय और बुद्धि के भी प्रतीक हैं। उन्होंने यह स्पष्टतः स्वीकार किया है कि 'इन सभी के आधार पर कामायनी की सृष्टि हुई है।'

'कामायनी' की कथा १५ सर्गों में विभक्त है—'चिन्ता', 'आशा', 'श्रद्धा', 'काम', 'वासना', 'लज्जा', 'कर्म', 'ईर्ष्या', 'इडा', 'स्वप्न', 'संघर्ष', 'निर्वेद', 'दर्शन', 'रहस्य', और 'आनंद'। कथा-सूत्र इन चौदह सर्गों में छपा हुआ फैला है। दो सर्गों के बीच कथा-तन्तु को जोडने के लिए स्पष्ट अभिधेय प्रयत्न नहीं किया गया है। सकेत के सहारे कुछ दूर तक पढने के बाद पाठक स्वयं कथा-सूत्र का अग्र-वितान समझने लगता है। सक्षेप में 'कामायनी' की कथा अत्र रूप में प्रस्तुत की जा सकती है—

हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर पर, शिला की शीतल छाँह मे बैठा एक पुरुष भीगे नयनो से प्रलय का प्रवाह देख रहा था। चारों ओर जल ही जल छाया था, सब एक तत्त्व की ही माया थी—ऊपर हिम और नीचे जल! देव-सृष्टि अपने भोगाधिक्य मे विनष्ट हो गयी थी, उस देव-श्मशान मे वह पुरुष अत्यन्त चिन्ताग्रस्त था। एक महामत्स्य के चपेटे से उसकी नाव महा वट के पास हिमगिरि के शिखर से टकराई थी। वह पुरुष (मनु) जीवन-समस्या पर विचार कर रहा था। चिन्ता-काल में ही जल सूखता गया था और प्रलय-रात्रि के बीतने

के साथ-साथ जल-प्लावन, देव-नाश और जीवन-मरण की चिन्ता के पश्चात् उस पुरुष (मनु) के मन में आशा का उदय होने लगा।

धीरे-धीरे पराजित काल रात्रि समाप्त हुई। विजय-लक्ष्मी की भाँति उषा सुनहले तीर बरसाती उदित हुई। सारी प्रकृति शयन के पश्चात् जैसे मुँह धोकर उद्बुद्ध हो उठी थी। मनु का विचार-सूत्र फिर सजग हुआ। उसके मन में यह जिज्ञासा जगी कि यह समस्त सृष्टि-प्रवाह किसके द्वारा परिचालित हो रहा है? इन विचारों के साथ मनु की अहं-चेतना जगने लगी और अपने अस्तित्व का बोध प्रखरतर होने लगा। किसी को अपनी करुण-कथा सुनाने को आत्माभिव्यक्ति की प्यास असह्य होने लगी। मनु उठे और उन्होने एक स्वच्छ गुहा में अपना स्थान बनाया। वे निरन्तर अग्नि-होत्र करने लगे। देव-सस्कृति का एक लघु सस्करण फिर सजग हो उठा। उनके मन में संवेदनाएँ जगने लगीं और उन्होंने सोचा कि स्यात् मेरी ही भाँति कोई और दुखिया शेष रह गया हो और वे उसकी आशा में यज्ञावशिष्ट अन्न को एक कोने में सँजोने लगे। नित्य नई नई समस्याएँ और जिज्ञासाएँ उठती थीं, पर कोई स्पष्ट उत्तर न पाकर मनु व्याकुल और अशान्त रहा करते थे। किसी अतीन्द्रिय स्वप्न-लोक का रहस्य बार-बार उनकी चेतना से टकराता था, मधुर प्राकृतिक भूख के समान एक अनादि वासना जगती जा रही थी। उनका मन किसी ऐसी वस्तु की खोज में विकल हो रहा था जो युग-युग से खोई हो, पर याद न आ रही हो।

सहसा मनु को एक कोमल नारी-कठ से सुनाई पड़ा कि 'इस संसृति जलनिधि-तीर पर तरङ्गों से फेकी मणि की भाँति, तुम कौन हो, जो अपनी प्रभा-धारा से इस निर्जन का मौन अभिषेक कर रहे हो?' मनु को यह मधुकरी-गुंजार बड़ा प्रिय लगा, देखा गाधार देश के मसृण नील वर्ण के वस्त्रों वाली एक सुन्दरी सामने खड़ी थीं! उस रूप-राशि में मनु का मन एक बार डूब गया। उन्हें लगा, जैसे उनके अनन्त प्रश्नों का आज समाधान मिल गया हो! मनु ने कहा मैं तो एक निर्लक्ष्य उल्का की भाँति धरती-आकाश के बीच भटक रहा हूँ, पर तुम वसन्त-दूत-सी कौन हो? उस नारी (श्रद्धा) ने कहा कि मैं काम-बालिका कामायनी हूँ। अन्न-राशि को देखकर किसी प्राणी के अस्तित्व का आभास पाकर इधर घूम पड़ी। मैं गन्धर्वों के देश में कला सीखना चाहती थी। हिमालय की शोभा ने मुझे आकृष्ट किया, किन्तु एक दिन अपार जल-राशि हिमालय से टकराने लगी और मैं निरुपाय इधर ही रह गयी। श्रद्धा को तपस्वी मनु की करुण कृशता पर दया आ गयी और उसने कहा कि मनु तुम कल्पित दु.खों से मुक्ति की बात सोचकर कामना से दूर भाग रहे हो। व्यक्त महाचिति

के आनन्द, मंगल-पूर्ण श्रेय और सर्ग-इच्छा के परिणाम, इस काम की उपेक्षा कर तुम इस भव-धाम को असफल बना रहे हो। विषमता की पीड़ा में ही व्यस्त यह विश्व स्पन्दन शील है। मनु को कामायनी की बातें अत्यन्त प्रेरक लगीं, पर वे निरुपाय थे। कामायनी ने उन्हें समझाया कि केवल तप ही जीवन-सत्य नहीं है, जीवन का रहस्य नवीनता और सर्जन है। बासी फूल प्रकृति के यौवन का श्रृङ्गार नहीं कर सकते। कर्म का भोग और भोग का कर्म ही जड़ का चेतन आनन्द है। कामायनी ने माया, दया, ममता, मृदुता और विश्वास से भरा अपना हृदय मनु के लिए उन्मुक्त कर दिया। मानवता के विजयिनी होने का उपक्रम प्रस्तुत हो गया।

श्रद्धा (कामायनी) के आगमन के साथ ही मनु के हृदय मे काम का आगमन हुआ। उनके अस्फुट काम-सस्कार प्रबुद्ध होने लगे। मनु के हृदय में काम जगा और मनु के भावों के माध्यम से ही वह आत्म-परिचय देने लगा। जैसे मनु स्वप्न में कहने लगे, हे जीवन-वन के वसन्त! तुम रात के पिछले पहरों में, अन्तरिक्ष की लहरों में बहकर कब आ गये? क्या तुम्हें आते देखकर मत-वाली कोयल बोल नहीं उठी थी? अपने उपासक देवताओं के ध्वस के पश्चात् भी काम प्यासा ही था, उसे जीवन में अनग रहते-रहते अब कर्म और शक्ति की आवश्यकता अनुभव हो रही थी। मनु ने स्वप्न में देखा कि कामायनी रति और काम का ही समन्वित रूप थी। प्रेम ही वास्तविक मार्ग था, पर मनु उस ज्योतिमयी को कैसे प्राप्त करें, इस समस्या के साथ ही स्वप्न टूट-सा गया। मनु निराशा अनुभव करने लगे।

श्रद्धा मनु के आश्रम में ही रह रही थी। उसके प्रति मनु का राग उमड़ता था, वे दबा देते थे; पर दिनोदिन वे विवश होते गये। दोनों का जीवन सूने पथ पर बीतता जा रहा था, जैसे पास रहकर भी किसी दूरी से मिल न पा रहे हों! एक दिन सध्या-काल मनु ध्यान-मग्न थे। भीतर-भीतर कानों में काम का सदेश गूँज रहा था। अतिथि गृह-व्यवस्था में रत था। मनु ने देखा एक चचल पशु-बाल श्रद्धा के साथ फुदकता आ रहा है। मनु ने सोचा अतिथि का स्नेह सबके लिए है, पर मेरे लिए नहीं? सहसा अधिकार-भाव जगता है। पास आकर श्रद्धा ने मनु के मन के द्वन्द्व को जानना चाहा। इस ममत्व-पूर्ण स्वर में मनु की खीझ डूब गयी। वे बोले, तुमने समस्त प्रकृति में एक नवीन आकर्षण डाल दिया है, हृदय-सौन्दर्य-प्रतिमे, मेरे हृदय की मधुर भूल-समान तुम कौन हो? श्रद्धा ने कहा, मैं वही अतिथि हूँ। आज क्या बात है जो तुम इस परिचय के लिए अपूर्व रूप से उद्विग्न हो उठे हो?

चलो, बाहर देखो, चन्द्र बादलों पर सवार हँस रहा है, चलो, इस चन्द्र को देखकर समस्त दुःख कल्पना को धो दो। दोनों प्रकृति का स्वप्न-शासन देखने निकल पडे। सृष्टि हँसने लगी, अनुराग खिल पडा। मनु श्रद्धा का हाथ पकडे निकल पडे थे। सुधा-स्नात देवदारुओं के बीच मनु ने कहा, तुम्हें कितनी बार देखा था, पर तुममें ऐसा आकर्षण कभी न मिला था। मेरी चेतना कहती है कि तुम मेरे हो। श्रद्धा ने राका-मूर्ति की ओर सकेत किया। मनु उस रात्रि में अनन्त मिलन-संगीत सुनने लगे। वे एक अशान्त वात्याचक्र में उड रहे थे। मनु ने सहसा श्रद्धा का हाथ पकड लिया और सावेश बोले, विस्मृति-सिन्धु में स्मृति की तरी थपेडे खा रही है, प्रलय में भी हम तुम मिलने को बच रहे हैं। आज तुम चेतना का यह समर्पण स्वीकार करो। मनु के इस अनुरोध पर श्रद्धा लज्जा से झुक गयी। नारीत्व खिल उठा। श्रद्धा ने स्वीकृति-सूचक शब्दों में कहा—हे देव, क्या आज का समर्पण नारी हृदय का चिर बँधन बनेगा?

श्रद्धा जब आत्म-समर्पण—भाव में खोयी जा रही थी, तभी उसकी हृदय—सहेली लज्जा ने उसे समझाना प्रारम्भ किया। श्रद्धा ने लज्जा से पूछा—कोमल पत्तों में छिपी नन्हीं कलिका-सी, माया-लिपटी, ओठों पर उँगली रखे तुम कौन हो? लता-सी बाहें फैलाये तुम कौन मुझे घेरती आ रही हो। आज जब अभिलाषा जीवन भर का उपहार लेकर यौवन में सुख-स्वागत को खडी हुई, तो तुमने यह क्या कर दिया? मेरी स्वच्छन्दता को तुमने परवशा-सा कर दिया। लज्जा ने कहा, चौंको मत! मैं सोच विचार के लिए रोकनेवाली एक पकड हूँ, मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ और शालीनता सिखाती हूँ। मैं उस चपल यौवन की धात्री लज्जा हूँ जिसके अभिनन्दन में फूलों की पंखुरिया बिखरती है, किसलय जिसका जय-घोष सुनाते हैं, जो चेतना का उज्ज्वल वरदान है (जो सौन्दर्य कहलाता है), और जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने सोते-जगते रहते हैं। श्रद्धा ने पूछा—बताओ इस ससृति-रजनी में मेरी प्रकाश-रेखा कहा है? मैं अपने को आज दुर्बल अनुभव कर रही हू, आखों में जल भर रहा है, तोलने के उपचार में स्वयं तुल जाती हू, मैं चाहती हू, सब दे दूँ, पर कुछ भी न लूँ। लज्जा ने कहा—नारी, तुमने आँसू का सकल्प लेकर अपने सुनहले सपने दान कर दिये हैं। तुम केवल श्रद्धा हो, अतएव विश्वास-रजत-नग के पदतल से निकल कर जीवन के समतल में पीयूष-धार सी बहो, देव-दानव के संघर्ष की समाप्ति के लिए तुम्हें मुसकानों के अक्षरों में आँसू से भींगे अंचल पर एक सन्धि-पत्र लिखना होगा।

मनु कर्म की ओर उन्मुख हुए। यज्ञ का सुप्त संस्कार फिर जगा। सोम-पान की लालसा दुर्निवार हो उठी। श्रद्धा की बातों और काम के सन्देश का अन्यथा अर्थ लगा कर मनु सोचने लगे। बाढ़ से बचे आकुलि और किलात नामक दो असुर-पुरोहित मनु के पशुओं को देखकर सतृष्ण हो उठे। उधर मनु कर्म-यज्ञ में ही जीवन-स्वप्न की पूर्ति देख रहे थे। दोनों मनु के पास गये और यज्ञ का प्रस्ताव किया। मनु ने सोचा यह उत्सव मेरी भी उदासी काटेगा और श्रद्धा की भी कुतूहल-वृद्धि होगी। यज्ञ पूर्ण हुआ। रक्त के छींटे पड़े थे। सोम-पात्र भरा था। कातर पशु-वाणी से वातावरण बोझिल था। पुरोडाश सामने था, पर मनु की श्रद्धा के कुतूहल-वर्धन की लालसा पूरी न हुई, वह अलग उदास बैठी थी। मनु सोचने लगे, क्या यह पशु मर कर भी हमारे प्रेम के बीच बाधक रहेगा, क्या श्रद्धा को मनाना पड़ेगा या स्वयं मान जायगी? सोम-पान के मद में मनु डूब गये। बुझती हुई आशा की झिलमिलाती शिखा के पास खिन्न श्रद्धा मृग-चर्म बिछाये पड़ी थी। खीझ के साथ ही मन में स्नेह का अन्तर्दाह भरा था। आँख कभी खुलती, कभी बन्द होती थीं। वह दुखी थी कि जिस मनु को वह चाहती थी, वह कुछ और ही बना जा रहा था। इस विषमता, निर्ममता और दो हृदयों की दूरी पर विकल श्रद्धा, गरल को अमृत बनाने का उपाय सोचती हुई सो गयी। सोम-पान में मदहोश मनु श्रद्धा के पास चले आये। श्रद्धा की हथेली हाथ में लेते हुए मनु ने कहा, मानवती यह कैसी माया है? अप्सरे, नूतन गान सुनाओ, यह विश्व हमारा भोग्य है। मनु ने श्रद्धा से भी सोम पीने का अनुरोध किया। मन की मधुर भाव-लहरियों को दबाकर श्रद्धा बोली, आज जिस भाव-धारा में बहते हो, कल यदि उसमें परिवर्तन आ जाय तो यज्ञ के लिए कोई अन्य साथी होगा और फिर कोई अन्य पशु देव-निमित्त बलि होगा? क्या इन अवशिष्ट प्राणियों का कुछ अधिकार नहीं है? क्या सब कुछ अपनालेने वाली मानवता ही तुम्हारी नवीन मानवता होगी? मनु ने कहा, दो दिनों के जीवन में यही सब कुछ है। हमीं सभी कार्यों की सीमा हैं। जब हमीं सुखी नहीं तो सब व्यर्थ है। श्रद्धा ने सविनय कहा—इस बची सृष्टि का यही लक्ष्य नहीं कि व्यक्ति अपने में ही सब कुछ सीमित कर जिये। यह भीषण एवं नाश-कारी स्वार्थ है। तुम औरों को हँसता देख हँसो। सस्मृति की सेवा ही सृष्टि-विकास है। त्याग में ही संसार में सुख है। मनु इसे मानकर सोम-पात्र श्रद्धा के मुख से लगा देते हैं और फिर एक ज्वलित चुम्बन के बाद अग्नि शान्त हो जाती है।

धीरे-धीरे मनु की हिंसा-वृत्ति बढ़ती जा रही थी। वे केवल शिकार करते थे। उनमें स्वामित्व का भाव भी प्रबलतर हो रहा था। अब श्रद्धा के विनोद

में उन्हें वह रस न आता था। एक दिवस श्रद्धा सायंकाल उदास बैठी थी। अब वह गर्भवती थी, उसका मुख केतकी-गर्भ-सा पीला हो गया था। मनु ने अनुभव किया, श्रद्धा शालि-सग्रह और तकली चलाने में ही व्यस्त रहती है, उसे मनु का ध्यान नहीं। मृत मृग को सामने रख मनु बैठ गये। उधर श्रद्धा चिन्तित थी कि अहेरी जाने कहाँ भटक रहे हैं, अभी तक न आये। प्रसवकाल समीप था। मनु को देखकर श्रद्धा ने कहा, पक्षी भी नीड में अपने शावक चूम रहे हैं, पर तुम्हें जाने क्या कमी है कि शाम-शाम भटकते फिरते हो, दूसरों के द्वार तुम्हें जाने क्या मिलता है? मनु ने कहा, तुम्हें भले कमी न हो, पर मैं अभाव में जल रहा हूँ। मुझे ये अवरुद्ध साँसे भार हैं, लगता है मैं एक पगु, गतिहीन टीला बन गया होऊँ। मृग रहते अन्न-चिन्ता और चर्म रहते तकली का कार्य क्यों? तुम थककर पीली क्यों हो? श्रद्धा ने कहा, आत्मरक्षा में हिंसा उचित है, पर व्यर्थ उनका चर्म क्यों खींचा जाय? जिसे पालकर लाभान्वित हुआ जा सकता है, मारना क्यों? हम पशु से बडे हैं, तो ससार-सेतु बनें। मनुने कहा, हम सहज-लभ्य सुख से विरत रहकर सघर्ष से दूर क्यों जायँ? संसार नश्वर है, सारा देव-सुख लुट गया! यह चिर मंगल का भाव व्यर्थ है, तुम अपना दुलार मुझे और केवल मुझे दो। श्रद्धा ने मनु को नव-निर्मित घर दिखाया, पर मनु को रुचा नहीं। श्रद्धा ने कहा, तुमसे अलग मैं यह तकली कातती हूँ, ताकि इन सूत्रों से नग्न मानवता ढके, असहाय प्राणों को अवलम्ब मिले, सौन्दर्य का मान बढ़े। जब वह भावी शिशु आवेगा तो इसमें पाल-खिलाकर मैं आखों का खारा पानी अमृत बना लूँगी। मनु ने कहा, मुझे मेरा ममत्व चाहिए, मुझे इससे सुख न मिलेगा। इस पचभूत की रचना में मै एक तत्त्व बनकर रमण करना चाहता हूँ। यह द्वैत प्रेम का कटक है। तुम्हारे दीन अनुग्रह का मैं आभारी नहीं बनूँगा। तुम अपने सुख में सुखी रहो, मैं अपने दुःख मे ही सुखी रहूँगा। मनु चले गये और श्रद्धा रोकती ही रही।

मनु थके पडे यह सोच रहे थे कि झंझा-प्रवाह-सा विक्षुब्ध यह जीवन-महा-समीर किस गम्भीर गुहा से निकल पडा है। यह भयभीत है, सभी भय-ग्रस्त हैं। अस्तित्व के चिरन्तन धनु से यह विषय तीर कब छूट पडा? ये शैल-शृङ्ग जड गौरव के प्रतीक हैं। मनु तो गति चाहते थे, वह जडता नहीं। वे प्रज्वलित सूर्य की तरह ससार को कँपाते चलना चाहते थे। उनकी पुकार उस विजन वन में बिलख रही थी। उनके सामने उजडा-सूना नगर-प्रान्त था। श्रद्धा-विरहित मनु यों ही अशान्त, विक्षुब्ध भटकते हुए वहाँ पहुँचे थे। पास में सरस्वती की धारा और निस्तब्ध रात। वह सारस्वत प्रदेश शून्य पड़ा हुआ था। उन्हें लगा,

उनमें सुर-असुरों के विकृत भाव द्वन्द्वशील हो उठे हों। इसी समय काम ने मनु को सचेत किया कि तुम श्रद्धा को भूल गये हो। तुमने अपने सुख-साधनों को ही सब कुछ समझ लिया, तुमने वासना-तृप्ति को ही स्वर्ग समझा। अधिकार और अधिकारी के सामरस्य को भूलकर, तुम नारी की सत्ता को भूल गये हो। मनु को जैसे शूल चुभ गया हो! मनु ने कहा, क्या श्रद्धा को पाकर भी मैं पूर्णकाम नहीं हुआ? काम ने कहा, उसने तुम्हें चेतन-ज्योति से पूर्ण सरल हृदय दिया, पर तुमने तो उसे जड़ मान केवल उस सौन्दर्य-सागर से अपना विष-पात्र ही भरा! तुमने प्रणय-दीप की ज्योति के स्थान पर, भ्रम के अंधकार में वासना-ज्वलन को महत्व दिया। इस द्वयता-पूर्ण संघर्ष में सब कुछ रखकर भी यह समाज दुखी होगा। यहाँ मस्तिष्क हृदय के विरुद्ध है, नित्यता पल-पल में विभाजित। तुमने श्रद्धा को छला है। इसके पश्चात् ही काम का अभिशाप-स्वर बन्द हुआ, जैसे आकाश के महासिंधु में महामीन छिप गया हो! मनु काम की इस अनागत वाणी पर अत्यन्त उद्विग्न और निराश हुए। सरस्वती अब भी अप्रमाद भाव से बहती जा रही थी, उसमें कर्म की निरन्तरता और आत्म-नियन्त्रण था। प्रभात की सुन्दर पीठिका पर एक सुन्दर बाला (इड़ा) प्रकट हुई। उसकी अलकें तर्क-जाल-सी बिखरी थीं, भाल शशि-खण्ड के समान स्पष्ट था। छाती पर संसृति के समस्त ज्ञान-विज्ञान के घट धरे थे, एक हाथ में कर्म-कलश और दूसरा विचारों के नभ को सँभाले था। मनु आलोक से भरी उस हेम-छाया से चकित हो गये। नारी ने कहा, मैं इड़ा हूँ, पर तुम कौन हो? मनु ने अपना व्यथित परिचय दिया। इड़ा ने अपने देश के उजड़ेपन का परिचय दिया और कहा कि स्यात् इसके दिन फिर फिरें। मनु ने कहा, यह महाकाल भीषण समुद्र-तरंगों-सा खेल रहा है, क्या यह निष्ठुर रचना केवल भ्रांति के लिए है? शनि-लोक की सुदूर नील छाया के समान इस आकाश के परे स्थित ज्योति की कोई किरण, क्या इस नियति से मुक्त कर स्वतन्त्र नहीं कर सकती? इड़ा ने कहा, नर को किसी पर निर्भर न होकर अपने गन्तव्य पर चलना चाहिए। बुद्धि का कहा मानो, विपुल ऐश्वर्य-मयी प्रकृति का रहस्य ढूँढो, तुम्हीं समता-विषमता की यथातथता के निर्णायक हो, विज्ञान से जड़ता को चैतन्य करो। मनु ने मान लिया, उषा हँस पड़ी और इड़ा चल पड़ा। मनु ने कहा, इड़ा उषा-किरण है, जीवन-निशा का अंधकार हट रहा है। मनु ने बुद्धिवाद और कर्म को साधन बनाया।

अब मनु उस सारस्वत-प्रदेश के प्रजापति थे, इड़ा उसकी रानी थी। उधर कामायनी सूनी साँसें भरती हुई मन्दाकिनी से जीवन के सुख-दुःख के तारतम्य

की समस्या का हल माँग रही थी ! अब न परागों की वैसी चहल-पहल ही थी और न कोयल का स्वर ही। पतझड की सूनी डाली और प्रतीक्षा की साँझ के निकट कामायनी अपने हृदय को कडा बनाने का प्रयास कर रही थी। विगत स्मृतियों के बीच आखें भरे मनु की लौटने की प्रतीक्षा में निराश थी। सहसा कामायनी-पुत्र की किलकार सुनाई पडी, सूनी कुटिया गूँज उठी। पके फलों से पेट भर, बच्चा माँ से किल्लोल कर सोने लगा। कामायनी स्वप्न देखने लगी—देखा, सारस्वत प्रदेश में इडा मनु का पथ आलोकित करती जा रही है, वह मनु की सफलता विजयिनी तारा है। जनता श्रम कर रही है, नगर सम्पन्न है। स्वप्न-दशा में नगर में विचरण करती हुई कामायनी मलय-वालिका-सी सिंह-द्वार में प्रविष्ट हो गयी, सुन्दर नवमंडप में चमडे से मढ़ी कुर्सियाँ रखी हैं, अगरु जल रहा है। श्रद्धा ने देखा, मनु निःश्वास-हीन मुद्रा में बैठे हैं और इडा आसव पिला रही है। मनु ने पूछा, क्या कुछ और करणीय शेष है ? इडा ने कहा, क्या सब साधन स्ववश हो चुके ? मनु ने कहा, मैं रिक्त हूँ; ऐ मेरी चेतनते, बोल तू किसकी है ? इडा ने कहा, तू प्रजापति है, फिर सन्देह क्यों ? मनु ने कहा, तू प्रजा नहीं, मेरी रानी है, मुझे भ्रम में न डाल ! मनु ने इडा को आलिंगन करते ही रुद्र हुँकार उठा, प्रजा क्रुद्ध हो गयी, आकाश में देव-शक्तियाँ क्रोध से भर गयीं ? नगरी व्याकुल होकर काँप उठी, स्वयं प्रजापति अतिचारी हो ? इडा क्रुद्ध और लज्जित बाहर हो गयी, प्रजा ने द्वार घेर लिया, भीतर से डरे पर बाहर से क्रुद्ध मनु शयनागार में चले गये। द्वार बन्द कर दिये गये।...सपना टूटा और श्रद्धा जाग गयी चिन्ता में श्रद्धा की रात बीत गयी ! प्रजापति ने प्रजा पर अतिचार किया था !

श्रद्धा का यह सपना वस्तुतः यथार्थ की प्रतिच्छाया थी। 'संघर्ष'—सर्ग में वह सपना सत्य हुआ। भौतिक विप्लव की घबराई जनता शरणार्थ राजा के पास आई। प्रजापति ने उनका अपमान किया। काली रात्रि, चपला कडक रही थी। मनु शोक और क्षोभ के श्वानों से प्रताडित थे। मनु ने बिखरी प्रजा को सँजोया था, पर वे अपने बनाये नियम के स्वयं अधीन नहीं बनना चाहते थे। सृष्टि परिवर्तन-मयी है। मनु ने इतना किया पर इडा उनका एक भी निर्बाधित अधिकार न मान सकी ! नियामक मनु नियमों के वशीभूत होना नहीं चाहते थे। वे श्रद्धा को भी समर्पण-अधिकार न दे सके थे। उनकी मान्यता थी, वे मृत्यु की सीमा का उल्लंघन करते चलेंगे और महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण उनका था, उसके अतिरिक्त शेष मात्र स्वप्न था। करवट फेरते ही मनु ने अविचल खडी इडा को देखा। इडा ने कहा, नियामक नियम न माने तो सर्वनाश !

मनु ने कहा तुम यहाँ कैसे ? क्या अभी कुछ और उपद्रव शेष है ? इडा ने कहा, आज तक सबकी सन्तोष-इच्छा को दबा कर निर्बाध अधिकार का स्वत्व किसे मिला ? मनुष्य संघर्ष-मयी चेतना का परिणाम है। संघर्ष में अच्छा ठहरता है, वही रहता है। व्यक्ति-चेतना परतन्त्र है। नियत मार्ग-पर ठोकर खाती व्यक्ति-चेतना लक्ष्य की ओर चलती है यही जीवन-साधना है। अपना श्रेय ही सुखाराधन है। प्रजा-सुख के साथ ही तुम्हें सारा अधिकार है। देश काल में और काल महाकाल में समा जाता है। अपना विवादी स्वर न छोड कर सबके साथ ताल लय में चलो! मनु ने कहा, अब मुझे ऐसा न समझाओ। मैं केवल देने ही नहीं पाने के लिये भी हूँ यदि मैं रिक्त, तो सब व्यर्थ है। मेरा तुम पर अधिकार नहीं तो प्रजापतित्व-व्यर्थ है। तुम मेरी हो. मै खेल नहीं कि तुम मुझसे खिलवाड करो। इडा ने कहा, तुम न समझोगे। क्षुब्ध प्रजा शरणार्थी है, प्रकृति आतंकित है; मुझे जो कहना था कह चुकी। मनु ने कहा, तुमने अभिशप्त किया, मैंने सब कुछ किया, अब इस हताश जीवन को सुखी करो तुम मेरी न हुई तो सब कुछ ध्वस्त समझो। इडा ने कहा, मेरे दान को यों मत भूलो। सवेरा हो रहा है, सभल जाओ तो सब बन जाय। मनु न माने, लपक कर इडा को भुजाओं में भर लिया और कहा कि इडा, यह छल न चलेगा। मैं शासक हू, चिर स्वतन्त्र हूँ! इतना कहते ही सिंहद्वार ध्वस्त हो गया, प्रजा भीतर घुस कर 'हमारी रानी' की पुकार लगाने लगी। मनु राजदण्ड उठा कर चीखते हुए बोले क्या तुम मेरे आभार भूल गये ? प्रजा ने कहा, तुमने हमें सवेदन शील बनाया, कल्पित कष्टों के निर्माण किये, यंत्रों से सहज शक्ति छीन ली। हम पर जीकर हमारी रानी को बन्दिनी बनाने वाले, तेरा निस्तार नहीं! मनु ने क्रुद्ध स्वर से कहा कि तो भीषण युद्ध होगा। भीषण संग्राम हुआ। असुर-पुरोहित किलात और आकुलित भी मनु के विरुद्ध थे। मनु ने उन पर प्रहार किया। इडा ने मना किया और जीने तथा जीने देने की सीख दी। मनु न माने। प्रजा भी डटी रही। अन्ततः मनु घायल होकर धरा-मूर्च्छित हो गये।

सारस्वत नगर ध्वस्त और मौन पडा था। सरस्वती बह रही थी। अब भी वायु में क्रन्दन गूँज रहा था। प्रकृति उदास थी। 'यह भव-रजनी भयानक है।' मण्डप के सूने सोपान पर धधकती अग्नि-सी केवल इडा बैठी थी। मनु वहीं घायल पडे थे। इडा सोच रही, मनु ने उसे स्नेह किया था, पर उसका स्नेह मर्यादापेक्षी था। छोटा-सा अपराध जीवन के एक कोने से उठकर इतना विस्तृत हो गया। इडा मनु की निर्माण-शक्ति और साहसिक उन्नति तथा इस करुण पतन पर सवेदन शील हो उठी थी। गुण और दोष सर्ग-अंकुर के दो पत्र हैं, इन

दोनों को ही क्यों न प्यार किया जाय ! वस्तुतः सुख का अति-विस्तार ही दुःख है। मनुष्य भावी-चिन्ता में वर्तमान को कटक मय बना लेता है। इडा स्वयं नहीं समझ पाती कि वह मनु की दण्ड-विधायिनी है या प्रहरिणी ? उसे आशा थी कि इससे स्यात् कुछ सुन्दर फल निकले। इतने ही में उसे वियोगिनी श्रद्धा का स्वर सुनाई पडा जो अपने प्रवासी की योगिनी बनकर ढूँढ रही थी। इडा उठी सामने राज पथ पर छाया रूपिणी श्रद्धा का वेदना-विकल रूप देखा। साथ में मौन धैर्य के समान माँ की उँगली पकडे छोटा-सा बालक (श्रद्धा-पुत्र, मानव) चला आ रहा था। द्रवित इडा ने उन्हें सान्त्वना दी। इडा के साथ, मंडप की वेदी-ज्वाला में श्रद्धा को अपना सारा स्वप्न सत्य बना दिखाई पडा। वहीं पास में घायल मनु पडे थे। श्रद्धा चीख उठी, आह ! प्राण प्रिय !! इडा चकित थी। श्रद्धा के कर-स्पर्श का मधुर लेप पाकर घायल मनु ने अश्रु-भरी आँखें खोलीं। श्रद्धा-पुत्र मंडप, प्रासाद और मदिरों पर साश्चर्य हो रहा था। श्रद्धा ने कुमार को बुलाकर पिता को दिखालाया। कुमार ने पिता के लिए जल का अनुरोध किया। मडप कुमार की काकली से भर गया। इधर यह लघु परिवार जुट गया था, उधर प्रभात हुआ। कृतज्ञ मनुने श्रद्धा से कहा, श्रद्धे, तू मुझे इतनी दूर ले चल, जहाँ तुम्हें फिर न खो सकूँ ! मनु जल पीकर स्वस्थ हुए और चलने को कहा। श्रद्धा ने कहा, स्वस्थ हो जाओ, तब तक हम इनके (इडा) अतिथि रहेंगे। इड़ा दूर सकुचित खडी थी। मनु उन दिनों को भाव-विभोर हो दुहराने लगे, जब श्रद्धा उनके हृदय-सीप में मोती बन गयी थी। आज मनु का पतझर-जर्जर-जीवन वर्षा का कदम्ब-कानन था ! उनके लिए श्रद्धा सुहाग की अजस्र वर्षा और स्नेह की मधु-रजनी थी !! मनु श्रद्धा का सच्चा स्वागत न कर सके थे। बुद्धि और तर्क के छिद्रों के कारण मनु का हृदय अपूर्ण ही रहा। मनु ने कहा, तुम और स्नेह-रूप कुमार सुखी रहो, मुझ अपराधी को छोड दो। दिन बीत गया, रात आई। इडा कुमार के पास दबी उमंगो के हृदय के साथ खडी थी। हाथों पर सिर टेके लेटी श्रद्धा सोचती रही। मनु चुपचाप सोचते थे, जीवन एक विकट पहेली है। वे श्रद्धा को अपना कलुषित मुख नहीं दिखाना चाहते थे। श्रद्धा के रहते शत्रु-प्रतिशोध भी संभव न लगा। प्रभात में मनु अदृश्य थे, श्रद्धा चिन्ता-ग्रस्त और इडा अपराधिनी अनुभव कर रही थी।

चन्द्रहीन नीरव रात्रि में श्रद्धा और कुमार वार्त्तालाप कर रहे थे। हवा मन्द और वृक्ष मौन खडे थे। कुमार ने लौटने को कहा और माँ ने उदासी का कारण पूछा। माँ ने मुख चूम कर कहा, परिवर्तनशील होकर भी यह विश्व शीतल और शान्त है। इतने में ही पीछे से राहु-ग्रस्त विधु-लेखा की भाँति

इडा ने कहा, माँ मुझसे विरक्त क्यों हो ? श्रद्धा ने घूमकर कहा, तुझ पर विरक्ति का कोई कारण नहीं, तुमने तो मुझ से बिछुडे को सहारा दिया था। तुम मनु की चिर अतृप्ति, उत्तेजित विद्युत्-शक्ति हो। मैं तुमसे क्षमा माँगती हूँ। इडा ने कहा, अब मेरा मौन असह्य है। यहाँ कोई अपनी अधिकार-सीमा में नहीं। मैं कभी की कल्याणी आज निषिद्ध हूँ। लोग लालसा-तृप्त हैं। मेरे सुविभाजन विषम बन गये। क्या संघर्ष और कर्म मिथ्या हैं ? क्या यत्न निष्फल हैं ? देवि, अपनी क्षमा से मेरी चेतनता जगाओ। श्रद्धा ने कहा, तुझे हृदय न मिला, तू सिर चढ़ी रही। लोग भ्रान्त हो गये, जीवन-धारा एक सुन्दर प्रवाह है। तर्कमयी, तुम ने सीधा रास्ता छोड दिया और लहरें गिनने लगी। तुमने जग को भौतिक खडों में विभाजित कर दिया। जगत् चिति स्वरूप है और है सतत उल्लास-मय। इसमें एक ही राग अकृत है। तेरी छाती जल रही है, तू मेरे कुमार को ले ले। श्रद्धा ने कुमार से कहा, सौम्य, तुम यहीं रहो, राष्ट्र-नीति देखो, भय न फैलाओ। मैं अपने छली को ढूंढूगी, कहीं मिल ही जायगा। कुमार ने कहा, मुझसे ममता न तोड़ना, मैं प्रण-पूर्वक आज्ञा पालन करूँगा। श्रद्धा ने कहा, पुत्र, तर्कमयी इडा के साथ श्रद्धा-मय तू मननशीलता के साथ निर्भय कर्म कर और समरसता का प्रचार कर। इसी से मनुष्य का भाग्योदय होगा। इडा ने आभार-स्वरूप श्रद्धा की चरण-धूलि ली। इडा और कुमार भीतर ही भीतर हृदयालिंगन का-सा सुख अनुभव करते नगर की ओर चल पडे। श्रद्धा दूसरी ओर चल पडी। एक जगह एक लता-कुंज मे उसे मनु मिले। मनु ने देखा, श्रद्धा का शीश पार्श्व स्थित शैल-शिखर से भी ऊँचा था, वह विश्व-मित्र मातृ मूर्त्ति बन गयी थी। मनु को पश्चात्ताप था कि अपने हृदय-खण्ड को भी इडा को देकर अडिग रहने वाली श्रद्धा फिर छली गयी थी। श्रद्धा ने कहा, कोई देने मे रंक नहीं होता। अब बन्धन मुक्ति बन रहा है। तुम ने स्वजनों का त्याग किया था, फिर अब दुखी क्यों हो ? मनु श्रद्धा की उदारता पर अवाक् थे। वे श्रद्धा को देखकर लघु विचार भूल गये थे। अपनी लघुता पर लज्जित थे। 'श्रद्धा' ने कहा प्रलय-रात्रि के प्रभात मे अपने आत्म-समर्पण को मैं भूल नहीं सकती। मैं सदा तुम्हारी हूँ। यह महा-वैषम्य का विष दूर हो, देव द्वन्द्व का प्रतीक मानव अपना पथ पाये और असत् गिर जाय। मनु ने अँधेरे में देखा, सत्ता स्पन्दित थी। आलोक-पुरुष के दर्शन हुए, अंधकार जिसकी केश-राशि थी। शून्य मेदिनी चैतन्य-मय थी। नटराज स्वयं उद्भमित होकर नृत्य कर उठे। उनके ताल में समस्त ताप दूर गया। युग चरण महाग-सृजन की भाँति गतिमान थे। चेतन परमाणु उनके विद्युत्कटाक्ष पर बिखरते, बनते और विलीयमान हो रहे थे, सृष्टि

झूम रही थी। मनु नटराज के समरस, अखण्ड आनन्द-रूप पर विभोर थे। मनु पुकार उठे, श्रद्धा, मुझे उन चरणों तक ले चल, जहाँ पाप-ताप निर्मल हो उठें, जहाँ समरसता का अखण्ठ आनन्द सुलभ हो।

मनु और श्रद्धा हिम-प्रदेश में बढ़ते चले जा रहे हैं। ऊँचे-ऊँचे पर्वत; थके हुए श्रद्धा-प्रेरित मनु चले जा रहे हैं। प्रतिकूल वायु बाधक है, पर वे रुकते नहीं। सूर्य हिम-शिलाओं पर अनेकश: हो रहा था, भयानक गर्त्त और घाटियाँ थीं। निर्झरों वाला हिमालय गंड-मद-झरित गजराज की भाँति लग रहा था। मनु ने कहा, श्रद्धा, लौट चल, नीचे के प्राणी मेरे ही थे, मैं ये बाधाएँ न झेल सकूँगा। श्रद्धा ने कहा, अब इतनी दूर आकर लौटने का समय नहीं। देखो समतल भूमि आ गयी, हम दो पक्षी-से यहीं विश्राम करेंगे। मनु ने आँखें खोलीं, कुछ ढाढस हुआ। वहाँ से त्रिदिक् विश्व तीन आलोक-बिन्दुओं के रूप में दिखाई पडा। मनु के पूछने पर श्रद्धा ने कहा, ये इच्छा, ज्ञान और क्रिया के बिन्दु हैं। श्रद्धा ने तीनों की प्रकृतियों, गुणों और विशेषताओं का संकेत करते हुए मनु को उनका परिचय कराया। 'अरुण लोक' इच्छा, 'श्याम लोक' कर्म और 'श्वेत लोक' ज्ञान का लोक था। श्रद्धा मुस्करायी, उसकी मुस्कान की ज्योति-रेखा ने तीनों गोलकों को एक में जोड दिया। ज्ञान, क्रिया और इच्छा के परस्पर-विरहित अस्तित्व विषम और दु:ख-कारक है। श्रद्धा से उनका मिलन ही जीवन की आनन्द-भूमि है। तीनों लोक महाशून्य में लचक उठे। सारा विश्व शृंगी और डमरू के नाद से पूर्ण हो उठा। श्रद्धा-मय मनु स्वप्न, स्वाप और जागरण से अतीत महाचिति में तन्मय थे।

सरिता के किनारे-किनारे यात्रियों का एक दल चला जा रहा था। धर्म का प्रतीक धवल वृषभ के गले में घंटा बज रहा था। साथ के मनुष्य के दाँये हाथ में त्रिशूल और बायें में वृषभ सूत्र था। वह युवक गम्भीर और तेजवान् था। बैल के अपर पार्श्व में इडा चल रही थी। मानव और गैरिक वसना इडा के साथ शिशु, और स्त्री-पुरुष-समुदाय था। माताएँ बोध देतीं, पर बच्चे इस तीर्थ-यात्रा से ऊब चले थे। एक बालक इडा के पास पहुँचा और उसने कहानी सुनाने का आग्रह किया। इडा ने बच्चे के हठ पर कहना प्रारम्भ किया कि संसार की ज्वाला से जला एक मनस्वी पुरुष यहाँ आया था। उसे ढूँढती हुई उसकी स्त्री भी पहुँची। स्त्री के मंगल-अश्रु-बिन्दुओं से झुलसा वन हरा-भरा हो गया। वह विश्व-ज्वाला-दग्ध प्राणी अब अपनी पत्नी के साथ यहाँ संसार की सेवा करता है। उनके निकट के महाह्रद मानस तक जाकर लोग सुख पाते हैं। बालक ने बैल पर आरूढ होने को कहा, तो इडा ने कहा, हम इस पर चढेंगे

नहीं, इस धर्म-प्रतिनिधि को वहीं मुक्त कर देंगे। इतने में उतराई आ गई। लोगों का ताप शमित हो गया। सामने धवल-वेशी हिमालय शोभित था। मरकत पर हीरक-जल-सा मानसरोवर सामने था। चन्द्र आकाशस्थ था। वल्कल वसना सध्या के तले कैलाश ध्यान-मग्न था। मनु भी वहीं ध्यान-मग्न थे। श्रद्धा फूलों की अंजलि ले खड़ी थी। सभी ने पहचान लिया। बैल भी आगे बढ़ा। आगे इडा और पीछे मानव (कुमार, श्रद्धा-पुत्र) था। मानव श्रद्धा से लिपट गया, इडा शक्ति-तरंगित मनु को देख कर आँखों को धन्य मान रही थी। आज उसे क्षमा की कामना न थी। इडा ने श्रद्धा को मत्था टेका और अपनी अल्पज्ञता के लिए क्षमा माँगी। उसने अपने आने का उद्देश्य कहा। मनु जी ने उसे कैलाश दिखलाया और कहा, यहाँ कोई पराया नहीं, हम केवल हम हैं। यहाँ कोई शाप-ताप नहीं, यहाँ सब कुछ समतल और समरस है। यहाँ अभेद का अबाध समुद्र है। यह चराचर विश्व-मूर्ति महाचित का मगल शरीर है, यह विश्व सतत सुन्दर और चिर सत्य है। सुख-दुःख का सामरस्य ही मूल मंत्र है। कामायनी संसार की ज्योतिर्मयी मगल-कामना थी। वहाँ प्रकृति पूर्ण चैतन्य और आनन्दमय थी। चतुर्दिक् जीवन-वंशी का विश्व मोहक स्वर बरस रहा था। हिमालय पर चन्द्र खिला था, जैसे वह पुरातन पुरुष आनन्द-शिव हो! सब सबसे एकात्म थे। जड और चेतन की उस समरसता में अखण्ड आनन्द घनीभूत हो उठा था।

इस प्रकार पुराण कथा में एक साथ ही मानव का मनोविकास, मानवता का विकास-इतिहास और जीव की शिव-साधना का मार्ग प्रसाद की महा-प्रतिभा के प्रकाश में साकार हो उठा है। आज के युग में परिव्याप्त भौतिक सघर्ष और श्रद्धा-रहित बुद्धि-विज्ञान की विखराहट को भी 'कामायनी' ने एक भारतीय समाधान प्रदान किया है। यह रूपक-कथा मानव की सामयिक और सास्कृतिक समस्या को ही उपस्थित नहीं करती, वरन् इसने मानव-मन की शाश्वत प्रवृत्तियों का भी विश्लेषण-निरूपण किया है। अन्तर्वृत्तियों के चित्रा-कन, सूक्ष्म भावों के प्रतीकीकरण और स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म संकेतों की विशिष्ट शैली में समस्त कथानक दर्पण की परछाईं की भाँति, झिलमिलाता चलता है। व्यंजना की प्रधानता और अनेकार्थता की प्रेरणा से ही कथा के स्थूल उपादान सूक्ष्म कर दिये गये हैं। इसी सूक्ष्मता के कारण ही यह तहरी अर्थवत्ता निबह सकी है। 'कामायनी' भावुक 'प्रसाद' के अद्भुत सन्तुलन का प्रतीक है। इच्छा-क्रिया और ज्ञान, तर्क और श्रद्धा, सूक्ष्म और स्थूल, दर्शन और व्यवहार, काव्य और समाज-शास्त्र, अतीत और वर्तमान—का जो

अप्रतिम सन्तुलन हमें 'कामायनी' में मिला, वह युगों की साहित्य-यात्रा का विरल फल है। पिछले 'छाया'-प्रबन्धों की भाँति कामायनी भी अनेक सूक्ष्म वर्णन-खण्डों के भीतर से अपना रूप-प्रसाधन करती है। उसमें भी कथा गौण और ध्वनि या व्यंजना ही मुख्य साध्य है। कभी-कभी तो पृष्ठों पढ जाने के बाद कथा का स्थूल सूत्र मिलता है। निश्चय ही 'कामायनी' की पृष्ठभूमि के पूर्व ज्ञान के बिना प्रथम बार पढने वाले पाठकों को कथा समझने में कठिनाई होती है। 'कामायनी' यह सिद्ध कर देती है कि इस युग का कवि कथा की स्थूलता से कितनी अरुचि रखता था। अर्थ-वैविध्य की सूक्ष्मता को ध्वनित करने की स्पृहा जहाँ महान् उद्देश्यों से समन्वित हो उठी है, वहाँ काव्य में अप्रतिम बल और गौरव आ गया है। जहाँ यह वृत्ति महान् उद्देश्य और सच्ची अर्थ-गरिमा से विरहित होकर चली है, प्रयास की कृत्रिमता स्पष्ट हो उठी है। गौरव का विषय है कि 'कामायनी' की समस्त अस्पष्टता, अनेकार्थक सूक्ष्मता और स्थूल कथोपादान का त्याग महान् उद्देश्य और जीवन के गम्भीरतम अन्तर्सत्यों की ओर सफलता से नियोजित है, अतएव वह छायायुग के समस्त गौरव, समग्र नव्य प्रयास और सारे विद्रोहों की प्रौढतम अर्थवत्ता पाकर अपरिमित ज्योति से जगमगा उठी है। उसे इस धारा का पूर्ण प्रतिनिधि महाकाव्य कहेंगे।

'निराला' जी 'प्रसाद', 'पन्त' और महादेवी की अपेक्षा भावुक कम और दार्शनिक अधिक रहे हैं। दर्शन की उच्च भूमिका पर ही उन्होंने अपनी अनुभूतियों का भावन भी किया है। जहाँ कहीं उन्होंने स्फुट अनुभूतियों का गीतात्मक विन्यास किया है, वहाँ उनमें कुछ अस्पष्टता भले आ गयी हो पर जहाँ किसी घटना अथवा कथा का आधार लिया है, वहाँ उसमें वह जटिलता और अति-संकुलता नहीं है। 'निराला' जी की सूक्ष्म अनुभूतियों में पाठकों को भले ही दुर्गमता अनुभव हो, पर दार्शनिक आधार के कारण स्वयं 'निराला' जी के मन में उनकी एक रूप-रेखा होती है। 'प्रसाद' जी 'कामायनी' के 'रहस्य' और 'आनन्द' सर्गों में प्रतिभा के प्रातिभ प्रवाह में, कहीं-कहीं इस प्रकार डूब जाते हैं कि अनुभूतियों की स्पष्ट रूप-रेखा का बोध अस्पष्ट हो जाता है, यद्यपि उन उक्तियों में एक तन्मय रमणीयता का आलोक सदैव झलमलाता चलता है। 'निराला' का विषय अपनी स्वकीय दुर्बोधता से कठिन भले लगे, पर उस दार्शनिक पीठिका से परिचित पाठक को विषय के बोध में उतनी कठिनाई नहीं पडती। बात यह है कि 'प्रसाद' जी का दार्शनिक जब कवि बनता है, तो उस पर कवि की आनुभूतिक वैयक्तिकता का आवेग छा जाता है और जब 'निराला'

जी का दार्शनिक कवित्व की भूमिका पर अधिष्ठित होता है, तो कवि पर दार्शनिक का नियन्त्रण बना रहता है। कवित्व की दृष्टि से 'निराला' में दार्शनिकता का भावन भले ही उस स्तर का न हो सका हो, अपनी विषय-सीमा में वह स्पष्ट अवश्य होता है। 'प्रसाद' के कवि ने उनके दार्शनिक को दुर्बोध बनाया है और 'निराला' के कवि ने उनके दार्शनिक को सुबोध। यह कथन 'प्रसाद' और 'निराला' के तुलनात्मक परिप्रेक्षण में न किया जाकर स्वयं उनकी अलग-अलग और निजी काव्य-प्रक्रियाओं को ध्यान में रखकर किया गया है।

'जुही की कली'—'निराला' जी की अत्यन्त आरम्भिक रचनाओं में से है, इसमें भी एक संक्षिप्त घटना है। विजन वन में वल्लरी पर स्नेह के स्वप्न में मग्न एक कोमल-तनु तरुणी जुही की कली सुहाग में माती सोई थी। शिथिल पत्राङ्क में उसके दृग बन्द थे। निशा वासन्ती थी, प्रियतम मलयानिल कहीं दूर देश में था। कली प्रोषित पतिका थी। पिछले जीवन की अनेक स्मृतियाँ उसे सताने लगीं। उसे बिछुड़न से मिलन की मधुर बात याद आयी। कान्ता का कम्पित कमनीय गात और चाँदनी से धुली आधी रात स्मृति मे घूम गयी। वन-उपवन, सरि सरोवर और गिरि-कानन पार करते हुए नायक पवन चल पड़ा। मिलन-वेला मे आलिंगन के समय प्रिय के कर स्पर्श से कली को रोमाच हो आया, वह हिल उठी। पवन अपने को न सँभाल सका। केलि क्रीडा के स्थलपर नायक के पहुँचते ही कली जग न सकी, वह सोती भला प्रिय आगमन कैसे जानती। नायक ने कपोल चूम लिये। वल्लरी की लड़ी हिंदोल-सी हिल उठी। किन्तु कली इस पर भी न जग सकी और न चूक के लिए क्षमा ही माँग सकी। निद्रा-वश विशाल वंकिम नेत्र मूँदे रही, किम्वा मतवाली यौवन की मदिरा पिये थी, कौन कहे! नायक पवन ने अन्य रीतियों का सहारा लिया। उसने बड़ी निष्ठुरता की। उसने झोकों की झड़ियों से सारी सुन्दर-सुकुमार देह झकझोर डाली; गोरे कपोल मसल दिये। प्रिय को सेज के पास देखकर युवती चौंक पड़ी, मुख नीचा हो गया, प्रिय के संग रंग-क्रीडा में वह खिल उठी। कथा में तीन अर्थ एक साथ भासित हैं। एक अर्थ तो कली और पवन के प्रसग का अभिधेय ही है। दूसरा अर्थ लौकिक नायक-नायिका का लाक्षणिक है और तीसरा अर्थ माया-सुप्त आत्मा और परमात्म-बोध का व्यंग्य है। अर्थ-शान्ति के इन तीन आयामों तक फैली यह कथा-कविता पद, अर्थ और काव्य-गुण सभी विशिष्टताओं से सम्पन्न है। रचना-काल कवि का यौवन-काल है और प्रसग पूर्ण शृंगारिक, अतएव यदि कथा कवि की अपनी प्रणय-कथा का रूपक मान ली जाय तो अस्वाभाविक नहीं।

यौवन का स्वस्थ एवं निर्ग्रन्थ प्रवाह तथा प्रणय की पौरुष-पूर्ण निश्छल अभिव्यक्ति 'निराला' के व्यक्तित्व के अनुकूल ही है ! सूक्ष्म अकन और नीरस इति वृत्तात्मकता का परित्याग छाया युगीन है ।

'जागृति में सुप्ति थी' और 'जागो फिर एक बार' जैसी कविताएँ भी अकनात्मक और घटनाश्रित हैं । 'जागृति में सुप्ति थी' शृगारिक रचना है । विहग के बहुरगी पखों की भाँति स्वप्नों से आच्छादित प्रिया के नेत्र बन्द थे । सरोवर में उठी लघु लहरी के समान प्रिया के मौन अधरों में सुरा-मादक स्वर सो चुका था । इस प्रकार निद्राकालीन सौन्दर्य के सूक्ष्म अकन के पश्चात् प्रिया के जागरण का स्वप्न-समाधि-भग वर्णित है । सुप्ति और थकान के हटते ही सपने बिखर गये, यह दु खद हुआ । कविता में एक आध्यात्मिक संकेत भी निहित है । ब्रह्म ही प्रिय है। 'शेफालिका' में कली-सुन्दरी के यौवन-प्रस्फुटन वर्णन है। 'यौवन-विकास' में कचुकी के बन्द स्वयं टूट जाते हैं। कविता सूक्ष्म अकन और सकेत से पूर्ण है।

'जागो फिर एक बार' 'निराला' जी की एक विस्तृत कविता है । कविता दो खडों में विभक्त है । प्रथम भाग में मधु की गलियों में भ्रमर-सी उलझी भारतीयों की आखों का वर्णन है । उन्हें जगाते हुए तारे हार गये, अरुण-पख तरुण किरणें द्वार खोलती रहीं । कमलकोरकों में सो जाने से भृंगवत् गुजार बन्द हो गया । पपीहा पुकारता रहा, सारी रात बीत गयी । अरुणाचल में रवि उगे । प्रकृतिपर-क्षण-क्षण में परिवर्तित होते रहे । रात आयी, गयी, दिन खुले और इस प्रकार हजारों वर्ष व्यतीत हो गये । भारतवासी न जगे । द्वितीय खण्ड में कवि ने भारतीयों को प्राचीन वीरता, ब्रह्म वाद और गीता के चरम ज्ञान का सकेत कर उनमें नवीन आशा का संचार करना चाहा है । वह कहता है, तुम ब्रह्म हो, यह पूरा विश्व-भार तुम्हारा पद-रज भी नहीं, तुम जागो । तुम्हीं ने सिन्धु-नद तीर-वासी आर्यों के रूप में महासिंधु-से वीरता के अमर समर-गीत गाये हैं ! गोविन्दसिंह तुम्हीं में था जिसने एक पर सवा लाख चढाने की प्रतिज्ञा की थी । उसने शेरों की माँद में आये स्यार की ओर भारतीयों को उद्बुद्ध किया है । विभिन्न ऐतिहासिक परिपार्श्वों और सास्कृतिक उपलब्धियों के साथ यह एक सबल उद्बोधन-गीत है ।

'महाराजा जयसिंह को शिवाजी का पत्र' एक ओज-पूर्ण प्रगीतात्मक रचना है । एक ऐतिहासिक घटना के सहारे कवि ने भारतीयों के सास्कृतिक साहस को जगाया है । रचना शिवाजी के उद्गारों का सग्रह है, और पत्र-रूप लिखित है, अतएव घटनाओं की गत्यात्मकता की आशा अप्रासगिक है ।

'पचवटी प्रसंग' एक गीति-नाट्य है, अतएव घटना-प्रवाह की संघर्ष-तीव्रता

तो नहीं है, पर कथोपकथनों एवं चारित्रिकता के आश्रय से कथा-विकास सम्पन्न होता है। कथानक का विन्यास पाँच भागों में हुआ है। नवीन कल्पनाओं ने कथा की एकसूत्रता को बल दिया है। पहले खंड में राम और सीता अपने सवाद में लक्ष्मण और भरत-चरित्र पर प्रकाश डालते हैं। दूसरे खण्ड में फूल चुनते समय का लक्ष्मण का स्वगत-कथन है, जो उन्हीं के चरित्र का उद्घाटक है। तीसरे खंड में रूपवती शूर्पणखा का अपना सौन्दर्य-चिन्तन है। चतुर्थ खण्ड मे राम लक्ष्मण को प्रलय की दार्शनिक पीठिका बतलाते हैं। पचम खण्ड में शूर्पणखा का नख-शिख-वर्णन भी अत्यन्त सफल है। कथा सर्व-परिचित है। पाँचो खण्ड मिलकर एक उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। सूक्ष्म अंकनों का विस्तार यहाँ भी लक्षणीय है। मनोवैज्ञानिक चित्रण भी प्रमुख है।

'यमुना के प्रति', 'दिल्ली' रचनाओं में ऐतिहासिक पीठिका पर भारतीय संस्कृति के करुण चित्र प्रस्तुत हुए हैं। 'दिल्ली' में अंग्रेजों के समय तक का सांस्कृतिक पराभव समाविष्ट है। 'बादल' कविता में कवि की निजी प्रतिक्रियाओं की विस्तृत पृष्ठभूमि बादल के सहारे सामने आयी है। अनेक ऐतिहासिक उल्लेखों एवं उपमाओं के द्वारा हृदय का उद्दाम वेग प्रस्तुत हुआ है। इसमें कथा-तत्त्व की अपेक्षा भाव-तत्त्व प्रधान है। 'कुकुरमुत्ता' में 'निराला, जी ने दो भागों में कल्पित सवादों द्वारा गुलाब और कुकुरमुत्ता को प्रतीक रूप में ग्रहण किया है। इसमें साम्यवाद के अतिरेकों पर व्यग्य भी किया गया है। पहले खण्ड में गुलाब और नवाब के बाग के कुकुरमुत्ते की बातचीत है। द्वितीय खण्ड पहले की अपेक्षा अधिक कथात्मक है। गोली और बहार की कथा द्वारा निम्नवर्गीय जीवन का यथार्थ भी सामने आया है। नवाबजादी बहार और मालिनी की पुत्री गोली मे सवाद हुआ है। इन दोनो के बीच उत्पन्न सहज प्रेम साम्यवाद के वर्ग-विद्वेष की आलोचना है। यहाँ कवि ने मानव के सहज सम्बन्ध पर बल दिया है। बहार और गोली में गुलाब बाड़ी के कुकुरमुत्ते पर बातचीत होती है और गोली से कुकुरमुत्ते की प्रशंसा सुनकर नवाब-पुत्री बहार गोली के घर उसका स्वाद लेती है। घर आकर जब उसने नवाब साहब ने उसकी प्रशंसा की तो उनके मुँह में भी पानी भर आया, पर अब कुकुरमुत्ता समाप्त हो चुका था। नवाब का सर्वहारा-प्रेम दिखावटी और झूठा है। यहाँ प्रचलन के नाते होने वाले साम्यवादियों पर व्यग्य है। 'निराला' का मन्तव्य है कि जैसे कुकुरमुत्ता उगाये नहीं उगता, उसी प्रकार साम्यवादी क्रान्ति जबरदस्ती नहीं होगी। इसी प्रकार प्रथम खड में कुकुरमुत्ते की गर्वोक्ति साम्यवाद के सांस्कृतिक खोखलेपन की सकेतक है।

'गर्म पकौड़ी' और 'प्रेम-संगीत' में घटनाओं के उल्लेख उनकी निजी प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति द्वारा कवि ने रुढ़िवाद का विरोध किया है। 'गर्म पकौडी' में ब्राह्मण की बनी कचौडी का भी बाजारू पकौडी के समक्ष परित्याग दिखलाया गया है और 'प्रेम संगीत' में कहारिन से प्रेम का वर्णन है। शायद यह भगवती, चरण जी वर्मा के 'प्रेम-संगीत' पर कवि की निजी प्रतिक्रिया हो। 'रानी और कानी' एक यथार्थोधृत रचना है। रानी नामक कानी कन्या के वर्णन के साथ कवि ने माता के मोह और यथार्थ की अटलता का निर्देश किया है। नाम रानी था, एक आँख कानी थो। कन्या का जन्म अत्यन्त दीन कुल में हुआ था। बडे होने पर माता उसके ब्याह के लिए चिन्तित रहती है, पर कानी का दुर्भाग्य कैसे टलता।

'खजोहरा' भी एक यथार्थ-चित्र है। आलोचक श्री बचन सिंह जी ने अपनी 'क्रान्तिकारी कवि निराला' नामक पुस्तक में (पृ० १२९) टैगोर की 'विजयिनी' की परावृत्ति (पैरोडी) कहा है। 'खजोहरा' में 'बुआ' नायिका है। बुआ सावन में ताल में नहाने जाती हैं। बुआ हथिनी-सी ताल में पैठीं। पानी भी भय से काँपने लगा। पैर क्या थे नीम के खम्भे थे। ऊपर से खजोहरा गिर गया। सारा शरीर खुजली से फूल गया। बुआ बिना वस्त्र बदले ही घर को भागीं। शरीर खुजली से जल रहा था। बुआ ने शरीर में घी लगाया। इस रचना में समाज-व्यवस्था के विकारों पर भी व्यंग्य है। नैहर वालों का स्नेह भी स्वार्थ से ही होता है। भतीजे के पैदा होने की परिस्थिति में ही वे बुलाई गयीं।

'निराला' जी की रचनाओं में 'तुलसीदास', 'सरोज-स्मृति' और 'राम की शक्ति-पूजा' श्रेष्ठ प्रबन्धात्मक प्रयास हैं। सन् १९३५–३८ के बीच 'निराला' जी की शक्ति अपने समस्त पाडित्य, कला-कौशल एवं अलकरण-प्रसाधन को लेकर इन रचनाओं में क्रियमाण रही है। 'तुलसीदास' अलग पुस्तक रूप में प्रकाशित है। 'राम की शक्ति पूजा' और 'सरोज-स्मृति' 'अनामिका' के द्वितीय सस्करण में सकलित हैं। काल क्रम में 'शक्ति-पूजा' के बाद 'सराज-स्मृति' और तब 'तुलसीदास' को रचना हुई है।

'राम की शक्ति पूजा' की कथा 'देवी भागवत' की राम-नवरात्र-पूजा और विष्णु द्वारा नोल कमल से शिव पूजन के मिश्रण पर रची गयी है। राम रावण के समक्ष विजयाशा खोने लगे। सहसा उन्हें सीता-स्वयवर के अपने महाशौर्य का ध्यान आया। प्रिया सीता के स्मरण से राम में अपार विश्वास और जय की आशा का उदय हुआ। फिर भी राम अपने बाणों

की आज की निष्फलता पर दु:खी थे। सहसा रावण के अट्टहास से उनके नेत्र भर आये। इसीमें हनूमान् के अतुल पौरुष को प्रदर्शित करने की एक लघु-कथा भी आ गयी। हनूमान् ने वायु से विद्रोह करा दिया। हनूमान् व्योम को निगलने को चढ़ गये। शिव जी ने अंजना से कहलवाया कि व्योम शिव का रूप है और राम शिव-भक्त हैं, अतः आकाश को लीलना ठीक नहीं। हनूमान् विनय भाव से नीचे उतर आये। भगवान् राम को निराश देखकर अत्यन्त राजनीतिज्ञता एवं मनोवैज्ञानिकता के साथ विभीषण उन्हें उत्साहित करने लगे। भगवान् ने कहा रावण को महाशक्ति का वर है, तभी समस्त बाण निष्फल गये। श्री जाम्बवान् जी ने राम को शक्ति-पूजा की राय दी। राम ने देवी की स्तुति की, समक्ष देवी का भूधराकार विराट् रूप खुल गया। १०८ कमलों से राम देवी-पूजन में संलग्न हुए। उनका मन चक्र पर चक्र पार करता ऊपर उठने लगा। सहस्रार का आरोहण निकट आया। देवी ने परीक्षार्थ एक कमल चुरा लिया। पूजा-भंग की आशंका से एक कमल घट जाने पर राम बड़े चिन्तित हुए। अन्ततः उन्हें स्मरण आया कि माता उन्हें राजीव नयन कहती थीं, अतः वे एक कमल-पुष्प के कम होने पर अपना एक नेत्र चढ़ाने पर प्रस्तुत हो गये। ऐसा करने को उद्यत होते ही देवी ने राम का हाथ पकड़ लिया और उन्हें सिद्धि का वर दिया। कथा में ओज का अप्रतिम परिपाक हुआ है। आध्यात्मिक स्थितियों की व्यंजना में शब्द अत्यन्त समर्थ हुए हैं। मौलिक उद्भावनाओं और मनोवैज्ञानिक पीठिका के कारण प्राचीन कथा आज के युग के अनुकूल बन गयी है। पौराणिक अविश्वसनीयता का तर्क-पूर्ण और मानसिक समाधान भी प्रस्तुत किया गया है।

'सरोज-स्मृति' की कथा कवि की पुत्री सरोज की शोक-कथा है। सरोज जब उन्नीसवें वर्ष में प्रवेश कर रही थी तभी उसकी दुःखद मृत्यु हो गयी। अपनी आर्थिक कठिनाइयों और उत्तम पोषण की अक्षमता का उल्लेख करता हुआ कवि सरोज और उसके भाई की बाल्यकालीन स्मृतियों का करुण भावन करता है। मारपीट, गौने और गंगाटन आदि घटनाओं का कवि ने अत्यन्त सूक्ष्म किन्तु हृदय-द्रावक वर्णन किया है। इसी के साथ 'निराला' का आत्म-चरित भी आ गया है। मुक्त छन्द के प्रणेता 'निराला' की रचनाएँ संपादकों द्वारा अस्वीकृत कर लौटा दी जाती थीं। कवि घास की घास नोचता दीर्घ प्रहर तक प्रान्तर में बैठा सपादकों के गुण गाता था। मातृ-विहीना सरोज के पिता 'निराला' जी सामाजिक रूढ़ियों के समक्ष सदा अपराजेय रहे। दो विवाह के ज्योतिष-लग्न को तोड़ने के लिए और भाग्य-अंक को खंडित

देखा। कवि ने निश्चय किया, यह तिमिर पारकर, सत्य के मिहिर-द्वार को देखना और जीवन के प्रखर ज्वार में बहना है। इसी क्षण जब तुलसी को रत्नावली का ध्यान आया तो सारा नवोत्साह भग हो गया। कवि रूप लुब्ध हो गया। देशोद्धार की प्रेरिका प्रकृति अब रत्नावली के रूप में डूब गयी। चित्रकूट से प्रत्यागत तुलसी रत्नावली के रूपाभिचार में निमग्न हो गये। सारी प्रकृति प्रिया-मय बन गयी। जीवन और विश्व का सत्य प्रियातिरिक्त कुछ नहीं। मोह मुक्ति-मार्ग बनकर दीखने लगा। लगा, बन्ध के विना प्रगति नहीं, गति-हीन जीव को सुरति कहाँ, रति रहित सुख केवल क्षति है।

एक दिन तुलसी का श्याला रत्नावली को पितृगृह ले गया। आसक्त तुलसी प्रिया-विहीन सूने घर में न रह सके। वे ससुराल पहुँचे। रत्नावली नैहर वालों के व्यंग्यों से विकल हो उठी। उसने रात्रि में तुलसी से कहा—धिक्कार है जो अनाहूत आकर श्रेष्ठ कुल-धर्म को धो दिया! तुम राम नहीं, काम के सुत बन गये हो!! तुम हाड चाम के क्रीतदास बन गये हो!!!

रत्नावली की इन कटूक्तियों ने तुलसी का खोया ज्ञान लौटा दिया। कवि दृष्टि और भारती से बँधकर ऊपर उठने लगा—जहाँ अम्बर, केवल अम्बर था। कवि गा उठा, जागो प्रभात आ गया, रात बीत गयी और पूर्वाचल ज्योतिर्मय प्रपात झर रहा है। आज देश-काल केशर से विद्ध अशेष छविधर कवि जग पडा है, इसकी स्वागत-वाणी से भारती मुखर होगी, कल्मष-रागिनियाँ सो जायँगी! प्राची का दिगन्त-उर पुष्कल रवि-रेखा से भास्वर हो उठा।

यह प्रगीत-प्रबंध चिन्तन की ठोस शिला पर खडा है। प्रकृति की महती प्रेरणा, उदार अन्तर्वृत्तियों का जागरण, प्रेरणा-प्रद सांस्कृतिक प्रकाश और आध्यात्मिक उन्नयन की शब्द-ज्योतियों ने सम्पूर्ण ग्रंथ को आलोकमय कर दिया है। कल्पना और भावानुभूति श्रेष्ठ विचार-चिन्तना के पोषण में अन्तर्लीन हैं। सामयिक समस्याएँ, धन शोषण, जातीय-पतन, सांस्कृतिक ह्रास और देश की अगति के प्रश्न अतीत की पीठिका में भी जगमगाए हैं। भारतीय पारिवारिकता, कायरतापूर्ण आभिजात्य ओर विदेशी प्रभाव भी यथावसर गम्भीरता से विश्लिष्ट हुए हैं। भौतिकता और आध्यात्मिकता की वर्तमान असम्बद्धता भी इस कृति में विवेचित हुई है। नारी-रूप की नवीन व्याख्या भी सामने आयी है। प्रकृति के प्रति नवीन दृष्टिकोण और मानव के प्रति उसकी-प्रभाव शक्ति के नये वातायन 'तुलसीदास' में 'निराला' जी द्वारा अनावृत हुए हैं। विपन्न देश के लिए तुलसी के विपन्न मानस का अनावरण एतद्‌युगीन मनोवैज्ञानिक पीठिका के साथ उपस्थित हुआ है। 'तुलसीदास' 'निराला' जी द्वारा तुलसीदास

के 'मानव' का नवीन अन्तर्दर्शन है। वस्तुतः तुलसी की यह नवीन मानसिक व्याख्या युगानुकूल, मनोवैज्ञानिक और मौलिक है। अध्यात्म के रहस्यालोक में डूबी तुलसी की कवि-आत्मा की, इससे अधिक मानवीय व्याख्या और क्या हो सकती है। कथा-विकास की अन्तर्योजना अत्यन्त गम्भीर, विचार-पूर्ण, चिन्तनात्मक एवं मनस्सम्मत है। पूर्ण कथा एक उच्च चिन्तन-भूमि पर अधिष्ठित होकर आयी है और साद्यन्त उसका निर्वाह हुआ है। शुभ चिन्तनों का एक अन्तःस्पर्शी आलोकवलय सारी कृति को घेरे हुए है। जीवन की साधारणता कहीं भी दृष्टिगत नहीं होती। सारा ग्रन्थ एक दिव्य प्रेरणा से लिखा ज्ञात होता है, जिसमें कवि की निजी क्षुद्र स्पृहाओं की कहीं भी कोई गूंज नहीं सुनाई पड़ती। भाषा के क्लिष्ट, समास-युक्त तत्सम-पूर्ण एवं अलंकृत होने पर भी, अनुभूतियों की सतेज धारा काव्य को शिथिल नहीं होने देती। काव्य में इतिवृत्त नहीं, सांस्कृतिक समस्या प्रधान है। तुलसी की कथा की लोक-प्रसिद्धि कथानक के खण्ड-रूप में भी उसके प्रभाव को अक्षुण्ण रखने में समर्थ हुई है।

'पन्त' जी की प्रतिभा 'प्रसाद' जी की अपेक्षा अधिक बाह्यार्थ-निरूपक और वस्त्वात्मक है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण प्रकृति के प्रति कवि की चिर सजगता है। उनकी कविता का उत्स भी प्रकृति-सुषमा और उसके प्रति कुतूहल एवं जिज्ञासा से ही फूटता है। प्रकृति का अपना रंग-रूप आज भी कवि की भावना-कल्पना को स्फूर्ति एवं प्रेरणा-वेग देता है। यह होते हुए भी 'पन्त' जी ने भी अपने कवि-जीवन में कथाधार को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। 'छाया-युग' के अन्य कवियों की भाँति उनकी प्रतिभा भी, विषयों में भी विषयि-प्रधान रही। मुख्य रूप से, उनकी 'आँसू' (दिसम्बर, १९२१ ई०), 'उच्छ्वास' (सितम्बर, १९२२ ई०) ('उच्छ्वास' की बालिका के प्रति), 'स्मृति' (नवम्बर, सन् १९२२ ई०) 'ग्रन्थि' (सन् १९२०) और 'मानसी' कृतियाँ कथा से सम्बद्ध हैं।

आचार्य पं० नन्ददुलारे जी वाजपेयी ने अपनी 'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी' पुस्तक के पृ० १५६-१५७ पर 'आँसू' और 'उच्छ्वास' कविता पर कुछ गहरे विचार किये हैं। उन्होंने इन कविताओं की लौकिकता और रहस्यात्मकता का प्रश्न भी उठाया है। अब इन कविता को लौकिक सिद्ध करने के लिए 'बाह्य प्रकृति का चित्र-मात्र होना', 'छूटे स्वभाव छुड़ाने' आदि स्थलों का उद्धरण और तर्क-वितर्क आवश्यक नहीं रहा। छायावादी काव्य पर से तथा-कथित आध्यात्मिकता की धुन्ध अब हट चुकी है, इसलिए इन कवियों की अनुभूति की लौकिकता को सन्दिग्ध बनाने की स्थिति भी अब नहीं रही। 'आँसू', 'उच्छ्वास' और 'स्मृति' रचनाएँ 'पल्लव' (पंचम संस्करण, संवत् २००५ वि०)

के क्रमशः पृ० १२, २ और ८३ पर आयी हैं। आचार्य 'वाजपेयी' और 'मानव' जी ने 'उछ्वास' और 'आँसू' को इस क्रम से उल्लिखित किया है कि उस प्रसग में यह भ्रम हो जाता है कि 'उछ्वास' पहले की रचना है और 'आँसू' बाद की। इस सम्बन्ध में स्वय 'पन्त' जी द्वारा दिये गये रचना-काल कदाचित अविश्वसनीय न होंगे। 'पल्लविनी' में 'पन्त जी ने 'आँसू' को दिसम्बर, सन् १९११ और 'उछ्वास' को सितम्बर, सन् १९२२ की रचित लिखा है। दोनों में १० मास का अन्तर है। प्रसंग और पात्र एक ही हो सकते हैं, पर 'उछ्वास' बाद की रचना है। निराशा ओर रोदन की प्रमुखता होने पर भी काव्य और प्रभाव की दृष्टि से, भाव 'पन्त' के तत्कालीन स्तर से नीचे नहीं है।

'आँसू'—कविता के भाव-प्रसार की गति अप्राकित है। कवि ने अपनी अपलक आँखों में आँसुओं को पुनराहूत किया है। अपने गीले गान की कथा कहता हुआ कवि कहता है कि उसका 'मिश्री-कन-सा मन' इन आँसुओं में गल गया! पलकों ने नयी बान सीख ली है!! सहसा कवि का भाव-कोण बदल जाता है, वह कहता है कि यह विरह है या वरदान है? इन शून्य आहों में तो सुरीले छन्द छिपे हैं! फिर कवि कविता के उद्गम पर आ जाता है और कहता है कि कविता अश्रु से ही उत्पन्न हुई होगी। कवि को चिन्ता होने लगती है कि अन्ततः मैं किसके उर में अपने उर का भार उतारूँ ''कवि को अपना जीवन पावस-सा लगने लगता है, जिसमें आशा का सेतु इन्द्र-धनुष-सा फैला है। सुमुखि का ध्यान बिजली-सा चमक उठता है और कवि अधीर हो जाता है, उसके प्राण जुगुनू-से उसे ढूढने लगते हैं, तम व्याल और तारे चिनगारी बन जाते हैं! तमिस्र रवि-बलि को पटक कर वामन-सा छा जाता है! फिर कवि का ध्यान शुक-सी सुधि पर जाता है जो भोली बातें दुहराती है। कवि के पुलकित प्राण प्रिय को पिक-से पुकारने लगते हैं। जब वह फूलों को भ्रमरों को यौवन पिलाता देखता है, नवोढा बाल-लहर सुमनों के पास तनिक रुक कर सरकने लगती है, कवि सिहर जाता है, पग अज्ञात रुक जाते हैं, इन्द्र-धनुषी बादल के घूँघट से झाँकती हुई इन्दु-कला उसे प्रेयसी के ध्यान में अन्तर्धान कर देती हैं। × × × फिर पार्वतीय वर्षा का चित्र आता है, जहाँ शैल में जलद और जलद में शैल का भ्रम होने लगता है, मेमनों से मेघ गिरि पर कुदकते हैं, बादल गिरिवर को गजवर का वेष दे देते हैं। इन्द्रधनु की टकार सुन चपला के चचल बाल उत्सुकता में उड पड़ते हैं और विशिख-धार देखने दौड जाते हैं। मरुत उन्हें पुचकार कर मेघासार से रोक देते हैं, बादल अचल के विचार लगते हैं और अम्बर गिरि पर बैठा विशाल विहगम! शैल-सुधि जलद-

पट से मुख-चन्द्र दिखाकर, चपला के पलक मार, उर पर भूधर-सा धर देती है। (फिर विरह की वर्तमान दशा का वर्णन प्रारंभ हो जाता है, मिलन-काल की सुखद स्मृतियों का क्रम बदल जाता है।)···प्रणय करुण है जहाँ भेद छिप नहीं पाता, और वह भय तो करुणतर है जो बचाव चाहता है—न भर पाने वाला घाव करुणतम है; पर अतिशय करुण वे संशय हैं जो जुड़े स्वभाव छुड़ा देते हैं! संयोग करने से कब होता है और उसका वास टाले कब टलता है? वह स्वयं पास आया, बिना प्रयास चला गया! कवि कहता है, अबतक तो पावन प्रेम पापाचार कभी नहीं कहलाया, फिर क्या यह प्रेम की गंगा-धार उसके लिए ही मदिरा बन गई है! ऐ हृदय, तू रो! स्नेह का वासन्ती समीर, पुनः उच्छ्वासों का आकाश—यही तो जीवन का गान और सुख का आदि और अवसान है! (कवि 'प्रकृति के संवेदना हेत्वाभास' पर आ जाता है) जब समुद्र-से हृदय सिसकते हैं और नभ-से लोचन उमड़ते हैं तो निश्चय ही विश्व की वाणी क्रन्दन है और अश्रु-कन ही विश्व का काव्य! आकाश के उर में भी घाव हैं, चन्द्र की चितवन में भी चाह है, अनिल भी ठंढी साँसें भरता है!! हाय, मेरा जीवन प्रेम और आँसू के कन हैं, अपरिमित सुन्दरता और यह मन ही मेरा धन है और वीणा की एक मृदु (अदृश्य-सूक्ष्म) झंकार की भाँति सुन्दरता का पार कहाँ है? (फिर कवि प्रेयसी की मिलन-कालीन स्मृतियों की ओर मुड़ जाता है)······तुम्हारे स्पर्श में प्राण और वाणी में त्रिवणी की लहरों का गान था···तुम्हारी ही आँखों में प्रेम ने आकार पाया था? ऐ कुमारी! तुम्हें दृग-द्वार मूँद मैं नित्य पूजता हूँ। तब प्राण पिघल पड़ते हैं, दृग-धार उमड़ चलती है! मैं बालकों-सा अनजान रोता हूँ, फिर असहाय जाने किससे मान करता हूँ। × × × स्वल्प वियोग अनिमेष नवमिलन की सुति है, पर दैव, जीवन भर का विश्लेष तो निःशेष मृत्यु ही है! × × × (हृदय को समझाता हुआ कवि विश्वास व्यक्त करता है कि) त्रिभुवन भर की श्री प्रेयसी के शून्य को नहीं भर सकती। अतः प्रिया के ध्यान को पलकों में मूँद कर इस आह्वान को वह थामने की सलाह लेता है। (आगे के लिए सन्तोष होगा कि) कवि के उज्ज्वल आँसू सुमनों में ओस बनकर सदा वास करेंगे, अनिल उनकी व्यथा पोछेंगी, मधु-बालाएँ उनकी करुण कथा सदैव गायेंगी।'

यह रचना कवि की प्रेम विषयक असफलता का रुदन है। जैसा कि 'पन्त' जी ने श्री 'मानव' जी के साथ प्रत्यक्ष वार्ता के प्रश्नोत्तर में ('सुमित्रानन्दन पन्त', पृ० १६) स्वयं कहा है कि 'उच्छ्वास' और 'आँसू' में हो सकता है दस

प्रतिशत सत्य हो।' कथा यथार्थ प्रेम-घटना की शोक-गीति है। कविता के मुख्य तीन तत्व हैं, (१) प्रेम के मिलन-काल की सुखद स्मृति (२) वर्षा-वर्णन। (३) वर्तमान वियोग की शोक-व्यथा। प्रेयसी की रूपस्मृति और मिलन के भावात्मक संकेतों के अतिरिक्त घटनात्मक तथ्य का अंश अत्यन्त स्वल्प और नहीं-सा है। कवि भावों में आकंठ डूबा है, उसे परिस्थितियों की वस्तुवत्ता का ध्यान नहीं, न उनकी शुष्क वर्णना वह करना ही चाहता है। वियोग-मुद्रा की प्रकृति, संवेदना के हेत्वाभास से ओत-प्रोत है। सम्पूर्ण रचना में कवि का अपना हृदय-प्रभाव छाया हुआ है। स्वानुभूति-निरूपण कवि का लक्ष्य है, अतएव वास्तविक घटना का कथात्मक रूप इस भावसरोवर में डूबा हुआ, अदृश्य है। भाव-प्रसार भी दो भागों में और अवान्तर खण्डों में सहसा खण्डित होकर आया है। कथा केवल इतनी ही बन पाती है कि कवि के 'किशोर' का किसी एक अत्यन्त सुन्दरी-भोली बालिका से प्रेम हो गया था, जो बचाव तथा अदेह-निराधार संदेह के कारण टूट गया, पर कवि उसकी स्मृति-धरोहर के प्रति पूर्ण सावधान और विश्रब्ध है। पाठक को इन भाव-पुष्पों से घटना-तरु को अनुमित करना पड़ता है। रूपानुभूति, और वियोग-व्यथा का प्यार कवि के लिए इतना दुर्निवार है कि उसीको उँडेलने को कथा की अस्फुट भूमि और घटना के विरल सूत्रों का सहारा लिया गया है।

'उच्छ्वास'—यह कविता भी उसी आधार पर है जिस पर 'आँसू'। आचार्य 'वाजपेयी' जी आदि दोनों को एक-सम्बद्ध मानने के पक्ष में लगते हैं। जो भी हो, इस कविता में प्रेयसि—बालिका का उल्लेख अधिक स्पष्टरूप से आया है। वर्णित प्रकृति-दृश्यों के प्रति उसके सम्बन्ध भी यत्र-तत्र लक्षित हैं। कवि ने उसे 'कल्पना की कल्पलता' कह कर अपनाने का भी उल्लेख किया है। आचार्य वाजपेयी जी ने इस कविता पर दो सम्भावनाएँ प्रस्तुत की हैं, या तो 'कवि बालिकावत् अपने बाल्यजीवन के वियोग में दुःख प्रकट कर रहा है अथवा वह अपनी बाल-सहचरी का विरह-वर्णन कर रहा है ('बीसवींशताब्दी', पृ० १५६)। बालिका नवयुवती और प्रेमी नवयुवक है।' रूप-वर्णन ऐसा कल्पना पूर्ण और कवि की आन्तर अनुभूतियों की सूक्ष्मता से इतना आच्छादित है कि कोई पार्थिव आकार नहीं बन पाता। कवि के विन्यास के अनुसार रचना की सीढ़ियाँ अग्रांकित हैं। पहले कवि अपने सरल—अस्फुट उच्छ्वास को बाल बादल सा उठकर छा जाने को आहूत करता है। यह बादल कवि के अश्रु मोतियों के स्वर्गीय प्रकाश से जगमग होगा। कवि इन बादलों से वज्र हृदयों में धँस कर, अपने संदेश से जग-सन्ताप हरने

का निवेदन करता है। (इन पंक्तियों की तुलना 'निराला' के 'बादल-राग' की पंक्तियों से की जा सकती है।)...जरा आदरणीय है, यौवन रमणीय विलास-उपवन! शैशव ही स्नेह की वस्तु है—वह बालिका ही थी (अतः कवि को भा गयी)। आगे, बालिका के रूप का ध्यान आते ही कवि उसकी अनोखी विशेषताओं में डूब जाता है।......सरलपन ही बालिका का मन था, वह नदी के कूलों से तरंग-सी खेलती थी—उस में असीम अवमित था। कवि भ्रमर की भाँति अपने मन को कोमल, पर कर्म को कठिन बतलाता है, जिसके सामने विपुल जग का विस्तृत सुमन-सुरभित उपवन फैला है। इसी सौन्दर्य-उपवन की धूलि में कवि भ्रमर के गान छिपे हैं। यहाँ कहीं कुटिल-कठोर काँटे भी हैं, जहाँ निशि-भोर सुमन-दल चुनकर वह अजान छोर ढूढता है! वह भी नवल कलिका ही थी (अतएव कवि उसके निकट गया)। कवि ने उसके सरलपने से अपना हृदय सजाया था। वह उसके अधरों पर मद हास-सी मँडरा उठी थी। (इसके बाद सहसा पर्वतीय वर्षा का मूर्तिमान चित्र उपस्थित होता है, जो एक स्वतंत्र कविता भी लगती है।) ..वह सरला बाला उस गिरि को बादल का घर कहती थी। कवि के चितेरे हृदय की इस तरह बाह्य प्रकृति चमत्कृत चित्र बनी थी और सुखद शैशवसुधि-सी वह बालिका कवि की मनोरम मित्र थी (आज जब कवि अपने पिछले शिशुजीवन पर दृष्टि डालता है तो लगता है उस बालिका और शैशव की सुखद अतीत-सुधि में जैसे कोई अन्तर ही न हो।) ('सावन' अंश यहाँ समाप्त हो जाता है और कविता का 'भादों' अंश प्रारम्भ होता है। प्रेम की प्रशस्ति प्रस्तुत हो रही है।) 'प्रेम अनिल सा लोक-लोक में और साँस-सा सब में है, जन्म से मृत्यु तक सब इसी का विवर्त है। सब में यह तार न होता तो जग दारुण हाहाकार हो जाता। वस्तुएँ अपना धर्म तक इसके प्रभाव से बदल देती हैं।' यह प्रेम अधिक चल नहीं पाता। सहसा अदेह सदेह की दीवाल बीच में खड़ी हो जाती है। 'रोग का उपचार और पाप का परिहास है, पर इसका कुछ सत्कार नहीं! वह हृदय की दुर्बल हार है!! नभ बेलि-सा फैला होकर भी यह मूल-रहित है। यही सन्देह काँटे-सा चुपचाप उस वृक्ष में उगा जिसमें वह अविकार सुमन था! वह बिंध गया!! बड़ों में दुर्बलता शाप है! गिरि राह नहीं चल सकते, सौरभ-बाह रुक नहीं सकता, बड़ों की उसी भूल पर यह व्यथा-प्रवाह भी नहीं रुक सकता! मिट्टी का हुलास गूढ़ होता है, वह कोमल कोंपल चुनता है, यद्यपि ऐसा करने किसी अन्य को नहीं देता। उस पल्लव पर सन्देह का पाला पड़ गया, नव राग विराग बन गया, स्नेह-शशि को प्रेम-

प्रतिशत सत्य हो।' कथा यथार्थ प्रेम-घटना की शोक-गीति है। कविता के मुख्य तीन तत्व हैं, (१) प्रेम के मिलन-काल की सुखद स्मृति (२) वर्षा-वर्णन। (३) वर्तमान वियोग की शोक-व्यथा। प्रेयसी की रूपस्मृति और मिलन के भावात्मक संकेतों के अतिरिक्त घटनात्मक तथ्य का अंश अत्यन्त स्वल्प और नहीं-सा है। कवि भावों में आकंठ डूबा है, उसे परिस्थितियों की वस्तुवत्ता का ध्यान नहीं, न उनकी शुष्क वर्णना वह करना ही चाहता है। वियोग-मुद्रा की प्रकृति, संवेदना के हेत्वाभास से ओत-प्रोत है। सम्पूर्ण रचना में कवि का अपना हृदय-प्रभाव छाया हुआ है। स्वानुभूति-निरूपण कवि का लक्ष्य है, अतएव वास्तविक घटना का कथात्मक रूप इस भावसरोवर में डूबा हुआ, अदृश्य है। भाव-प्रसार भी दो भागों में और अवान्तर खण्डों में सहसा खण्डित होकर आया है। कथा केवल इतनी ही बन पाती है कि कवि के 'किशोर' का किसी एक अत्यन्त सुन्दरी-भोली बालिका से प्रेम हो गया था, जो बचाव तथा अदेह-निराधार संदेह के कारण टूट गया, पर कवि उसकी स्मृति-धरोहर के प्रति पूर्ण सावधान और विश्रब्ध है। पाठक को इन भाव-पुष्पों से घटना-तरु को अनुमित करना पड़ता है। रूपानुभूति, और वियोग-व्यथा का प्यार कवि के लिए इतना दुर्निवार है कि उसीको उँडेलने को कथा की अस्फुट भूमि और घटना के विरल सूत्रों का सहारा लिया गया है।

'उछ्वास'—यह कविता भी उसी आधार पर है जिस पर 'आँसू'। आचार्य 'वाजपेयी' जी आदि दोनों को एक-सम्बद्ध मानने के पक्ष में लगते हैं। जो भी हो, इस कविता में प्रेयसि—बालिका का उल्लेख अधिक स्पष्टरूप से आया है। वर्णित प्रकृति-दृश्यों के प्रति उसके सम्बन्ध भी यत्र-तत्र लक्षित हैं। कवि ने उसे 'कल्पना की कल्पलता' कह कर अपनाने का भी उल्लेख किया है। आचार्य वाजपेयी जी ने इस कविता पर दो सम्भावनाएँ प्रस्तुत की हैं, या तो 'कवि बालिकावत् अपने बाल्यजीवन के वियोग में दुःख प्रकट कर रहा है अथवा वह अपनी बाल-सहचरी का विरह-वर्णन कर रहा है ('बीसवींशताब्दी', पृ० १५६)। बालिका नवयुवती और प्रेमी नवयुवक है।' रूप-वर्णन ऐसा कल्पना पूर्ण और कवि की आन्तर अनुभूतियों की सूक्ष्मता से इतना आच्छादित है कि कोई पार्थिव आकार नहीं बन पाता। कवि के विन्यास के अनुसार रचना की सीढ़ियाँ अधोंकित हैं। पहले कवि अपने सरल—अस्फुट उछ्वास को बाल बादल सा उठकर छा जाने को आहूत करता है। यह बादल कवि के अश्रु मोतियों के स्वर्गीय प्रकाश से जगमग होगा। कवि इन बादलों से वज्र हृदयों में धँस कर, अपने संदेश से जग-सन्ताप हरने

का संभार तो किया, पर नहीं कहा जा सकता कि यह कथा गोपन भी नवीन पद्धति की प्रेरणा से थी या 'द्विवेदी'-युगीन विशुद्ध 'आचार-वादिता' के सकोच से। कथा को कुछ और स्पष्ट करते हुए भी 'आत्माभिव्यंजन की वृत्ति तुष्ट की जा सकती थी, पर कवि को वैसा अभिप्रेत न था—अपनी कहानी शायद अधिक स्पष्ट कही भी नहीं जा सकती। 'युगांत' में भी 'मंजरित आम्र-तरु-छाया' में कुछ प्रेम-व्यापार चले हैं। मेरा निश्चय है कि इन संकेतों का सम्बन्ध कवि-जीवन के कुछ विगत यथार्थ अनुबन्धों से अवश्य है।

'ग्रन्थि'—'ग्रन्थि' की रचना 'आँसू' और 'उच्छ्वास' से पूर्व ही हुई है, अत: 'वाजपेयी' जी का ('बीसवीं शताब्दी', पृ० १५८ का) यह कथन कि 'उच्छ्वास' की उपर्युक्त प्रेम-सम्बंधी जिज्ञासा ही मानो 'ग्रंथि' बन गयी है, पर ग्रंथि का उसमें निर्वारण नहीं है' ऐतिहासिक काल-क्रम की दृष्टि से संगत नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि 'ग्रंथि' में ही (सन् १९२०) कवि-हृदय में ऐसी ग्रंथि पड़ी कि वह 'आँसू' और 'उच्छ्वास' (सन् १९२१–२२) में भी निर्वारित न हो सकी। 'ग्रंथि' का प्रणयन जनवरी, सन् १९२० में कवि की जन्म-भूमि कौसानी में हुआ था। 'ग्रंथि' में प्राण-वेधी व्यथा कूट-कूट कर भरी है। अवसाद, निराशा, व्यथा और विरह का यह गम्भीर सरोवर है। अन्तर की अथाह पीडा और प्राणों के असीम हाहाकार के स्वरों से 'ग्रंथि' का आँगन प्रतिध्वनित हो रहा है। आचार्य वाजपेयी जी ने इसे 'पन्त जी की विशेष मार्मिक विरह-कविता' कहा है ('बीसवीं शताब्दी', पृ० १५८) और डा० नगेन्द्र ने अपनी 'सुमित्रानंदन पन्त' (सप्तम संस्करण) में पृ० ८७ पर लिखा है 'जब तारुण्य का बाल-रवि उसके (कवि) प्राणों को पुलकित कर रहा था, उसी समय उस मधु-वेला में भाग्य ने उसके हृदय में एक ग्रंथि डाल दी, जिसे वह कदाचित् अभी तक नहीं खोल सका है।' श्री यशदेव जैसे कटु आलोचक ने भी अपनी 'पन्त का काव्य और युग' पुस्तक के पृ० ९० पर 'ग्रंथि' के बारे में कहा है—'ग्रंथि एक विरह-काव्य है। इसमें कवि की कल्पना और वेदना जितनी मूर्त्त और सप्राण है उतनी अन्यत्र कहीं भी नहीं।' 'आँसू' और 'उच्छ्वास' की भाँति ही यह कृति भी वियोग की पीडा-प्रेरणा से लिखी गयी है। 'आँसू' और उच्छ्वास' में जाकर 'पन्त' जी ने कथा का परित्याग कर दिया है, किन्तु 'ग्रंथि' का नायक अपनी कथा स्वयं कहता है। 'ग्रंथि' की कथा स्मृति-चिन्तन नहीं, ऐतिहासिक क्रम में लिखी गयी है।

'ग्रंथि' की कथा-वस्तु भी अत्यन्त क्षीण और स्वल्प, किन्तु स्पष्ट है। 'पन्त' जी इसे पूर्णतः काल्पनिक मानते हैं, पर मनोवैज्ञानिक सूत्रों पर अध्ययन करने से

इस कथा की वैयक्तिकता भी सिद्ध हो जाती है। कथा का प्रारम्भ अत्यन्त मनोरम प्राकृतिक शोभा की चित्रपटी पर हुआ है। वसन्त की मनोरम संध्या थी, कोयल कूक रही थी। धरा की सुकुमार कल्पनाएँ सुमन बनकर खिल उठी थीं। इसी मनोरम सन्ध्या छाया में नायक नाव खेता चला आ रहा था। पश्चिम के डूबते सूर्य के साथ ही नायक की नाव भी सरोवर में डूब गयी। यह दुर्घटना अपने साथ एक मनोरम वरदान भी लायी। अचेत नायक को एक युवती ने बचा लिया। जब नायक की आँख खुली तो देखता है कि उसके ठीक ऊपर भी एक चाँद था, जो नभ के चाँद से अधिक सुन्दर था। दोनों के नयन चार हुए। नायक ने उस लज्जारुणा से प्रणय-याचना की। वह लज्जा से केवल 'नाथ' कह सकी और चली गयी। उसकी सखियों ने कुछ छेड़-छाड़ प्रारम्भ कर दी। वह नायक-वियोग में व्याकुल रहने लगी। नायक भी विरहविकल था। अपने ही समान उसे भी मातृ-स्नेह-वंचिता समझ, नायक-मन उसकी ओर सघन भाव से आकृष्ट हो गया। वह उससे परिणय-सम्बन्ध चाहने लगा। पर ऐसा कहाँ होना था! नायिका का व्याह समाज की इच्छा से किसी और के साथ हो गया। नायक के समक्ष ही यह सब कुछ हो गया। नायक के माथे चिर-वियोग की शिला पड़ी। जिसे सरोवर न डुबो सका, वियोग ने डुबो दिया।

ऊपर की रचनाओं की भाँति इस कथा में भी चरित्र-वैशिष्ट्य तो कुछ विशेष है ही नहीं। दोनों ही प्राणी आदर्श प्रेमी और परिमार्जित रुचि के हैं। नायिका अनन्त सुन्दरी तथा नायक अतृप्त-सौन्दर्य-पायी। नायिका का नाम-ग्राम इसमें भी नहीं आया है। यहाँ सक्रियता नारी की ओर से है। प्रेम भावुक, उत्सर्ग-मय और आदर्शवादी है। कहानी धरती के धुवें-धव्वे से ऊपर, सुषमा-लोक की अकलुष विभूति है। प्रेम के शाश्वत, व्यापक और तितिक्षा मय दर्दीले वातावरण की गूँजों के बीच, दुर्बलता और व्यावहारिकता का कर्कश स्वर कवि की किशोर-कल्पना और आदर्शवादी युवक-भावना को स्वीकार्य नहीं। प्रेम भावना के हृदय-सीमित पथ से ही बढ़ा है, उसमें सामाजिक यथार्थ और द्वन्द्व सघर्ष की चेतना प्रवुद्ध नहीं है। कथा अत्यन्त छोटी है और उस पर ही प्रकृति के सवेदनात्मक हेत्वाभास, रूप-सौन्दर्य की विवृति, प्रेम की भावुक प्यास और वियोग-व्यथा की आन्तरिक अनुभूति-मयी शैय्या की छाजन हुई है। पुस्तक वस्तुत' प्रेम, रूप सौन्दर्य और पीड़ा के विह्वल भावों को उडेल कर शान्ति पाने के लिए लिखी गयी है। प्रारम्भ में संध्या-प्रकृति का सुन्दर वर्णन है। नायक-नायिका की सम्मिलनकालीन सौन्दर्य-माधुरी की छटा भी विस्तारित हुई है।

'नख-शिख' भी आ गया है। प्रेम और विरह की ऐसी मार्मिक उद्भावनाएँ कवि की प्रतिभा की परिचायक हैं। विरह की विविध दशाओं का एक ऐसा चित्रात्मक और सूक्ष्म निदर्शन हृदय को रस-भावना से भर देता है। पूर्व-राग, संयोग और विरह पर कवि की उक्तियाँ अत्यन्त मूर्ति-प्रदायिनी एव विदग्ध हैं। कथा का प्रवाह मंथर और प्राचीन रस-परम्परा के नाटकों जैसा है, जहाँ नाटककार संघर्ष के लिए नहीं, रस-विस्तार के लिए कथा को धीरे धीरे बढ़ाता जाता है। इसीलिए डा० नगेन्द्र ने इसे (वही, पृ० ९४) 'प्रबन्ध-काव्य' नहीं 'गीति-काव्य' कहा है। लम्बी प्रेमोक्तियों, विरह-वचनावलियों और आन्तरिक तथा कवि के वैयक्तिक भावों के प्रलम्ब वर्णनों के साथ घटना खो-सी गयी है। यहाँ कथा-न कथा के लिए आयी है और न सामाजिक यथार्थ के लिए, वह कवि की आत्मानुभूति को वाणी दे मनोतान्तविक कर्षण (टेंशन) को मृदुल बनाने के लिए केवल सहारे की आड के लिए आयी है। कथा के बहाने कवि को जो कहना था, वही कृति का लक्ष्य है।

'ग्रन्थि' की भाषा अधिक तत्सम-प्रधान, आलंकारिक एव सचेष्ट-प्रसाधित है। कवि का आरम्भिक प्रयास है, इससे कहीं-कहीं कृत्रिमता और अनिर्बाधता का अभाव भी खटकने लगता है। सक्रियता का अभाव होने पर भी वह कृति, भावों की मूर्तिमत्ता एवं उद्भावनाओं की रमणीयता की दृष्टि से बड़ी प्रभावक है। 'ग्रन्थि' की निराशा और उसका विषाद भी बड़ा रस-मय है—

"शैवलिनि, जाओ मिलो तुम सिंधु से,
अनिल, आलिंगन करो तुम व्योम का;
चन्द्रिके, चूमो तरंगों के अधर!
उडुगणों, गाओ पवन-वीणा बजा।
पर हृदय सब भाँति तू कंगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ में अपनी बिकी
भग्न भावी को डुबा दे आँख-सी।"

विरही का यह व्यापार कितना सचित्र है—

"याद है मुझको अभी वह जड समय,
ब्याह के दिन जब विकल दुर्बल हृदय
अश्रुओं से तारकों को विजन में
गिन रहा था व्यस्त हो, उद्भ्रान्त हो।"

मन से होते मनुज कलंकित,
रज की देह सदा से कलुषित
प्रेम पतित-पावन है, तुमको
रहने दूँगा मैं न कलंकित !"

—['स्वर्ण धूलि']

'परकीया' का विनय भी एक पतिता, करुणा को यह कहकर अपनाता है कि 'वही सत्य जो आप हृदय से, शेष शून्य जग का आडम्बर !' । 'स्वर्ण-किरण' पुस्तक में भी कथा-तत्त्व के कुछ सूत्र यत्र-तत्र बिखरे हैं । 'अवगुंठिता' कविता में प्रश्नोत्तर है ।

'स्वर्ण-किरण' की 'अशोक वन' रचना—यह कथात्मक रचना है और उन्नीस छोटे छोटे गीतों में फैली है । इसके पात्र भी रूपकात्मक या प्रतीकात्मक हैं । सीता पार्थिव-चेतना तथा राम ईश्वरत्व के प्रतीक हैं । धरा-चेतना सीता और सत्य-रूप राम के परिणय में ही लोक-मगल है । रावण जड भौतिकता का प्रतीक माना गया है । राम (सत्य) सीता (धरा-चेतना) को रावण (जड भूत-वाद) से मुक्त कर नव्य मानवी संस्कृति का विकास करते हैं । पिछली 'धनुष-भग' आदि घटनाओं की भी प्रतीकात्मक व्याख्या हुई है । रावण सीता को धरा की शोभा कहकर प्रणत होता है । फिर लंका-दहन होता है । 'पावक-वाहन' युग का कर्दम जलाकर धन्य हैं । सीता (चेतना) और राम (सत्य) के मिलन-पूर्व सीता की अग्नि-परीक्षा भी होती है—'प्रभु क्यों ली यह अग्नि परीक्षा ?' इन रचनाओं में 'पल्लव' की रचनाओं की भांति, रिक्ति की पूर्ति आत्माभिव्यंजक अनुभूति से नहीं, विषय-निष्ठ चिन्तन और वैचारिक व्याख्या से हुई है । इनमे भी कथा अत्यन्त गौण और विचार एवं चिन्तन की प्रमृति ही मुख्य है । कथा गीतों में मालायित है ।

'मानसी'—नारी-नर-सम्बन्ध के निरूपण के लिए लिखा गया यह एक रूपक है । इसमें सात दृश्य हैं । समस्त कथा एकाकी नाटक के तन्त्र पर लिखित है । पात्र कई युगों के प्रतिनिधि हैं और पिक चातक भी अवतरित किये गये हैं । एक नवयुवक एक कोकिल (युवती) से नव प्रणय-गान का अनुरोध करता है । वह अपने गीत में प्रेम को शाप ग्रस्त शब्द बतलाती है । नारी कोमल है और प्रणय में विरह बँधा है । युवक कहता है कि तुम प्रणय-ताप को बचाकर चलो । कोकिल कहती है कि प्रणयावेग दुर्निवार है । कोयल युवक से प्रेम-याचना करती है और युवक उसे अपने और उसके जीवन का वैषम्य समझाकर लौटाना चाहता है । इसके बाद दूसरे दृश्य में प्रेम का

प्रशंसक पपीहा आता है। पपीहे के आदेश पर युवक युवती को बुलाता है। वह नयी शक्ति के साथ आने का वचन देती है। तीसरे 'दृश्य' में रूढ़िबद्धा परदेवाली नारियाँ, प्रेमाराधिका गोपिकाएँ और विरागिनी भिक्षुणियाँ आती हैं। चौथे में नेपथ्य के गीत से गोपियाँ और भिक्षुणियाँ दो छोरों पर स्थित, अपूर्ण और भ्रान्त बताई जाती हैं। यहीं, शरीर-सुन्दरी किन्तु हृदय-गौरवहीन आधुनिका की निन्दा भी है। पंचम दृश्य में दो नेपथ्य गीत हैं। एक में शारदा से नव-नारी पैदा करने का विनय है और दूसरे में उनकी स्वीकृति। षष्ठ दृश्य में हृदय-रूप नारी धरती को स्वर्ग बनाती है। सप्तम दृश्य में, श्रम में ही प्रणय की सार्थकता बताते हुए धरा-प्रेम का उपदेश है। पंचाह्निनी 'ज्योत्स्ना' नाटिका के विन्यास-तंत्र पर ही यह गीति-एकाकी भी है। दोनों की भूमियों में बड़ा अन्तर है। 'मानसी' की समस्या प्रेम है, पर 'ज्योत्स्ना' का सम्पूर्ण मानव-जीवन। 'ज्योत्स्ना' के गद्य-नाटिका होने से, उस पर विचार करना यहाँ प्रकृत नहीं है। 'मानसी' में भी कथा, प्रवाह के कौशल का तनिक भी लाभ नहीं उठाया गया है। पात्र युग-दृष्टि के प्रतिनिधि और गीत भाव-व्यंजना की इकाइयाँ। इन रचनाओं में कथा-नाटकीयता की दृष्टि भाव-प्रसार और चिन्तन-विस्तार में डूबकर खो गयी है। अन्तर्वादिता और अन्तःसौन्दर्य की व्यंजना के प्रयास के कारण, जीवन-जगत् की घटनात्मक अभिव्यक्ति और कथात्मक विधान अत्यन्त निरस्त है। प्रत्यक्ष कथन और 'उत्तम-पुरुष-प्रणाली' की रुचिशीलता ने कथात्मक उपक्रम और उसके बुद्धि-भार की ओर से कवियों में अरुचि पैदा कर दी थी।

महादेवी जी की कविताएँ शुद्ध गीत-प्रगीत हैं। उनके काव्य में स्वानुभूति और उसकी चित्रात्मक अभिव्यक्ति निरन्तर निखरती गयी है। कथात्मक सूत्रों से उनके गीत-तंत्र का कोई सम्बन्ध नहीं। उनके गीत सूर के-से गीत नहीं हैं जिनमें कथा और घटना की नाटकीय अप्रत्यक्षता घुली हुई है। देवी जी के गीत एक-भावाश्र एवं एकानुभूत्यात्मक हैं। इन शुद्ध वैयक्तिक अनुभूतियों में आत्म-कथन का सीधापन है। अपनी कथात्मक रुचि को इन्होंने संस्मरणात्मक रेखा-चित्रों में व्यक्त किया है।

डा० रामकुमार वर्मा के कुछ प्रबंध भी इसी काल के हैं। वर्मा जी 'छाया'-परिवृत्त के ही कवि हैं। उनके गीत रहस्य-चिन्तन से प्रेरित हैं और उनमें विषाद-निष्ठ अनुभूति एवं चिन्तन की ही अभिव्यंजना हुई है। 'वीर हम्मीर', 'चित्तौर की चिता' और 'निशीथ' उनके काव्य-प्रबन्ध हैं और 'शुक्ला' ('रूप-राशि' में संगृहीत) और 'नूरजहाँ' आदि प्रबंध-कविताएँ हैं। 'वर्मा' जी की

कवि-वाणी पहले 'द्विवेदी'-युगीन अभिव्यक्ति-प्रणाली की छाया में प्रस्फुटित हुई है। 'वीरहम्मीर' सन् १९२० में प्रकाशित हुई और उसमें श्री मैथिलीशरण जी गुप्त के प्रिय छन्द 'हरिगीतिका' का प्रयोग हुआ है। इतिहास-प्रसिद्ध हम्मीर-देव का ऐतिहासिक आख्यान पुस्तक का गृहीत विषय है। काव्य वर्णनात्मक है। 'कुल ललना' में संगृहीत वीर-बालाओं की चरित्र-निदर्शिनी कविताएँ भी 'द्विवेदी-युग' की आदर्शवादी इतिवृत्तात्मक शैली से दूर नहीं जा सकी हैं। इसी प्रकार 'चित्तौर की चिता' भी एक वर्णन-प्रधान ऐतिहासिक खण्ड-काव्य है। वीरबाला चित्तौर की पद्मिनी का जौहर-वृत्त सरलता और प्रवाह के साथ वर्णित हुआ है, किन्तु इस पुस्तक में नव-युगीन प्रभाव भाव और भाषा दोनों पर ही परि-लक्षित होते हैं। 'शुजा' कविता में 'छाया'-युगीन अनुभूतिगत सूक्ष्मता और लाक्ष-णिक भाषा की दिशा स्पष्ट हो जाती है। कथाधार तो ऐतिहासिक ही है, पर प्रकृत विषय के निरूपण की दृष्टि कवि की निजता से प्रभावित है। 'शुजा' का चरित्र अथवा ऐतिहासिक मूल्य ऐसा नहीं है कि वह 'द्विवेदी'-युगीन किसी आर्य-समाजी प्रेरणा मे उन्मिष्ट व्यक्ति को आकृष्ट कर सके, पर जीवन की प्रकृत विडम्बनाओं और अपदार्थों के भीतर भी कथ्य और अभिव्यंग को ढूँढने की निजी दृष्टि का उन्मेष इस कविता में परिलक्षणीय है। 'शुजा' में कथा का आकर्षण प्रधान नहीं है और न स्वयं कवि ही उसके घटनात्मक महत्त्व से खिंचकर उधर गया है। यहाँ घटिति नहीं, घटनाओं में छिपी मानव-जीवन की सामान्य सम्भावनाएँ, मानव-स्थितियों का व्यापक सुख दुख और मानव-नियति की करुणता आदि का चित्रण प्रमुख है। प्रजातान्त्रिकता में दो परस्पर-विरोधी छोर समञ्जसता प्राप्त करते हैं। एक ओर तो प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व इसलिए महत्त्व पाता है कि हर व्यक्तित्व समान है और श्रीमन्तता एवं आभिजात्य पर आधृत व्यक्ति-वैशिष्ट्य अमहत्त्वपूर्ण बन जाते हैं, दूसरी ओर सबकी सैद्धान्तिक समानता की मान्यता के साथ, व्यक्ति-व्यक्ति में अनुस्यूत एकता का सत्य भी प्रस्फुटित होता है और एक निश्चित सीमा-मान के पश्चात् वैयक्तिक वैषम्य भी अस्वीकृत होने लगता है। छायावादी काव्य में भी ये दोनों रूप खिंच आये हैं। एक ओर तो हर कवि ने अपनी निजी आशा-निराशा के स्वप्नों का गान किया, दूसरी ओर व्यक्ति-व्यक्ति में अनुस्यूत वे अशक्तियाँ भी सहानुभूति का पात्र बनीं और लघु से लघु व्यष्टि भी सम-स्तर पर अभिव्यक्ति का अधिकारी बना। सबका महत्त्व है, इस लिए एक व्यक्ति का भी महत्त्व है और वह उपेक्षणीय नहीं; किन्तु सब का महत्त्व है, इसीलिए एक का भी इतना महत्त्व नहीं कि उससे अन्य महत्त्व हीन हो जाँय। वैयक्तिकता और अन्य सामान्य व्यक्तियों के महत्त्व का ख्यापन—ये दोनों

ही तत्त्व 'छाया'-युगीन काव्य में और प्रत्येक कवि के काव्य मे किंचित् न्यूनाधिक्य के साथ आये हैं। शुजा जैसे पात्रों के दुःख-दर्द का गायन, मानव के इसी सामान्य दुःख-सुख-गायन की प्रवृत्ति-दिशा का संकेतक है। दारा, शुजा, औरंगजेब और मुराद-ये शाहजहाँ के चार पुत्र थे। राज्य का अधिकारी बनने के लिए औरंगजेब शुजा का पीछा करता है। शुजा भागकर अराकान के राजा के यहाँ पहुँचा, पर वहाँ भी शरण न मिली, अन्त में अराकान में सदा के लिए विलुप्त हो गया। कवि का अराकान के प्रति भावुक प्रश्न है—'कहाँ है शुजा !' इसमें चरित्र या कथा-वैचित्र्य की प्रधानता नहीं है। शुजा के भीतर प्रविष्ट होकर कवि अत्यन्त सहृदयता और समवेदना से उसकी वेदनाओं की अभिव्यक्ति करता है। वेदना-चित्रण और करुणा-पूर्ण निराशा की वृत्ति काव्य को मूल संवेदना है। 'नूरजहाँ' कविता में भी वर्मा जी ने सहानुभूति-पूर्ण वर्णन को प्रस्तुति दी है। भावुकता और अनुभूति के साथ सुन्दर कल्पना का समावेश हुआ है।

प्रबन्धात्मक काव्य-प्रयासों में 'निशीथ' वर्मा जी की सफल कृति है। काव्य की मुख्य पात्री कमला है। कवि ने उसे पूर्ण सहानुभूति प्रदान की है। प्रबन्ध में निराशा, प्रेम और करुणापूर्ण वेदना की पूर्ण विवृति है। श्री सुमित्रानन्दन जी पन्त ने इसमें अपने 'स्नेह-शब्द' प्रदान किये हैं, जिसमे 'निशीथ' की कथा में उन्होंने 'करुण कल्पना की दीपावली' का अनुभव किया है। काव्य बारह सर्गों मे विभक्त है। कथा-प्रवाह, भाव-विश्लेषण, वेदना-चित्रण और आन्तरिक अनुभूतियों से सुसज्जित है। डा० वर्मा छायावादी कवियों के बीच ऐसे कवि हैं जिनका प्रारम्भिक जीवन 'गुप्त' जी की प्रबन्धात्मक शैली के स्वाद से काव्य-संस्कारित हुआ है और जिन्होंने अपने प्रबन्धों में अधिक स्पष्टता बरतने का प्रयास किया है। चिन्तन और भावानुभवों की स्पष्टता के प्रति सजगता उनकी प्रतिभा की मूल-गत विशेषता रही है। इसीसे 'निराला' और 'पन्त' आदि के प्रबन्धों की भाँति उनमें आनुभूतिक जटिलता और कल्पनात्मक अस्पष्टता नहीं आने पायी है। आरम्भ से चिन्तन-शील होने के कारण वर्मा जी दार्शनिक जटिलता में भले उतर गये हों, पर अभिव्यक्तिगत जटिलता बहुत कुछ दूर रही। इधर वर्मा जी के केवल गीत ही प्रकाश मे आते रहे हैं, कोई प्रबन्ध नहीं दिखाई पड़ा। 'एकलव्य' नामक महाकाव्य की चर्चा पिछले कई वर्षों से है, पर वह प्रकाश में नहीं आया। श्री 'भक्त' जी की 'नूरजहाँ' भी छायावादिता से अस्पृष्ट नहीं है, यद्यपि उसकी कथा कहीं-कहीं अत्यन्त वर्णनात्मक भी है, पर ताप और उल्लास असंदिग्ध है।

आरम्भ में छायावादी कवियों में अधिकांश ने कथा का सूक्ष्म आधार लिया था, किन्तु धीरे-धीरे भाव-प्रधान गीतों की स्फुटता में प्रबन्ध-संघटन

कवि-वाणी पहले 'द्विवेदी'-युगीन अभिव्यक्ति-प्रणाली की छाया में प्रस्फुटित हुई है। 'वीरहम्मीर' सन् १९२० में प्रकाशित हुई और उसमें श्री मैथिलीशरण जी गुप्त के प्रिय छन्द 'हरिगीतिका' का प्रयोग हुआ है। इतिहास-प्रसिद्ध हम्मीर-देव का ऐतिहासिक आख्यान पुस्तक का गृहीत विषय है। काव्य वर्णनात्मक है। 'कुल ललना' में सगृहीत वीर-बालाओं की चरित्र-निदर्शिनी कविताएँ भी 'द्विवेदी-युग' की आदर्शवादी इतिवृत्तात्मक शैली से दूर नहीं जा सकी हैं। इसी प्रकार 'चित्तौर की चिता' भी एक वर्णन-प्रधान ऐतिहासिक खण्ड-काव्य है। वीरबाला चित्तौर की पद्मिनी का जौहर-वृत्त सरलता और प्रवाह के साथ वर्णित हुआ है, किन्तु इस पुस्तक में नव-युगीन प्रभाव भाव और भाषा दोनों पर ही परि-लक्षित होते हैं। 'शुजा' कविता में 'छाया'-युगीन अनुभूतिगत सूक्ष्मता और लाक्ष-णिक भाषा की दिशा स्पष्ट हो जाती है। कथाधार तो ऐतिहासिक ही है, पर प्रकृत विषय के निरूपण की दृष्टि कवि की निजता से प्रभावित है। 'शुजा' का चरित्र अथवा ऐतिहासिक मूल्य ऐसा नहीं है कि वह 'द्विवेदी'-युगीन किसी आर्य-समाजी प्रेरणा से उन्मिष्ट व्यक्ति को आकृष्ट कर सके, पर जीवन की प्रकृत विडम्बनाओं और अपदार्थों के भीतर भी कथ्य और अभिव्यंग को ढूँढने की निजी दृष्टि का उन्मेष इस कविता में परिलक्षणीय है। 'शुजा' में कथा का आकर्षण प्रधान नहीं है और न स्वयं कवि ही उसके घटनात्मक महत्त्व से खिंचकर उधर गया है। यहाँ घटिति नहीं, घटनाओं में छिपी मानव जीवन की सामान्य सम्भावनाएँ, मानव-स्थितियों का व्यापक सुख दुख और मानव-नियति की करुणता आदि का चित्रण प्रमुख है। प्रजातान्त्रिकता में दो परस्पर-विरोधी छोर समञ्जसता प्राप्त करते हैं। एक ओर तो प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तित्व इसलिए महत्त्व पाता है कि हर व्यक्तित्व समान है और श्रीमन्तता एव आभिजात्य पर आधृत व्यक्ति-वैशिष्ट्य अमहत्त्वपूर्ण बन जाते हैं, दूसरी ओर सबकी सैद्धान्तिक समानता की मान्यता के साथ, व्यक्ति-व्यक्ति में अनुस्यूत एकता का सत्य भी प्रस्फुटित होता है और एक निश्चित सीमा मान के पश्चात् वैयक्तिक वैषम्य भी अस्वीकृत होने लगता है। छायावादी काव्य में भी ये दोनों रूप खिंच आये हैं। एक ओर तो हर कवि ने अपनी निजी आशा-निराशा के स्वप्नों का गान किया, दूसरी ओर व्यक्ति-व्यक्ति में अनुस्यूत वे अशक्तियाँ भी सहानुभूति का पात्र बनीं और लघु से लघु व्यष्टि भी सम-स्तर पर अभिव्यक्ति का अधिकारी बना। सबका महत्त्व है, इस लिए एक व्यक्ति का भी महत्त्व है और वह उपेक्षणीय नहीं, किन्तु सब का महत्त्व है, इसीलिए एक का भी इतना महत्त्व नहीं कि उससे अन्य महत्त्व हीन हो जाँय। वैयक्तिकता और अन्य सामान्य व्यक्तियों के महत्त्व का ख्यापन—ये दोनों

ही तत्त्व 'छाया'-युगीन काव्य में और प्रत्येक कवि के काव्य में किंचित् न्यूना-धिक्य के साथ आये हैं। शुजा जैसे पात्रों के दुःख दर्द का गायन, मानव के इसी सामान्य दुःख-सुख-गायन की प्रवृत्ति-दिशा का सकेतक है। दारा, शुजा, औरंग-जेब और मुराद-ये शाहजहाँ के चार पुत्र थे। राज्य का अधिकारी बनने के लिए औरंगजेब शुजा का पीछा करता है। शुजा भागकर अराकान के राजा के यहाँ पहुँचा, पर वहाँ भी शरण न मिली, अन्त में अराकान मे सदा के लिए विलुप्त हो गया। कवि का अराकान के प्रति भावुक प्रश्न है—'कहाँ है शुजा !' इसमे चरित्र या कथा-वैचित्र्य की प्रधानता नहीं है। शुजा के भीतर प्रविष्ट होकर कवि अत्यन्त सहृदयता और समवेदना से उसकी वेदनाओं की अभिव्यक्ति करता है। वेदना-चित्रण और करुणा-पूर्ण निराशा की वृत्ति काव्य की मूल सवे-दना है। 'नूरजहाँ' कविता में भी वर्मा जी ने सहानुभूति-पूर्ण वर्णन को प्रस्तुति दी है। भावुकता और अनुभूति के साथ सुन्दर कल्पना का समावेश हुआ हे।

प्रबन्धात्मक काव्य-प्रयासों में 'निशीथ' वर्मा जी की सफल कृति है। काव्य की मुख्य पात्री कमला है। कवि ने उसे पूर्ण सहानुभूति प्रदान की है। प्रबन्ध में निराशा, प्रेम और करुणापूर्ण वेदना की पूर्ण विवृति है। श्री सुमित्रानन्दन जी पन्त ने इसमें अपने 'स्नेह-शब्द' प्रदान किये हैं, जिसमें 'निशीथ' की कथा में उन्होंने 'करुण कल्पना की दीपावली' का अनुभव किया है। काव्य बारह सर्गों मे विभक्त है। कथा-प्रवाह, भाव-विश्लेषण, वेदना-चित्रण और आन्तरिक अनुभूतियों से सुसज्जित है। डा० वर्मा छायावादी कवियों के बीच ऐसे कवि हैं जिनका प्रारम्भिक जीवन 'गुप्त' जी की प्रबधात्मक शैली के स्वाद से काव्य-सस्कारित हुआ है और जिन्होंने अपने प्रबन्धों में अधिक स्पष्टता बरतने का प्रयास किया है। चिन्तन और भावानुभवों की स्पष्टता के प्रति सजगता उनकी प्रतिभा की मूल-गत विशेषता रही है। इसीसे 'निराला' और 'पन्त' आदि के प्रबन्धों की भाँति उनमें आनुभूतिक जटि-लता और कल्पनात्मक अस्पष्टता नहीं आने पायी है। आरम्भ से चिन्तन-शील होने के कारण वर्मा जी दार्शनिक जटिलता में भले उतर गये हों, पर अभिव्यक्ति-गत जटिलता बहुत कुछ दूर रही। इधर वर्मा जी के केवल गीत ही प्रकाश मे आते रहे हैं, कोई प्रबन्ध नहीं दिखाई पड़ा। 'एकलव्य' नामक महाकाव्य की चर्चा पिछले कई वर्षों से है, पर वह प्रकाश में नहीं आया। श्री 'भक्त' जी की 'नूरजहाँ' भी छायावादिता से अस्पृष्ट नहीं है, यद्यपि उसकी कथा कहीं-कहीं अत्यन्त वर्णनात्मक भी है, पर ताप और उल्लास असंदिग्ध है।

आरम्भ में छायावादी कवियों मे अधिकांश ने कथा का सूक्ष्म आधार लिया था, किन्तु धीरे-धीरे भाव-प्रधान गीतों की स्फुटता में प्रबन्ध-सघटन

बिखरता गया। 'पन्त' जी ने 'ग्रंथि' के पश्चात् 'मानसी' (गीति-नाट्य) के अतिरिक्त कोई ठोस प्रयास इस दिशा में नहीं किया। 'प्रसाद' जी की 'कामायनी' ने, 'प्रेम-पथिक' एवं अन्य प्रबन्ध-कविताओं के पश्चात् उनकी प्रबन्धात्मक सम्भावना का चरम निदर्शन सन् १९३६ में प्रस्तुत किया। इसके पूर्व, वे स्फुट गीत और कविताएँ ही प्रकाश में लाते रहे। धीरे-धीरे इस युग की कविताओं की स्फुटता की ओर बहुतों की उँगली उठने लगी। आलोचकों ने प्रकीर्णता की ओर ध्यान दिलाना प्रारम्भ किया। प्रबन्धों की कमी के इस आक्षेप से कुछ कवि दोलायमान हुए। बिहार की बहुत-सी प्रतिभाओं ने प्रबन्धों की दिशा में लेखनी उठाई है। सर्व श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' और 'प्रभात' (केदारनाथ मिश्र) आदि के अतिरिक्त कविवर 'दिनकर' जी भी, 'रास की मुरली की पुकार' से आगे, 'कुरुक्षेत्र' के शस्त्र-गान के बीच, नव-सास्कृतिक समस्या की भूमिका में समाजवादी दर्शन की गौरव-वाणी को प्रबन्धायित करने उठे। 'आर्यावर्त्त' का विराट् चित्राधार तो खुला ही, 'कैकेयी' आदि चरित्रों की आन्तरिक पुनर्व्याख्या भी प्रारम्भ हुई। इधर श्री रुद्र, 'नारायण' एवं पोद्दार रामावतार 'अरुण' आदि ने 'छाया-युग' की अनुभूतिमयी, सूक्ष्म-स्पर्शिणी पद्धति पर कई सुन्दर प्रबधात्मक प्रयास किये हैं। इधर श्री विश्वनाथ लाल 'शैदा' के दो प्रबन्ध-काव्य 'समुद्र-मथन' और 'मदालसा' भी प्रकाश में आये हैं। श्री 'शैदा' जी भारतीय सस्कृति के बडे अनुरागी एवं गहन स्वाध्यायी हैं। उनके प्रबन्ध इससे पूर्णतः लाभोपेत हैं, साथ ही इनमें 'द्विवेदी-युग' से लेकर 'छाया युग' की अधिकाश शैलियों का प्रतिनिधित्व भी हुआ है। 'मदालसा' का कथा-तत्त्व जागरूक है, किन्तु 'समुद्र-मथन' 'कामायनी'-पद्धति पर लिखा गया काव्य-प्रबन्ध है, जिसमें सभी 'मथन'—प्राप्त रत्नों का सुन्दर एव प्रतीकात्मक चित्रण हुआ है। भाषा की तत्समता अधिक होने पर भी दोनों की वर्णन-सरणि पिछले खेवे के काव्यों से अधिक स्पष्ट और कथा के स्थूल-सूक्ष्म तार अधिक सजगता के साथ व्यवस्थित हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'छाया-युग' की कविता में कथा—तत्त्व को गौण स्थान प्राप्त हुआ है। प्रत्यक्षरूप से और अधिकाशरूप में उत्तम पुरुष पद्धति पर अपनी भावानुभूतियों के अभिव्यंजन के इस युग में, कथा सगठन का महत्त्व मिल पाना बडा अमनोवैज्ञानिक था, वैसा हुआ भी नहीं। प्रारम्भ में कुछ प्रयास हुए थे, पर कथा भावात्मक प्रतिक्रिया और अन्तरानुभूतियों के प्रभुत्व में बिखरकर भाव-प्रसृति में डूब गई। बाद में कवियों ने स्वतंत्र गीत-प्रगीतों को ही मुख्य रूप से आत्माभिव्यंजन का माध्यम बनाया। 'विषय' के स्थान पर जब

'विषयी' प्रमुख हो जाता है, तब वस्त्वात्मकता की अपेक्षिणी कथा महत्त्व-हीन हो जाती है। बाद को पुरानी धारा के विचारकों के अतिरिक्त 'छाया-युगीन काव्य के समर्थक-प्रवर्धक आलोचकों ने यह कहना प्रारम्भ किया कि गीत-प्रगीत तो स्फुट रागों पर आधृत होते हैं। उनमें आत्मा का क्षण-रूप ही आलोकित हो सकता है, आत्मा का अविरल प्रवाह नहीं; क्योंकि चिन्तन, दर्शन और राष्ट्र या जाति की समष्टि-गत आत्मा के प्रवाह को गीतों के लघु साँचों में भर पाना कठिन है। गीतों में व्यष्टि-आत्मा भले ही प्रकाश-वर्षा करे, पर सम्पूर्ण राष्ट्र के सामूहिक जीवन को समुन्नयन, प्रबोध-दिशा और सार्वदेशीय प्रसार-प्रारोहण प्रदान करने के लिए एक बृहत्तर पथ और प्रशस्ततर भूमिका की आवश्यकता होती है। किसी प्रख्यात कथा के अनुबन्ध से ये सभी गुण खिंच आते हैं। इधर कथानुबन्ध इतना अ-महत्त्व-पूर्ण हो गया था कि कथा-बन्ध के सिद्ध कवि श्री 'गुप्त' जी भी उधर आकृष्ट हो गये। 'यशोधरा' और 'द्वापर' तो एक प्रकार से आन्तर भाव-विन्यास की ही कृतियाँ हैं। 'यशोधरा' में गद्य-पद्य का मिश्रण ही नहीं, पद्यों में भी स्फुट गीति-कविताओं और स्फुट पद्यों का प्राधान्य है। दोनों ही कृतियों में पात्रों के आधार पर काव्य-खण्डों को विन्यस्त किया गया है। 'साकेत' में भी 'गुप्त' जी ने गीतों को स्थान दिया। 'सिद्धराज' में कथान्विति के स्थान पर चरित्रान्विति ही एकत्व का विधान करती है। समस्त कथानक आन्तर-स्पर्श से पुलकित एवं आभ्यन्तर अभिव्यंजनाओं से प्रच्छादित है। इसी कथा-गौणता को ध्यान में रखकर पं० विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र ने ऐसे 'पंच-सन्धि'-हीन एवं शिथिल कथा-बंध-युक्त प्रबन्धों को 'एकार्थ काव्य' ('वाङ्मय-विमर्श', पृ० ४५) की संज्ञा दी है। 'व्यंजनाओं के पहाड़' एवं 'मार्गाचलों' में प्रतिहत होती हुई प्रबन्ध-कथा-धार पर श्री 'मिश्र' जी ने बड़ा क्षोभ प्रकट किया है।

इन सब के उत्तर में 'प्रसाद' जी की 'कामायनी' आयी जिसमें परंपरागत रूढ़ि के रूप में गृहीत 'महाकाव्य'-परिभाषा को अस्वीकार करते हुए, एक क्षीण किन्तु अत्यन्त सांकेतिक कथा-सूत्र पर ऐसा महाग्रन्थ प्रणीत हुआ, जिसने न केवल समस्त पूर्व आक्षेपों का सफल उत्तर दिया, वरन् समग्र 'छायायुगीन' विशिष्टताओं को पूर्णतम प्रौढ़ विकास भी प्रदान कर दिया। एक साथ ही इतिहास, पुराण, दर्शन, मनोविज्ञान, मानव-जीव शास्त्र आदि सभी दृष्टियों को 'कामायनी' ने एक युगानुकूल संगति तो दी ही, मानवता का इतिहास दिखाते हुए ऐसे शाश्वत सत्यों का भी महदाख्यान किया जिनके प्रकाश से त्रिकाल जगमगाया है।

आज का काव्य-गत कथा-तत्त्व प्रतीकात्मकता, रूपकत्व, अन्योक्ति, समा-

सोक्ति और शिथिलबंध को अपनाए हुए भी पिछले खेवे से अधिक स्पष्ट एवं सुव्यवस्थित है। छायावादी अन्तः सौन्दर्य और कथा की नवीन ग्रहण-विधि के संयोग से आज का कलाकार नवीन संभावनाएँ ला सकेगा, ऐसी आशा स्यात् दुराशा न होगी। इतने विवेचन और विश्लेषण के पश्चात् हम छाया-युगीन काव्य में आये कथारूप के विषय में अन्त में निम्न स्थापनाएँ कर सकते हैं—

(१) इस युग के कवि ने पौराणिक कथाएँ तो ली हैं, पर इन्होंने 'द्विवेदी-युग' से आगे बढ़कर उसकी नवीन और युगोपयोगी व्याख्याएँ की हैं। (२) इन कवियों ने सम्पूर्ण कथा की इतिवृत्तात्मकता को न लेकर उसके कुछ-एक मार्मिक और मनोनुकूल अंशों को ही लिया है। इन्हीं अंशों की विस्तृत व्याख्या और नवीन अर्थों की सन्निहिति से इन कवियों ने अपने उद्देश्य की पूर्ति की है। पौराणिकता की मनोवैज्ञानिक और तर्क-सम्मत व्याख्या कर मानवीय अर्थों की नवीन उद्‌भावनाएँ भी हुई हैं। (३) इन काव्यों में व्यक्ति-निष्ठ अनुभूतियों की प्रधानता और बाह्यार्थता की गौणता है। (४) कल्पना-प्रधान और आत्म-निष्ठ होते हुए भी इन काव्यों में देश कालोपयोगी संदेश उभारे गये हैं और इनपर सामयिक, सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक समस्याओं का प्रभाव पड़ा है, जिसे इन लोगों ने अपने निजी, अध्ययनात्मक एवं आदर्शवादी दृष्टि-कोणों से समाहित किया है। (५) इन रचनाओं में आध्यात्मिक के साथ सूक्ष्म मानवीय और मानवीय के साथ सूक्ष्म दार्शनिक संकेत एक साथ गुम्फित पाये जाते हैं। यह युग मानवीयता और दार्शनिकता के समन्वय का अनोखा युग है। 'तुलसीदास' और 'कामायनी' इसके उदाहरण हैं। इन लोगों ने दर्शन को मानव की व्यावहारिक सक्रियता देने का प्रयास किया है। (६) ये कवि इतिवृत्तात्मक वर्णन न करके अभीप्सित स्थलों का सूक्ष्म अंकन करते हैं। इसीसे स्थूल कथा-दृष्टि से उसमें असंतुलन भी कहा जा सकता है। (७) इनकी वर्णन-शैली चित्र-कलात्मक है। चित्रकार को भाँति ये केवल कुछ के सहारे समग्र वस्तु को झलकाने का प्रयास करते हैं। उसमें उभरकर आये स्थल दबे अंशों की भी धारणा करा देते हैं। (८) कुछ कृतियों में एक ही कथा का कारण कार्य-युक्त प्रवाह न ग्रहीत होकर स्फुट स्थलों का खण्ड-खण्ड मालाकार ग्रथन होता है। जैसे अलग-अलग पुष्प माल्य को रूप की पूर्णता देते हैं, उसी प्रकार कथा-खण्ड अलग-अलग आकर भी एक अन्तरायोजित पूर्णता प्रदान करते हैं। (९) स्थिति और पात्रों के स्थूल चित्रण के स्थान पर उनका मनोवैज्ञानिक चित्रण और अंकन भी इस धारा के कलाकार की विशेषता है।

इस भाव वादी युग ने कथा सूक्ष्मीकरण किया है।

छायावादी काव्य के 'लोक'-स्पर्श

समाज में जब-जब मूल्यों के परिवर्तन का प्रश्न उठता है, तब-तब जीवन और उसके आधार-भूत मानों की फिर से व्याख्या होती है। इस व्याख्या-पुनर्व्याख्या में प्राचीन और नवीन उपकरणों का नवीन परिस्थितियों मे पुनःपरीक्षण भी होता है। अपनी मानसिक स्थितियों एवं परिस्थितियों के लिए जो प्राचीन तत्त्व अनुकूल सिद्ध होते हैं, उन्हें अपने अनुकूल घटा-बढ़ा कर तो स्वीकार ही किया जाता है, नवीन की अवाछनीय बातों को भी त्यागा जाता है। जब-जब मूल्य-मानों का प्रश्न उठता है, एक व्यवस्था के मूल्यों से जब व्यक्ति असन्तुष्ट हो जाता है और अपनी वर्तमान परिस्थिति के साथ उनके सघर्ष का निरन्तर अनुभव करने लगता है तो इस वैषम्य में वह शाखा और तने को छोड़ कर व्यवस्था के आवश्यकता-मूल और मानवीय स्वभाव की तात्त्विकताओं की ओर जाता है। इसके लिए उसके तीन आधार होते हैं—(१) नवीन शोध अथवा विचार-भाव (२) इनके आनुकूल्य में आने वाले प्राचीन साहित्य के उपकरण (३) लोक रुचि और लोक-मनोभूमि। आज नृतत्त्व-शास्त्र का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। किसी भी मान्यता अथवा रुचि-विशेष पर प्रश्न उठते ही इस शास्त्र की ओर भी दृष्टि दौड जाती है और लोक-जीवन तथा लोक-रुचि के प्रमाण की बात भी उठ पडती है। एकतंत्र एव शिष्ट-तंत्र के आगे बढ़ कर जबसे मानव-विचारणा ने प्रजा-तन्त्र के आदर्शों की उपलब्धि की है, जनता, जन-रुचि, जन-मत और लोक-जीवन के प्रश्न आधारिक महत्त्व के अधिकारी हो गये हैं। 'छाया-युग' का प्रारम्भ प्रजातान्त्रिक आदर्शों के प्रसार एव व्यक्ति स्वातन्त्र्य की मान्यता के साथ हुआ है। मुक्ति-कामी इन 'रागी' कवियों ने समाज-व्यवस्था, मानवीय सम्बन्ध-समवाय एव साहित्य-परम्परा के विरुद्ध एक साथ ही विद्रोह किया था, जिसने परिपक्वता के साथ-साथ एक सामाजिक एव मानसिक क्रान्ति का रूप ग्रहण कर लिया है।

'प्रसाद' की 'कामायनी' में बुद्धि और हृदय के सघर्ष की समस्या आज के समाज की अति-बौद्धिकता के प्रति विद्रोह की ही समस्या है। हृदय की शान्ति और निर्मलता के लिए ही 'पन्त' जी ने प्रकृति की मातृत्वमयी निश्छल गोद को अपनाया था। हिन्दी के तत्कालीन गृहीत छन्दों में हार्दिक सहजता के निर्वाह

न हो सकने के कारण ही 'निराला' जी ने कविता की छन्द-मुक्ति की घोषणा की। हृदय की भावनाओं को अधिक मूल्य देने और कृत्रिम जीवन के बोझों को उतार फेंकने की वृत्ति, यदि मानव की आदि-सहयोगिनी प्रकृति, वन्य शोभा और वन-फूलों की ओर जाय तो कोई अनौचित्य नहीं। कटे छटे उद्यानों से दूर वन-फूलों की ओर चलने का उद्घोष अकृत्रिम जीवन की या सेच्छा ही फूटा था—चलो कवि बन-फूलों की ओर! अति-सभ्यता, अति-बौद्धिकता और औपचारिकता से ऊबे इन कवियों ने अविकृत अथवा प्राकृत जीवन की ओर भी प्रस्थान किया है। अंगरेजी के 'रोमानी पुनरुत्थान-युग' के कवियों ने भी अपने काव्यों में लोक-कथाओं और पौराणिक तथा लोक-जीवन के उपादानों (पात्रों, कहावतों आदि) को स्वीकार कर अपने मन्तव्यों की पुष्टि तो की ही है, प्रतीकादि से भाषा की अभिव्यक्ति-शक्ति को भी बढ़ाया है। छायावादी कवियों ने भी ग्राम-प्रकृति, ग्रामीण जीवन एवं लोक-वृत्तियों के द्वारा न केवल काव्य-वस्तु को ही नवीन किया है, वरन् लोक-भाषा एव लोक-गीतों की व्यजना-पद्धति से लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता एवं भावुकता का आदर्श लेकर अपनी काव्य-कला को संवेदनीय और सम्पन्न भी बनाया है। यह स्थापना अपने में कुछ विचित्र अवश्य लगेगी, क्योंकि अब तक अधिकाश आलोचकों ने छायावाद को आङ्ल प्रभाव और बग-प्रभाव से अधिक महत्त्व नहीं दिया है। अनुभूतियों की सूक्ष्मता, वैयक्तिकता और कल्पनात्मकता के कारण यह काव्य अ-जनवादी, असाधारणीकृत और कला-काव्य घोषित किया गया है। साधारण पाठक भी प्रश्नशील हो उठता है कि छायावादी काव्य पिछले काव्य की अपेक्षा जटिल-तर लगता है, उसमें लोक-सरलता कहाँ!

सत्य यह है कि इन कवियों ने लोक-काव्य की विशेषताओं को उनके प्राकृत रूप में नहीं ग्रहण किया है। लोक रुचि और लोक-गीतों की संवेदक विशषताओं एव अभिव्यक्ति-प्रणाली के मूल-स्रोतों का मर्म लेकर इन्होंने उसको परिमार्जित काव्य की भूमि पर सँवारा है। लोक-तत्त्वों के निकट कवि लोक-कवि बनकर नहीं, कला-कवि अथवा परिमार्जित काव्य-कर्त्ता के रूप में गये हैं। लोक-गीतों में 'द्रव्य' के रूप में मूल मानव-भाव और सहज अनुभूतियों की प्रधानता होती है और शैली के स्तर पर प्रतीक-योजना और लाक्षणिकता का प्राधान्य होता है। लोक-गीतों में एक सहजता एव मोती के भीतर से झलकने वाले पानी की-सी तरलता होती है। प्रतीक योजना, लाक्षणिकता एवं व्यग्यात्मकता का जो अभिव्यक्ति-मर्म 'छाया'-शैली का प्राण है, लोक गीतों से भी प्रेरित लगता है। यह तथ्य इसलिए बहुत स्पष्ट नहीं लगता

कि छायावादी कवियों में अनुभूतियों के साधारणीकरण की अपेक्षा वैशिष्ट्य और वैयक्तिकता अधिक है। इन कवियो ने व्यावहारिकता और शास्त्रीयता की अपेक्षा रागात्मकता और स्वच्छन्दता को स्वीकार किया है। काव्य में कवि की निजी अनुभूति और भावना प्रधान होनी चाहिए, यहाँ से सभी कवि प्रस्थान करते हैं, पर उन आत्म-निष्ठ अनुभूतियों की व्यञ्जना में कल्पना की प्रमुखता और चित्रात्मकता से असामान्यता आ जाती है।

आचार्य 'शुक्ल' जी ने अपने इतिहास मे पं० बदरी नाथ भट्ट, मुकुटधर पाण्डेय आदि को 'छाया-युग' के पूर्व ही, एक स्वच्छन्द काव्य-प्रणाली के जन्मदाता के रूप मे उपस्थित किया है। इनके पूर्व ही लखनऊ के 'ललित किशोरी' और 'ललित माधुरी' (सन् १८५६–७३ ई०) आदि ने सरल-सहज खड़ी बोली मे लोक-प्रयोगों को मिलाकर कविताएँ की थीं। तुकनगिरि, रिसालगिरि, देवी सिंह आदि ने लावनियों में खड़ी बोली का प्रयोग कर लोक-रुचि को महत्त्व दिया था। काशी के काशीगिरि भी रचना कर चुके थे। पं० श्रीधर पाठक ने सन् १८८६ ई० में 'एकान्तवासी योगी' इसी लोक-छन्द और खड़ी बोली मे लिखा था। खड़ी बोली की सहज-सरल शैली में तत्सम-शब्दों के तद्भव रूपों को सम्मान देते हुए श्रीधर पाठक जी ने तत्कालीन कविता की लोकोन्मुखता का परिचय दिया—

"प्रान-पियारे की गुन-गाथा, साधु! कहाँ तक मैं गाऊँ?
गाते-गाते चुके नहीं वह चाहे मैं ही चुक जाऊँ।"

इस काव्य में वन्य प्रकृति की उन्मुक्त प्राकृत शोभा और स्वच्छन्द भावुक जीवन का बड़ा हृदय-स्पर्शी रूप प्रस्तुत हुआ है। इसकी कथा लोक-कथाओं के साथ अत्यन्त साम्य रखती है। 'शुक्ल' जी के शब्दों में 'किसी के प्रेम मे योगी होना और प्रकृति के निर्जन क्षेत्र में कुटी छाकर रहना एक ऐसी भावना है जो समान रूप से और सब श्रेणियों के स्त्री-पुरुषों के मर्म का स्पर्श स्वभावतः करती आ रही है। सीधी-सादी खड़ी-बोली मे अनुवाद करने के लिए ऐसी प्रेम-कहानी चुनना जिसकी मार्मिकता अपढ़ स्त्रियों तक के गीतों की मार्मिकता के मेल में हो, पंडितों की बँधी हुई रूढ़ि से बाहर निकल कर अनुभूति के स्वतन्त्र क्षेत्र में आने की प्रवृत्ति का द्योतक है' (इतिहास, पृ० ६००)। अपने समय की जड़ काव्य-धारा को नया प्राण देने के लिए शिष्ट और परिमार्जित काव्य ने सदैव ही लोक-काव्य-धारा का सहारा लिया है। छायावाद ने भी शास्त्रबद्धता और औपचारिकता के विरुद्ध मानव-हृदय के नैसर्गिक भावों को पकड़कर उनकी कल्पना और

कला-परक अभिव्यक्ति की है। 'शुक्ल' जी ने छायावाद को सहजविकास न मान-कर अनुकृति का परिणाम माना है। इसका कारण छायावादी कविता की लाक्षणिक वक्रता की जटिल प्रसृति और व्यक्ति-परक अनुभूतियों की कल्पनात्मक अभिव्यक्ति है। शैली की कलात्मकता और कल्पना-प्रगल्मता के कारण 'छाया'-काव्य की वह दृष्टि छिपी ही रही जिससे उसने मानव-भाव-भूमि की पुनःपरीक्षा कर लोक-काव्य-धारा से नये मर्म और नवीन शक्ति का अनुप्राणन प्राप्त किया था। सच तो यह है कि लोक-हृदय, लोक-जीवन एव लोक-गीतों के भीतर ही प्रेषणीयता और अभिव्यक्ति के वे मर्म छिपे होते हैं जो सार्वभौम मान्यता पाकर शास्त्रीय बन जाते हैं। शास्त्रों का यह लोक-ऋग कभी भो घटाया नहीं जा सकता। शास्त्रों के विधानों, रचना तत्र के मर्मों, अलंकारों की विशिष्ट पद्धतियों के मूल-स्रोत को ढूँढने और उनके उचित मूल्याकन के लिए भी लोक-गीतों की व्यजना-पद्धतियों की परीक्षा-समीक्षा कम महत्त्व की नहीं होगी। आगे चलकर लगे हाथ कुछ अभिव्यक्ति-प्रणालियों का संकेत किया भी जायगा, किन्तु मेरा यहाँ यह अभिप्राय नहीं है कि ये प्रणालियाँ छायावादी युग के पहले काव्य में कभी प्रविष्ट ही नहीं हुई हैं और छाया-कवियों ने इन्हें प्रथमतः काव्य में स्थान दिया। यहाँ इनके संकेत से मेरा अभिप्राय मात्र यही है कि 'द्विवेदी-युग' और पूर्ववर्त्ती खडी-बोली-काव्य में ये पद्धतियाँ अत्यन्त स्वल्प अथवा नहीं के बराबर थीं। इनकी प्रेरणा शायद इन्हें लोक-भूमि से ही प्राप्त हुई थी।

मुक्ति के गान गानेवाले प्रेयवादी कवियों ने जन-जीवन की अन्तर्व्यापिनी प्राण-शक्ति का सदैव आश्रय लिया है। लोक-मानस को अनुगुजित करनेवाले सगीत-स्वरों और भाव लयों को अपनी सवेदनशील ज्ञानेन्द्रियों से पकड-परख कर इन 'राग-योगियों' ने अपनी अनुभूतियों को नया रूप दिया है। नाद-प्रियता लोक-मानस की प्रमुख और सर्व-सामान्य विशेषता है। अगरेजी के काउपर, बर्न्स और स्कॉट आदि कवियों ने भी 'रोमानी पुनरुत्थान' की पृष्ठभूमि में यही काम किया था। पं० श्रीधर पाठक ने शास्त्रीय पद्धति को छोडकर देहाती प्रकृति और फल-पौदों का भी वर्णन किया था। छायावादी कवियों ने भी मुक्त प्रकृति के प्रति अपना प्रेम व्यक्त किया। प्रकृति को 'आलम्बन' भी माना और उसकी शोभा पर रीझे तथा उसे अपने मनचाहे रगों से सजाया। हरसिंगार, रातरानी, माधवी, मौलश्री, जूही, चमेली, आदि लताओं का वर्णन तो हुआ ही, आगे चलकर चिलबिल आदि वृक्षों और बाँसों के झुरमुट का भी चित्रण हुआ—

"बाँसों का झुरमुट—
संध्या का झुटपुट—
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ
टी वी टी—टुट् टुट् !"
—['पल्लविनी', पृ० २१५]

कवि की मधुर अभीप्सा है कि वह खगों-सा मुक्त गान कर सके—

"गा सके खगों-सा मेरा कवि,
विश्री जग की संध्या को छवि !
गा सके खगों-सा मेरा कवि,
फिर हो प्रभात—फिर आये रवि !"
—['पल्लविनी', पृ० २१६]

जुलाई सन् १९२७ में लिखित अपनी 'गीत खग !' रचना में अपने और पुरानी परंपरा के कवियों के अन्तर का जो संकेत किया है, उसमें सहजता, ऋजुता और निष्प्रयासता के तत्त्वों की ओर स्पष्ट निर्देश है—

"तेरा कैसा गान,
विहंगम ! तेरा कैसा गान,
न गुरु से सीखे वेद-पुराण,
न षड्दर्शन, न नीति विज्ञान"
"तुझे कुछ भाषा का भी ज्ञान,
काव्य-रस-छन्दों की पहचान ?
न पिक प्रतिभा का कर अभिमान,
मनन कर, मनन, शकुनि नादान !"
—['पल्लविनी', पृ० २२८]

इसके उत्तर मे कवि का गीत-खग अपनी विशेषताएँ बतलाता है—

"मुझे न अपना ध्यान,
....
गान ही में रे मेरे प्राण
अखिल प्राणों में मेरे गान !"

'मुग्ध मुकुलों में गंधोच्छ्वास' और 'मेरे प्राण गीत में हैं' तथा 'मेरे गीत सबके प्राणों में हैं' जैसी बातें इन कवियों की भाव-प्रागता, तरलता एवं उन्मुक्ति का द्योतक है। स्वरों से अर्थ का अनुकरण लोक-भाषा की प्रमुख प्रवृत्तियों में एक

है। ध्वन्यर्थ-व्यंजना के प्रयास 'प्रसाद', 'पन्त', 'निराला' आदि सभी कवियों में पुष्कल रूप से प्राप्त हैं। 'पन्त' जी ने पक्षियों की ध्वनि का अनुकरण किया है—

"टी वी टी—टुट् टुट् ।'

'पवन गीत' में वायु-ध्वनि का अनुरणन पकड़ने का प्रयास है—

सर्-सर् मर् मर् झन्-झन् सन्-सन्
गाता कभी गरजता भीषण,
वन वन, उपवन,
पवन, प्रभंजन ।'

['पल्लविनी', पृ० ११६]

भ्रमरों की ध्वनि की व्यंजना से नीचे के छन्द में आये सभी शब्द झुन-झुना रहे हैं—

"वन वन, उपवन—
छाया उन्मन उन्मन गुंजन,
नव वय के अलियों का गुंजन ।"

['वही', पृ० १९३]

भावावेग में ग्राम-गीतों की प्रणाली की नाम एवं वस्तु-गणना की परिपाटी भी आ गई है—

"मिल रहे नवल बेलि तरु, प्राण ।
शुकी शुक, हंस हंसिनी संग,
लहर सर, सुरभि समीर, विहान,
मृगी मृग, कलि अलि, किरण-पतंग ।"

['वही', पृ० १७८]

× × ×

"आज, तृण, छद, खग, मृग, पिक, कीर,
कुसुम, कलि, व्रतति, विटप, सोच्छ्‌वास,
अखिल आकुल, उत्कलित अधीर,
अवनि, जल, अनिल, अनल, आकाश ।'

['वही', पृ० १७७]

भ्रमर, कोकिल, पपीहा, चकोर, कलापी आदि विशिष्ट भावों के प्रतीक अथवा प्रेरक पक्षी जो कवि-समय और परंपरा से चले आ रहे हैं, इन कवियों ने भी अपनाये हैं। 'पन्त' जी प्रेम के अवसर पर अलि और कोयल को कभी नहीं भूले हैं—

"छनती थी ज्योत्स्ना शशि-मुख पर
मैं करता था मुख सुधा-पान,—
कूकी थी कोकिल, हिले मुकुल,
भर गये गंध से मुग्ध प्राण !
× × ×
मधु के कर में था प्रणय बाण,
पिक के उर में पावक पुकार !"

['वही', पृ० १७०–७१]

चातक भी तरस रहा है—

"दग्ध चातक तरसता है,—विश्व का
नियम है यह; रो अभागे हृदय ! रो !!"

—['ग्रंथि']

लोक-गीतों की ही कोयल और चातकी 'भक्ति' और 'रीति-काल' की कविताओं में गयी हैं। वे उन्हीं सुधि-सगों और साहचर्य-प्रसगों के साथ 'छाया-काल' में भी आई हैं। यहाँ 'रीति-काल'-सा केवल उपालम्भ-मात्र नहीं है, उनके स्वरों पर हृदय का कंपन और भावों की सिहरन शब्दों में उतारी गयी है। 'प्रसाद' जी ने 'चातकी, कन को तरसती' 'चातक की चकित पुकारें' और 'कौन हो तुम वसन्त के पूत' आदि पंक्तियों मे इन मान्यताओं को हार्दिकता प्रदान की है।

'पन्त' जी को बचपन बहुत पसन्द है। उन्हें लोक-कथाओं के श्रोताओं की भाँति परियों और अप्सराओं के प्रति भी बडा कुतूहल और आकर्पण है। अपनी कविता में स्वप्न की परियों और अप्सराओं का प्रायः उल्लेख किया है। परी और अप्सराओं में विश्वास लोक-मान्यता है। 'पन्त' जी ने बड़ी भोली आस्था और बाल-कुतूहल के साथ अप्सराओं को अवतरित किया है। निद्रा के प्रसग मे कवि रात को परियों के विचरण की मधुर कल्पना मे विमुग्ध हो उठता है। बच्चो की भाँति तारों से प्रश्न करता है, रात के छिपने की कल्पना करता और बाल-विहगिनि से उसके गान स्रोत पूछने लगता है! उसे इस गाने और प्रथम रश्मि के आने की कैसे अवगति हुई ?

कहाँ, कहाँ हे बाल-विहंगिनि ! पाया तूने यह गाना ?'

['प्रथम रश्मि' कविता से]

'कवि शशि-किरणों से काम-रूप नभ-चरों के उतरने का अनुभव करता है! कभी कवि विहंग-कुमारि का आँचल पकड़कर गान सिखलाने के अनुरोध में

मचल उठता है। चिड़ियाँ यह गाना कहाँ पाती हैं, उनसे यह गान सीख क्यों न लिया जाय?

"सिखा दो ना हे विहँग-कुमारि,
हमें भी अपना मीठा गान!"

'कवि जुगनू के प्रति कल्पना-शील है। इसी प्रकार किरणों के उड़ जाने की कल्पना भी लोक-मानस-भूमि का ही भावुक सारल्य है!! कौवों, कोयलों, पपीहों आदि से प्रश्नोत्तर करना लोक-गीत की परम्परा है। 'पन्त' की प्रारम्भिक कविताओं में लोक-मानस और लोक गीतों में ही प्रतिबिम्बित होने वाले सारल्य, जिज्ञासा, कुतूहल एवं भावुकता का प्राधान्य है। लोक गीतों की नायिकाएँ इन पक्षियों से प्रायः ऐसा ही प्रश्न करती पायी जाती हैं।

'पन्त' जी ने कहीं-कहीं लोक-मान्यताओं की ओर बड़ा रमणीय एव अर्थ-गर्भ संकेत किया है। पहाड़ी बालिका उस दूर के पर्वत को बादल का घर कहती थी—

"वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर!"

['उच्छ्वास' कविता से]

गिरिको बादलों का घर कहने वाली वह बालिका भोले लोक-विश्वासों की ही उपज है। कवि उसकी निश्छलता और भोलेपन पर निछावर है। लोरियों की भाँति 'पन्त' ने निद्रा का गीत' लिखा है—

"सोओ, सोओ तात।
सोए तरु-वन में खग,
सरसी में जलजात!"

['पल्लविनी' पृ० १०]

लोक-गीतों की यह प्रिय प्रवृत्ति है कि जब उन में किसी वस्तु या विशेषता का वर्णन करना होता है, तो उसे एक साथ कई स्थलों पर घटित करते हैं। 'आकाश में बिजली चमकती है, रण में तलवार चमकती है, प्रियतम के साथ शैय्या पर वह नारी चमक रही है।' एक साथ ही कई चमकने वाली वस्तुओं और स्थितियों का उल्लेख हुआ है। नीचे की पंक्तियों में भी एक श्वास में ही एक वस्तु को कई वस्तुओं में होना गिनाया गया है—

'इन्दु की छवि में, तिमिर के गर्भ में,
अनिल की ध्वनि में, सलिल की वीचि में,
एक उत्सुकता विचरती थी, सरल
सुमन की स्मिति में, लता के अधर में।'

['ग्रन्थि']

इसी प्रकार लोक-गीतों में एक ही भाव पर अवधारण एवं घनत्व देने के लिए प्रायः एक प्रकार की बात कई व्यक्तियों से कही जाती है—

"शैवलिनि ! जाओ, मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन को,
चन्द्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणों ! गाओ पवन-वीणा बजा !
पर हृदय सब भाँति तू कंगाल है...

['पन्त'-'ग्रन्थि']

कहीं तुलना, कहीं समानता और कहीं अन्तर दिखाने के लिए एक प्रकार अथवा एक साथ ही कई वस्तुओं की प्रस्तुति लोक-गीतों में भाव-सचारण करने में बडी उपयोगिनी होती है। 'सध्वा समय चिडियाँ बोलती हैं, सवेरे मयूर बोलते हैं, ऐ प्रियतम गोद छोड दे, नगर के सभी लोग जग गये—

'साँझे बोलइ चिरई, सवेरे बोलइ मोरवा,
कोरवाँ छोड़िदऽ बालमा, जागई नगरी क लोग ए,
कोरवाँ छोड़िदऽबालमा।'

एक प्रिय-गृह-पीड़ित नारी कहती है—'मेरे बाबा सागर-से हैं, मेरी माँ गंगा-जमुना ऐसी; मेरे भाई चन्द्रमा की तरह हैं। ऐसों में जल भुनकर नष्ट हो गयी !' श्वसुरालय का परिचय देती हुई कहती है—'सास तो हमारी बूढी-डोकरी है आज मरे या कल। ननद वन की कोयल है जो आज उड़ जाय या कल; मेरी जेठानी काली बदली है जो एक क्षण बरस पडती है तो दूसरे क्षण घाम करने लगती है ! (प्रिय के प्रति कहती है) ऐ भाई तुमने परती गोड़कर ककरी बुवाई थी, यह न जाना कि वह तित्ती है या मीठी !'

"सागर अस हएँ हमरे बबइया, गगा-जमुन अस माइ !
चाँद-सुरुज अस भैया जे हमरे, जरि-बरि भएऊँ खुआर !!"

× × × ×

"सासु जे हई भइया, बूढ़ी-डोकरिया,
आजु मरइँ की काल्हि।
ननदी त हई भइया, वन कइ कोइलिया,
आजु उडइँ की काल्हि !
जेठनी त हई भइया, काली बदरिया,
छन बरसइँ, छन घाम !
परती कोड़ि भइया, ककरी बोआवऽ
न जानऽ तीत कि मीठ !'

इसी प्रकार लोक गीतों में एक ही शब्द के लिए कई समानार्थक पदों की योजना करते हैं या कई-कई विशेषण लगा देते हैं—

अपने पिया जो क प्रान-पियारी
ढुढ़न कैसे आउब !

मैं तुम्हें ढूढने कैसे आऊँगी !' 'पन्त' जी अश्रु, के लिए उसी प्रकार समानार्थक पदों का विधान करते हैं—

'अश्रु,—हे अनमोल मोती दृष्टि के !
नयन के नादान शिशु ! इस विश्व में
आँख है सौन्दर्य जितना देखतीं
प्रतनु ! तुम उससे मनोरम हो कहीं !'

['ग्रन्थि']

महादेवी जी की आत्मा भी लोक-भूमि पर अत्यन्त रमी-भिनी है। उनके काव्य के पढ़ने से जो उनका कल्पना-चित्र बनता है, वह लोक-गीत की एक भोली विरहिनी की एकान्तता, निश्छलता और सारल्य के अत्यन्त सन्निकट है ! लोक-कथाओं की नायिका की भाँति ही उनकी प्रेम-भावना उन्मादिनी और उनकी लगन अनन्त है !!

"अश्रु-मय कोमल कहाँ से आगयी परदेशिनी री !"

महादेवी का प्रेयसी-रूप अपने प्रिय के प्रकाश में एक दूलहन का बन जाता है, जो सुहाग की माती हो, जिसकी बाहों में मिलन की अनन्त उत्कंठा मचल रही हो। जिसके कंठ में विरह के असख्य शूल खनक रहे हों। दूलहन का यह रूप लोक-उपादान का ही अग है—

"मिलन-मन्दिर मे उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुंठन।
मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिल कन ॥
सजनि, मधुर निजत्व दे
कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं।

इसी प्रकार 'अलि कैसे उनको पाऊ' और 'कैसे संदेश प्रिय पहुँचाती'— जैसे गीतों की भावना भी लोक-भूमि से ही अभिषिक्त है। लोकगीतों की विरहिणी अपने प्रियतम को पत्र लिखकर भेजती है, यहाँ उसकी भी विवशता है—

"कैसे सँदेश प्रिय, पहुँचाती !
दृग-जल की सित मसि है अक्षय,
मसि-प्याली झड़ते तारक-द्वय,

पल पल के उड़ते पृष्ठों पर
श्वासों से लिख सुधि के अक्षर;
मैं अपने ही बेसुधपन में
लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती।"

'पलकन पाऊँ पखारऊँ'—आँखों के जल से पद पखारने की बात भी लोक-भूमि में बड़ी परिचित है—

"क्या पूजन क्या अर्चन रे!
....
पद रज को धोने उमड़े आते लोचन में जल-कण!"

पाहुन को पलकों में उतारने का आतिथ्य भी लोकात्मक है—

"उतरो अब पलकों में पाहुन।"

लोक विरहिणी-सी यह पुलकन, यह सिहरन—

"पुलक-पुलक उर सिहर-सिहर तन
आज नयन क्यों आते भर-भर?"

['नीरजा']

जुगुनुओं के दिये जलाना और मधु-पराग से पथ लीपना भी लोक-जीवन की मांगलिक परंपरा का निर्वाह है—

"हिम-स्नात कलियों पर जलाये
जुगनुओं ने दीप-से;
ले मधु-पराग समीर ने
वन-पथ दिये हैं लीप-से;
गाती कमल के कक्ष में
मधुगीत मतवाली अलिनि!"

प्रिय का निशीथ में आना—

'मेरा प्रिय निशीथ नीरवता में आता चुपचाप,
मेरे निमिषों से भी नीरव है उसकी पदचाप।'

—['नीरजा']

× × ×

'करुणामय को भाता है
तम के परदे में आना।'

—['नीहार']

'मेरे नीरव मानस में
वे धीरे-धीरे आये !'

—['नीहार']

मिलन-रात में आगत-पतिका चातक और कोयल को चुपा-सुला आयी है—

"मैं आज चुपा आई-'चातक',
मैं आज सुला आई कोकिल,
कंटकित 'मौलश्री', 'हरसिंगार'
रोके हैं अपने श्वास शिथिल !'

—['साध्यगीत']

'ऐ चाँद, तुम आज न डूबना, ऐ सूर्य, तुम आज मत उगना ! आज मेरी सुहाग-रात है—

"चाँद, जनि बिसएउ, मुरुग जनि बोलेउ हो,
मोरी आजु सुहागे कइ राति
सुरुज जनि ऊएउ ।"

वर्ण्य-विषय के क्षेत्र में श्री गुरुभक्तसिंह जी 'भक्त' ने ग्रामीण प्रकृति (पशु-पक्षी, फूल-फल आदि) के अनगढ़ रूप का बडा ही सुन्दर और सहज पक्ष अपनी कविताओं में उपस्थित किया। कौडेना-जैसे जल-पक्षी और श्वेत-पुष्पी आदि घासों के नाम भी अत्यन्त सावधानी और वैज्ञानिकता के साथ आये हैं। 'सरस सुमन' की 'चपला' और 'पन्त' जी के 'उच्छ्वास' और 'आँसू' की बालिकाएँ ग्राम और अ-नागरिक प्रकृति की प्रतिनिधि हैं।

बादल, तेल-बाती, दिया, रात आदि की प्रतीकात्मकता और उपमानता बहुत कुछ लोक-गीतों से आयी हुई है। प्रभाव-साम्य-मूलक अप्रस्तुतों के विधान की प्रणाली लोक-काव्य में चिर-प्रचलित रही है। महादेवी जी ने कहीं कहा—'मैं नीर भरी दुख की बदली', कहीं कहती हैं—'घन बनूँ वर दो मुझे प्रिय' ('नीरजा')। इसी प्रकार 'यह मदिर का दीप इसे नीरव जलने दो !', 'दीप-सी मैं' और 'शेषयामा यामिनी मेरा निकट निर्वाण' ('दीपशिखा')—आदि में दीपक का प्रतीक लिया गया है। 'रात-सी मेरी व्यथा, बरसात-सी मेरी कहानी'-जैसी पक्तियों का अप्रस्तुत-विधान लोक-भावना की सबलता से परिस्नात है।

'निराला' जी की प्रसिद्ध 'जुही की कली' कविता का विन्यास भी बहुत कुछ लोक-कथा की भूमि पर मालूम पडता है। पवन और जुही की कली के माध्यम से जो कथा सकेतित है, वह है एक निद्रा में सोई नायिका को जगाकर

उसके परदेशी प्रियतम के मिलने की। नायक पवन और नायिका कली के व्यापार भी वर्ग-गत (टिपिकल) ही हैं, उनमें वैयक्तिकता की कोई छाप नहीं दिखलाई पडती। समस्त प्रस्तुत-अप्रस्तुत-विधान भी परपरा-मुक्त हैं। इसी प्रकार 'यमुना के प्रति' रचना मे भी भाव-भूमि एवं स्मृति-साहचर्य का क्रम लोक-भूमि से ही सम्बद्ध है, अभिव्यक्ति-प्रणाली अवश्य लाक्षणिक मूर्तिमत्ता के कारण नवीन है। इस रचना की मूल चेतना लोक-मुखी ही है। 'शेफाली' कविता मे भी भाव की जो व्यंजना अभिप्रेत है, वह लोक-गीतों की तडप और सवेदना से कसमसा रही है। 'निराला' के व्यक्तित्व मे वंग-भूमि का बादू और बैसवाडे की प्रकृति की गहरी छाप है। लोक-तत्त्व की मधुरता, प्रत्यक्ष सवेदना और सक्षिति की जो मर्म-मयी विशेषताएँ 'निराला' जी के नये गीतों का प्राण हैं, लोक गीतों की सहजता से गम्भीरतया प्रेरित लगती हैं—

"बाँधो न नाव इस ठाँव बन्धु,
पूछेगा सारा गाव बन्धु!"

विषाद की एक मधुर छाया जो इन गीतों पर झलमलाती रहती है, आन्तरिक पीर की जो मिठास इनकी शिराओं में बहती मिलती है, अर्धस्फुट व्यंजनाओं की जो मुक्त आभा इनके चरणों मे गुम्फित रहती है, वह अपने मूल स्वर में लोक-मुखी ही दिखलाई पडती है। उनमें लोक-गीतों सा सहज सारल्य न आ सका हो, यह दूसरी बात है।

'छाया-युगीन' काव्य ने लय और छन्द के क्षेत्र में लोक-गीतों से बड़ी प्रेरणा ली है। अपनी गति में रूढ़ मात्रिकों और सस्कृत वृत्तों के कठोर साँचों को छोडकर लय की जो ऋजुता, गति की जो लचक और संगीत की जो हार्दिकता इस युग में छन्दों को प्राप्त हुई है, वह लोक-गीतों से अवश्य प्रेरित हुई है। भावों के अनुसार छन्दों का विस्तार-सकोच, भाव-लय की समस्वरता में चलने वाला गति-प्रवाह एव समग्र प्रभाव के अनुकूल संगीत-विन्यास की स्वच्छन्द कला अपने भीतर लोक-काव्य की बहुत कुछ विशेषता छिपाये हुए है। छन्द-शास्त्र के विधि-निषेधों की शास्त्रीयता से अलग, यथा-रुचि चरणों की संख्या में होने वाला घटाव-बढाव लोक-भाव की स्वच्छन्दता से उन्मिष्ट है। सगीत का एक नया ढलाव और लय के नये ढाँचे सामने आये।

खडीबोली की छन्द-व्यवस्था की कठोरता, अनम्यता और एक-स्वरता निरन्तर रूढ होती जा रही थी। इन मात्रिक-वर्ण-वृत्तों में एक खडापन था। इस खड़ेपन के साथ अन्तर की सूक्ष्म अनुभूतियों के विविध मोड़ों का निर्वाह

बडा कठिन था। सभी धान बाईस पसेरी के ढंग पर, उन्हीं जड साँचों में सभी प्रकार की अनुभूतियों को कसना पडता था, चाहे उनकी कोमल और सूक्ष्म भाव-भगियों के अँखुए टूटें या रहें। अपने भावों के अन्त.सत्व से गुरु-गरिम ये 'राग-प्रेमी' कवि, इन छन्दों में अपने भावों की आन्तरिक लय को न उतार सके। इस छन्द-व्यवस्था के प्रति अपनी प्रतिक्रिया 'ख्याल' या 'लावनी' छन्दों के प्रयोग द्वारा श्री प० श्रीधर जी पाठक पहले ही व्यक्त कर चुके थे। 'जगत् सचाई-सार' में भी उन्होने नये लोक-छन्द को ही ग्रहण किया था। आचार्य 'द्विवेदी' जी के शास्त्रीय सस्कारों ने संस्कृत के वर्ण वृत्तो को काफी प्रश्रय दिया, पर हिन्दी के पूर्व-गृहीत छन्दों के बन्धनों को ढीला करने का वह आन्दोलन 'द्विवेदी' जी की छाया में भले ही पनप न सका हो, पर उनके प्रभाव से अलग खिलने वाले कवि-सुमनों की साँसों में अवश्य पल रहा था। 'प्रसाद' जी की आरम्भिक खडी बोली की रचनाएँ कौवालियों और गजलों के छन्दों पर लिखी गयी हैं। यह लोक-सम्पर्क की कामना का ही प्रतिफल था। अपने हृदय की विदग्ध अनुभूतियों के प्रभाव से 'प्रसाद' जी ने शब्दों के रूपों, उनके सम्बन्ध-साहचर्य एवं गति-सगीत को नया उभार दिया था। प० रामनरेश त्रिपाठी ने अपने प्रबन्ध 'पथिक' में तो ग्राम्य प्रकृति और ग्रामीण विरहिणी का बडा मर्मस्पर्शी वर्णन किया ही था, लोक-गीतों के सग्रह से भी उनकी विशेषताओं और अभिव्यक्ति-शक्ति की सतेजता का पथ दिखलाया था। लाला भगवानदीन जी ने भी 'बोगाडा' लोक-छन्द में सुन्दर कविताएँ कीं। 'भारतेन्दु' जी ने तो 'आधुनिक युग' के प्रारम्भ में ही लोक-छन्दों की शक्ति की परीक्षा की थी। 'प्रसाद' जी ने लोक-गीतों की सबसे बडी इस विशेषता को पहचाना था कि उनके छन्दहृदय के सगीत से जुडकर चलते हैं। उनका गजलों का प्रयोग बहुत सफल नहीं हुआ था, क्योंकि हिन्दी प्रकृति के अनुसार गजलों में भी उन्हें ह्रस्व और दीर्घ के उच्चारण-क्रम तथा मात्रिकता का निर्वाह करना पडा था। अब 'प्रसाद' जी ने भाव के अनुसार छोटे अथवा लम्बे चरणों वाले गीतों के नये ढाँचे खरादने प्रारम्भ किये। 'पन्त' जी ने 'ग्राम्या' में 'नाच गुजरिया छम छम-छम' जैसे छन्दों में धोबियों और चमारों के नाचों की गति को पकडने का प्रयास किया है।

लोक-हृदय के संगीतों और आन्तरिक भाव-लय को प्रस्थान-बिन्दु बनाकर चलने वाले 'प्रसाद', 'पन्त', 'निराला' और महादेवी जी आदि ने लोक छन्दों को कहीं शास्त्रीय स्पर्श देकर सुधारा है, कहीं दो एक मात्राएँ घटा बढा दी हैं और कहीं एक पक्ति को तोडकर एकाधिक पक्तियों में विभाजित कर दिया है।

'कामायनी' के प्रथम सर्ग का छन्द 'आल्हा' अथवा ग्रामों के बिरहियों (बिरहा रचकर गाने वालों) के छन्द का परिष्कृत रूप है। 'पन्त', 'निराला' और महादेवी जी ने अपने कितने ही गीतों में इसे दो पंक्तियों में तोड दिया है। 'अलि कैसे उनको पाऊँ' में कौन जाने महादेवी जी के अन्तर्मन में किसी विवाह-गीत की गूँज पडी रही हो। 'कामायनी' के अधिकांश छन्दों मे 'आल्हा' की गूँज है। 'पन्त' जी की 'छाया', 'बादल', 'स्वप्न' आदि रचनाओं के छन्द 'लावनी' के रूपान्तर हैं। 'निराला' जी भी लावनी की लय से अलग नहीं हैं। इस प्रकार छाया-युग की चेतना ने लोक-भूमि से पर्याप्त जीवन-रस लिया है। भाव, विन्यास-क्रम, प्रतीक-योजना एवं छन्द-व्यवस्था सभी पर लोक-प्रभाव की कुछ न कुछ छाप है। इस युग का प्रभूत गीत-वितान लोक-कण्ठ से भी अनु-रंजित है।

बृहत्तर छायावाद

जो लोग अब भी छायावाद को विदेशी अनुकृति और भारतीय परिस्थितियों से अछूता मानते हैं, उनकी मानसिक कुण्ठाओं और पूर्वाग्रही भाव ग्रंथियों की विवेचना में पड़ना व्यर्थ है। ऐसा तर्क देकर शायद वे अनजाने में कविता और जीवन के निकट सम्बन्ध में ही अनास्था घोषित करते हैं, वे यह नहीं समझते। छायावादी कविताएँ रीतिकाल के कवि की भाँति जन-समाज से दूर राजाओं के विलास-कक्षों की कविताएँ नहीं हैं। अपने व्यक्ति एवं व्यक्तित्व के स्वाभिमानी इन कवियों ने समाज की धारा-प्रतिधाराओं के बीच टकराते हुए ही उन्हें अपनी आशा-आकांक्षा जय-पराजय और राग-विराग के रंगों से आकलित किया है। इन्हें कोई राजाश्रय की छाँह नहीं सुलभ थी और न इन्हें आदेशों पर रचनाएँ लिखनी थीं। समाज और उसके विविध क्षेत्रों में चलने वाले आवर्जनों-विसर्जनों के बीच इन आत्म-प्रबुद्ध कवियों ने अपने हृदय की चोटों को कला के माध्यम से चित्रित किया है। इन्होंने स्पष्ट शब्दों में व्यक्ति के चूर्णित व्यक्तित्व और छीने गये अधिकारों की ओर से अपने को प्रतिनिधि तो नहीं घोषित किया, किन्तु इन्होंने जिन संवेदना-क्षेत्रों और भाव स्रोतों को काव्योदात्त बनाया है, व्यक्ति-हृदय की जिन रागिनियों को स्वर दिया है, वे वैयक्तिक अभिव्यक्तियों के माध्यम से प्रकाश पाकर भी मात्र वैयक्तिक और समाज-निरपेक्ष नहीं थीं। यह छायावाद अतीत वर्तमान और भविष्य के प्रति प्राणोदित एक गहरी जीवन-दृष्टि थी, जिसने न केवल कवि-कल्पना को ही उत्तेजित किया, वरन् साहित्य के विविध रूपों में भी स्पन्दित हुई है और तत्कालीन समाज-दर्शन [illegible] चिन्तन और राजनीतिक-आदर्श के बीच भी अभिव्यक्त हु[illegible] समाज और व्यक्ति के बीच स्थित सम्बन्धों के अस्तित्व से [illegible] सिन्धु के आन्तरिक कंप की भाँति समग्र युग-चेत[illegible] राजनीति और समाज-दर्शन के रूप में यह गों[illegible] है। दर्शन की भूमि पर स्वामी विवेकानन्द और [illegible] लहर का साक्षात्कार करते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र ने [illegible] सुन्दर का जो आवाहन किया है, वह मानव [illegible] वस्तु-स्थिति की माँग को ही सुनकर हुई थी।

भावानुभूति और कल्पना मात्र वायवीय या अन्धानुकृति नहीं थी। इन कवियों-साहित्य-सर्जकों ने तत्कालीन परिस्थिति की जटिलता और काठिन्य को अनुभव करके ही एक समाधान ढूँढने का प्रयास किया था।

अन्य साहित्य-विधाओं की अपेक्षा कविता के समक्ष एक विशिष्ट उत्तर दायित्व होता है। अन्य साहित्य-रूप-सर्जकों की अपेक्षा कवि को विशिष्ट जीवन-रूपों एवं वस्तु-स्थितियों के साथ, अपने रागात्मक तादात्म्य के स्थापन का विशेष दायित्व होता है। यह हार्दिक सम्बन्ध समय-सापेक्ष भी होता है और संस्कार-सापेक्ष भी। जहाँ तक समय के आयाम का सम्बन्ध है, साहित्य की अन्य विधाओं से सम्बद्ध साहित्यकार विचार और चिन्तन के स्तर से भी बहुत कुछ कार्य कर ले जाता है, पर कवि को विचार और चिन्तन की स्थिति के आगे भाव की स्थिति को भी आयत्त करना होता है। यह रसात्मकता अथच रागात्मकता जिस प्रकार प्रारम्भ होने में समय लेती है उसी प्रकार अन्त होने में भी समय की अपेक्षा करती है। यही कारण है कि नवीन विचारादर्श और चिन्तन के वाद-विवाद जितने शीघ्र अन्य विधाओं मे जड़ जमा लेते हैं, उतने शीघ्र काव्य में नहीं।

साहित्य के विस्तृत इतिहास में काव्य की इस अपेक्षाकृत स्थिति शीलता का पुष्कल प्रमाण देखा जा सकता है। यही कारण है कि उपन्यास-नाटक-निबंधादि के क्षेत्र में नवीनता जिस निरन्तरता के साथ चला करती है, काव्य मे वैसा नहीं। काव्य में जो परिवर्तन आता है, वह होता तो दीर्घ अनुभव का फल है, पर उसका प्रत्यक्ष प्रस्फुटन अत्यन्त आकस्मिक-सा होता है। 'भारतेन्दु'-युग से लेकर 'द्विवेदी-युग' तक के काव्य की जो प्रतिक्रिया छायावादी काव्य-धारा में प्रस्फुटित हुई, वह सहसा लगकर भी निर्मूल और बहिरानीत नहीं है। जीवन-परिस्थितियों और सामाजिक-मूल्यों में जो परिवर्तन और उलझाव आ गये थे, उन्होंने रवीन्द्र और आङ्ग्ल-साहित्य के 'रोमांचक पुनर्जागरण' में अनुकूलता भले ही पायी हो, पर वे एक सन्तुलन के लिए अन्तः-प्रेरित अवश्य थे।

'छाया'-काव्य की ओर प्रेरित करने वाली परिस्थितियों ने अपने को केवल काव्य तक ही सीमित रखा हो, यह बात नहीं है। वे कथा, नाटक, निबन्ध, रेखा-चित्र और आलोचना तक ही सीमित नहीं थीं, लोक-भाषा के गीतों में भी प्रतिफलित हुई हैं। प्रतिफल से मेरा मतलब है वस्तु, रूप और प्रक्रिया की समानता से जो थोड़े बहुत अपवाद और विधाओं की विभेदक प्रकृतियों के बावजूद दिखलाई पड़ता है। छायावादी युग की 'प्रसाद' की भावात्मक

कहानियाँ अपने आगे-पीछे की पीढ़ियों से एक निश्चित वैशिष्ट्य रखती हैं। काव्यात्मकता, वैयक्तिक अनुभूतियों के कोमल और आर्द्र स्पर्श, उक्ति-भंगिमा, मानववादी दृष्टि के साथ-साथ लाक्षणिक विधान, ध्वन्यात्मकता और प्रतीक-योजना का प्रभाव 'आँधी', 'आकाश दीप', 'इन्द्रजाल', 'प्रतिध्वनि' और 'छाया'-संग्रहों की कितनी ही कहानियों पर स्पष्ट है। पात्रों और परिस्थितियों का भाव-पूर्ण अन्तर्दर्शन एवं इतिवृत्तात्मकता का परित्याग भी स्पष्ट लक्षणीय है। प्रकृति की ओर आत्मीयता-भरी सापेक्षता की दृष्टि कविता की भाँति इनमें भी तैरती मिलती है। 'आकाश दीप' और 'स्वर्ग के खण्डहर में'—जैसी कथाओं के पावन आदर्श छायावादी कवि के ही उपयुक्त हैं। 'प्रसाद' जी तो मूल रूप से कवि थे, श्री विनोदशकर व्यास की कहानियाँ भी उसी अन्तर्वादी दृष्टि से अनुरंजित हैं। श्री चंडीप्रसाद 'हृदयेश' और श्री राय कृष्णदास की कहानियाँ भी भाववादिता, प्रकृति वर्णन, संकेतात्मकता और लाक्षणिकता में उसी मनो-दृष्टि की परिचायिका हैं।

'निराला' के 'निरूपमा' 'अलका' और 'अप्सरा' जैसे उपन्यासों की स्वानु-भूतिकता, कल्पनात्मकता और मानवीय दृष्टि इस युग की व्यापक मन स्थिति के *परिदृश्य में ही आयी है। रोमानी आदर्शवाद की पुट भी यत्र-तत्र ही नहीं,* उपन्यास की परिधारणा में ही समायी हुई है। नायक और नायिकाएँ स्वयं इन कवियों की भाँति ही मानववादी आदर्शवाद और रोमाचक कल्पनाशीलता से परिस्पन्दित हैं। 'निरूपमा' का उपन्यास के समाज-बहिष्कृत नायक से प्रेम और परिणय इस युग की नवीन मूल्य-दृष्टि से पूर्ण प्रेरित और प्रभावित हैं। 'प्रसाद' जी के उपन्यासों का वस्तु-तत्त्व अवश्य ही काव्य और नाटक की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी है, पर उस यथार्थ में भी नवीन जीवन-मूल्यों के खोजने की वही दृष्टि है जो छायावादी काव्य में सचरित हुई है। आत्मनिष्ठ भावों की वैसी ही विवृति यहाँ भी परिदृश्यमान है। जैनेन्द्र जी के उपन्यासों के पात्र भी आत्म-निष्ठ, स्वानुभूति-चेता और नवीन आदर्श के खोजी और विश्वासी हैं। 'पन्त', 'निराला' भगवती प्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा आदि की कथाओं और उपन्यासों में भी व्यक्तित्व का *अन्तःप्रकाश* छाया हुआ है। स्वयं प्रेमचन्द जी का यथार्थोन्मुख आदर्शवाद भी व्यक्तित्व की महनीयता, खोखले आदर्शों की निर्जीव जडता में मानवीयता की प्रतिष्ठा और प्रेमादि विषयक नवीन मूल्यों की अवतारणा पर अधिष्ठित है।

'प्रसाद' जी के नाटकों में न केवल गीतों की *आत्मनिष्ठता* और रोमान आलोकित हुआ है, वरन् चरित्र-चित्रण और कथोपकथनों में भी उसकी पूरी

चिकनाई है। 'अज्ञात शत्रु', 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' के प्रमुख पात्रों के चरित्र में एकान्त और अन्तर्विकल प्रेम, आदर्शों की स्वच्छन्द उद्भावना, स्वैरिता तथा साहसिकता है। वे वस्तुस्थितियों से उसी प्रकार टकराते और भावोच्छल होते हैं जिस प्रकार स्वय इस युग के कवि अपनी चतुर्दिक् सीमाओं के प्रति भावप्रवण और विद्रोह शील थे। पात्रों की 'नक्षत्रमालिनी निशाओं' को अपलक देखते-देखते उसके पार चले जाने की कामना छायायुगीन ही है। स्कन्दगुप्त का प्रेम, वैराग्य और तितिक्षा-भाव भी प्रसाद-काव्य के पाठकों को मार्ग से हटी हुई वस्तु नहीं लगेगी। अतीत-प्रेम इन नाटकों मे स्पष्टतः प्रकट हुआ है। 'कामना' का समग्र विधान प्रतीकात्मक है। जीवन के अन्तर्वर्ती अरूपपक्ष का उद्घाटन और अन्तः सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की प्रमुखता भी नहीं छूट पायी है। 'पन्त' की 'ज्योत्स्ना' की 'वस्तु' और अभिव्यंजना दोनों ही छाया-शैली की उपज हैं। नारी-पात्रों का शक्ति-मय चित्रण इस युग के उपन्यासों और नाटकों में काव्य की भाँति ही उभर कर आया है। प्रकृति के नानारूपों का प्रेयात्मक और मानव-भाव-रंजित चित्रण सभी साहित्य-विधाओं में समान है। जीने की इच्छा, मानव-स्पृहाओं की स्पन्दना, धरती को ही सुखमय और स्वर्ग को भी मानव-मय बनाने का उत्साह, अज्ञात के प्रति कुतूहल, नारी रूप और सौन्दर्य के प्रति आन्तरिक आकर्षण, स्वानुभूति-निरूपण तथा रूढ आदर्शों के विरुद्ध नवीन चेतना आदि सभी वृत्तियाँ सर्वत्र प्राप्त होती हैं। श्री वियोगी हरि और राय कृष्णदास के गद्य-गीत पूर्णतः छायावादी परिवेश की सृष्टि हैं।

निबन्धों में व्यक्ति-व्यंजकता, आत्म-निष्ठता और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता का पुट स्पष्ट है। विषय पर भावुक हो उठना इन कवियों की विशेषता है। यह विशेषता निबन्धों में भी फूट पडी है। जिस प्रकार छायावादी कवि वर्ण्य वस्तु की इतिवृत्तात्मक विविधता को छोडकर उसके कुछ ही पक्षों का सूक्ष्म, गम्भीर एवं चित्रात्मक निरूपण करता है, उसी प्रकार इस युग के 'निराला', 'प्रसाद', 'पन्त' और महादेवी के निबन्ध भी इतिवृत्तात्मक नहीं, सूक्ष्म व्यंजना-युक्त और भावात्मक स्पर्शों से समन्वित हैं। लेखिकाओं के 'स्कच' (रेखा चित्र) और संस्मरणों में तो यह विशेषता है ही, लोक-भाषा के गीतों में भी छायावादी काव्य की विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। आजमगढ़ के विश्राम सिंह के 'बिरहे' (जिनकी प्रशंसा श्रीमहापण्डित राहुल सांकृत्यायन जी ने अपने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में भी की है और 'दिनकर' जी आदि, बिहार के साहित्यकारों ने सराहा है।) सूक्ष्म आन्तरिकता, स्वानुभूति निरूपण, प्रकृति की मानव-भाव-रंजना, वेदना की विवृति और कल्पनाशीलता में इस युग के

परिमार्जित साहित्य (कला-काव्य) के साथ हैं। विश्राम सिंह तमसा से प्रार्थना करते हैं—

"हमरी हड्डियन के माता उहाँ पहुँचउतिउ जहाँ
ओनके हड्डियन के रहे चूर।"

नदी के किनारे एक धुँधुवाती हुई चिता देखकर कवि अपनी प्रेयसी की चिता की स्मृति में बह जाता है—

"नदिया किनारे एकठे चिता धुँधुवाले,
धुअवाँ उड़ि-उड़ि गगनवाँ मे जाइ।
अपने सपनन क हमहूँ चितवा जरउली ···"

बिहार के 'अशान्त' और अनिरुद्ध तथा उत्तरप्रदेश के डा० रामविचार पाण्डेय और मोती बी० ए० आदि के लोक-भाषा के रमणीय-ललित गीत प्रमाण-स्वरूप उठाये जा सकते हैं।

आलोचना एव समीक्षण पर भी छाया-युगीन दृष्टि की छाया है। प्रभाव-वादी आलोचना इस युग की ही देन है। यदि इस काव्य की अपनी कोई निजी जीवन भूमि न होती, तो आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय, रामनाथ सुमन, डा० रामकुमार वर्मा, महादेवी वर्मा, नगेन्द्र, गंगाप्रसाद पाडेय, पं० जानकी वल्लभ शास्त्री एव हसकुमार तिवारी आदि आलोचक कैसे आते? यह तो हुई छायावादी वृत्त के साहित्यकारों की बात, छायावादी धारा का प्रभाव इस धारा से अलग रहनेवाले साहित्यकारों और कवियों पर भी पडा है।

'द्विवेदी-युग' की इतिवृत्तात्मकता और नीरस औपदेशिकता की प्रतिक्रिया न केवल छायावादमें वरन् 'शुक्ल' जी में भी हुई थी। 'शुक्ल' जी ने मानव-भाव-रजित प्रकृति-वर्णन के स्थान पर प्रकृति के यथातथ रूपवर्णन को महत्त्व दिया था, पर शुद्ध प्रकृति-वर्णन को आलम्बन-रूप में ग्रहण करना और प्रकृति-वर्णन में भी रसानुभूति की स्वीकृति छायावाद द्वारा प्रकृति के महत्त्व की मान्यता के समकक्ष ही है। 'शुक्ल' जी ने परपरा-बद्ध साहित्य-चिन्ता को मानव मनोभूमि से सम्बद्ध कर उसे युगानुकूल सार्थकता प्रदान की थी। अलंकार और कलात्मक परिसाधनों के पीछे छिपी हृदय-प्रभावक शक्ति का रहस्य खोलकर उन्होंने 'अलौकिकता' और 'चमत्कार-वाद' को छोडकर हृदय के रागात्मक सम्बन्ध-विस्तार पर जोर दिया। आलोचना को मनोविज्ञान से जोडकर उन्होंने उसी प्रकार मानव हृदय को प्रधानता दी थी, जिस प्रकार छायावादी कवियों ने अपने हृदय की वृत्तियों और निजी भाव-गत प्रतिक्रियाओं को काव्य का मूलाधार माना था। आलोचना के क्षेत्र में अपनी पूर्व-परंपरा के प्रति जो 'शुक्ल' जी ने

किया था, वही छायावादी कवियों ने अपनी परंपरा-प्राप्त काव्यप्रणाली के साथ किया है। 'शुक्ल' जी ने भाव पर अवधारण दिया था तो छायावादी कवियों ने अनुभूति पर। 'शुक्ल' जी ने अपनी समीक्षा में जिस हृदय-विस्तार की बात उठाई, छायावादियों ने सामान्य व्यक्ति से लेकर प्रकृति और 'अनन्त'—'अशेष' तक उसी को प्रस्तुत किया था—दोनों पक्षों का बहुत-सा भेद केवल शब्दावली का भेद है। 'शुक्ल' जी ने इस दिशा में एक मर्यादा मान ली थी, छायावादी कुछ और आगे तक बढ़ गये।

छायावाद ने भाषा का जो मनसस्कार किया था, उसमें सूक्ष्म अनुभूतियों की व्यंजना की जो भंगिमा उभाड़ी थी, वह छायावादी कवियों तक ही सीमित न रही। इससे अलग रहकर 'द्विवेदी-युग' की परपरा को विकसित करने वाले कवियों में भी छायावाद की छाया तिरती दिखाई पडती है। खड़ी बोली की अभिव्यक्ति-शैली ही छायावाद की अमिट छाप का प्रमाण है। आज के गद्य में पायी जाने वाली लाक्षणिकता इस युग की मान्यता की स्वीकृति का सबूत है।

आचार्य 'शुक्ल' जी ने सच्चे 'स्वच्छन्दतावाद' के उद्भव की बात करते हुए अपने 'इतिहास' में उसका श्रेय श्रीधर पाठक और मुकुटधर पाडेय आदि को दिया है। प्रारम्भ-कर्त्ता चाहे जो रहा हो, 'शुक्ल' जी ने भी कम से कम यह तो स्वीकार ही किया कि 'स्वच्छन्दता-वाद' या 'छायावाद' के लिए एक अनुकूल और प्रेरक सामाजिक पृष्ठभूमि अवश्य प्रस्तुत थी।

लाला भगवान दीन जी 'दीन' छायावाद-विरोधियों के पुरोधा रहे हैं। उनकी 'चाँदनी' कविता की कुछ पंक्तियाँ पढ़ें और देखें कि उनके ऊपर भी वस्तु के स्थान पर वस्तु द्वारा मन पर डाली गयी छाया या स्वानुभूति का कितना प्रभाव था। मानवीकरण की प्रवृत्ति के साथ 'सूक्ष्म' के लिए 'स्थूल' के 'अप्रस्तुत-विधान' की प्रवृत्ति भी दर्शनीय है। रहस्य की जिज्ञासा भी लक्षणीय है—

"खिल रही है आज कैसी
भूमि-तल पर चाँदनी !
खोजती फिरती है किसको
आज घर-घर चाँदनी !!
× × ×
रात की तो बात क्या, दिन मे
भी बनकर कुन्द कास,
छायी रहती है बराबर
भूमि-तल पर चाँदनी !
× × ×

स्वच्छता मेरे हृदय की
देख लेगी जब कभी,
सत्य कहता हूँ कि कँप
जायेगी घर-घर चाँदनी।

× × ×

वह किसी की माधुरी
मुसकान की मनहर छटा,
'दीन' को सुमिरन करा
देती है अक्सर चाँदनी!"

अपने बाबूराम दीन सिंह-रीडरशिप के सम्बन्ध से पटना-विश्व-विद्यालय में दिये गये व्याख्यानों के संग्रह 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' नामक ग्रंथ के पृष्ठ ५९८ पर 'हरिऔध' जी ने कहा है—"छायावाद की अनेक रचनाएँ मुझको अत्यन्त प्रिय हैं और उन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखता हूँ। जिनमें सरस ध्वनि और व्यंजना है, उनका आदर कौन सहृदय न करेगा? क्या काँटों के भय से फूल का परित्याग किया जावेगा? यह भी मैं मुक्त कण्ठ से कहता हूँ कि छायावादी कवियों ने खड़ी बोली की कर्कशता और क्लिष्टता को बहुत कम कर दिया है।"

विचारों में ही नहीं, अपनी सर्जना में भी 'हरिऔध' जी ने तत्कालीन जीवन के मूल में व्याप्त उन वृत्तियों का प्रस्फुरण किया है, जो छायावादी काव्य के लिए उत्तरदायी थे।

'पारिजात' 'हरिऔध' जी की स्फुट कविताओं का सकलन है। 'हरिऔध' जी के पौत्र श्री प० केशव देव उपाध्याय के अनुसार, इस सकलन की रचनाओं का प्रणयन-काल सन् १९३४ है, पर 'प्रथम संस्करण' में वे सन् १९४० में प्रकाशित की गयी हैं। 'पारिजात' की 'दिल के फफोले' (पृ० १९९), 'मधुप' (पृ० १९४-१९५), 'समता-ममता' (पृ० १९५) एवं 'प्रपात' (पृ० ९७) रचनाएँ छायावादी मनोभूमि की ही सृष्टि हैं। आत्म-निष्ठता, वस्तु की स्थूल सत्ता के स्थान पर, वस्तु द्वारा प्राप्त स्वानुभूति के चित्रण, कुतूहल और कोमल कल्पना की दृष्टि से ये रचनाएँ छाया-दृष्टि से ही प्रसूत हैं। 'प्रपात' का रचना बन्ध प्रगीतात्मक है—

"किस वियोगिनी के आँसू हो,
किस दुखिया के हो दृग-जल ?
किस वेदनामयी बाला की
मर्म-वेदना के हो फल !"
—['पारिजात' से, 'प्रपात', पृ० ९९]

कविवर 'पन्त' और अन्य कुतूहल-प्रेरित कवियों ने छाया, नक्षत्र, स्याही की बूँद आदि के प्रति ऐसी ही पृच्छा प्रकट की है। 'हरिऔध' जी के 'प्रिय-प्रवास' ग्रंथ का जो उनकी शैली की प्रौढता का प्रतीक है, रचना-प्रारम्भ २४ फरवरी, सन् १९१३ में हुआ। सन् १९४० में उनकी स्फुट रचनाओं का एक संग्रह 'मर्म-स्पर्श' नाम से सकलित हुआ और सन् १९४४ में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की 'कौन' कविता (पृ० ५४) पूर्ण जिज्ञासात्मक और रहस्योन्मुख है। इसी प्रकार 'प्रभाकर' (गीत) रचना भी 'प्रसाद' जी के 'आँसू'-छन्द में ही लिखी गयी है—

"अनुराग–राग–मय प्राची,
कमनीय प्रकृति-कर पाली ।
है राह देखती किसकी,
रख मंजुल मुख की लाली ।"
['पारिजात पृ० ३९]

'द्विवेदी-युगीन' काव्य-धारा के प्रतिनिधि एवं वरेण्य कवि श्री मैथिलीशरण जी ने भी अपने शरीर की शिराओं को तन्त्री का तार बनाना चाहा है—

"इस शरीर की सकल शिराएँ
हों तेरी तंत्री के तार ।
आघातों की क्या चिन्ता है,
उठने दे उनको झंकार।
नाचे नियति, प्रकृति सुर साधे
सब सुर हों शरीर साकार।
देश-देश में, काल-काल मे उठे
गमक गहरी गुञ्जार ।"
['झंकार' से]

'गहरी गुञ्जार गमक, उठे'—पदावली की लाक्षणिक विच्छित्ति भी लक्षणीय है आचार्य 'शुक्ल' जी का प्रकृति-प्रेम 'पन्त' जी के प्रारम्भिक प्रकृति-प्रेम से

तुलनीय है। 'पन्त' जी ने उसमें एक जीवितात्मा का रहस्यात्मक अनुभव किया है और 'शुक्र' जी ने प्रत्यक्ष रूप से प्रकृति की सुख-दायिनी सत्ता की महत्ता प्रतिपादित की है—

"दल-राशि उठी खरे आतप में
 हिल चञ्चल औंध मचाती जहाँ,
उस एक हरे रग मे हलकी
 गहरी लहरी पड़ जाती जहाँ;
कल कर्बुरता नभ की प्रतिबिम्बित
 खजन में मनभाती जहाँ;
कविता वह हाथ उठाये हुए
 चलिये कविवृन्द बुलाती वहाँ।"

छायावादी कवियों का प्रकृति की ओर जाना कोई पाश्चात्य प्रचलन या नवीनता का प्रेम-प्रदर्शन मात्र न था। उस समय के भौतिक उपयोगितावादी बुद्धिवाद और नगरों के कोलाहल-मय छीना-झपटी वाले अति-व्यस्त वातावरण के बोझीलेपन के विरुद्ध सबों में एक प्रतिक्रिया सजग थी। कहने के ढग में थोडा अन्तर था। 'प्रसाद' जी ने भी यही बात अपने ढग से कही थी—

"ले चल मुझे भुलावा देकर
 मेरे नाविक, धीरे-धीरे।
जहाँ साँझ-सी जीवन-छाया,
ढीले अपनी कोमल काया,
नील नयन से ढुलकाती हो।
 ताराओं की भाँति घनी रे।
× × ×
जिस निर्जन मे सागर लहरी
अम्बर के कानों मे गहरी
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
 तज कोलाहल की अवनी रे।"
 ['लहर']

पण्डित राम नरेश त्रिपाठी छायावादी काव्य-धारा के बाहर के कवि हैं। 'पथिक', 'स्वप्न' और 'मिलन' प्रबन्ध-काव्यों के द्वारा उन्होंने देश-प्रेम का मधुर मंत्र-प्रचार किया, किन्तु उनके 'पथिक' में आया प्रकृति-वर्णन वैसा ही तन्मयता-पूर्ण आलम्बनत्व लेकर आया है जैसा छायावादियों ने अपनी लाक्षणिक एव

चित्रात्मक शैली में व्यक्त किया है। 'स्वप्न' का प्रकृति-वर्णन तो किसी अनन्त-अव्यक्त का संकेत भी करने लगता है। प्रकृति के कोमल एवं रमणीय रूपों पर सौन्दर्य-मय अप्रस्तुतों का विधान मानवीकरण एवं भाव-रंजित शैली की आभा देने लगा है। प्रभात के फूलों के मुख क्यों खुले हैं, फूल पर मोती क्यों रखे हैं—आदि के तर्काभास उसी परिवेश से उद्भूत लगते हैं, जिससे छायावादी काव्य के मानव-भाव रंजित प्रकृति-वर्णन के रूप। निम्न छन्द की स्पृहाएँ छायावाद के अत्यन्त निकट हैं—

"होते जो किसी को विरहाकुल हृदय हम,
होते यदि आँसू किसी प्रेमी के नयन के।
गर पतझड़ में वसन्त की बयार होते,
होते हम कहीं जो मनोरथ सुजन के।
दुख-दलितों में हम आस की किरन होते,
होते यदि शोक अविवेकियों के मन के।
मानते तो विधि का अधिक उपकार हम,
होते गाँठ के धन कहीं जो दीन जन के।"

ऊपर के 'अप्रस्तुत' भी प्रभाव-साम्य पर आधृत हैं, जिनमें उपचार-वक्रता की प्रधानता है। इसी प्रकार 'मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुञ्ज और वन में'—कविता की अभिव्यक्ति प्रणाली भी लाक्षणिकता-युक्त और 'स्थूल-सूक्ष्म-विपर्यय' से समन्वित है।

श्री गोपाल शरण सिंह जी की 'माधवी' की कविताओं में आत्म-व्यंजकता का एक माधुर्य है—'बिना स्वाति-जल के चातक की किस विधि प्यास बुझाऊँ।' मन की बात छिप नहीं पाती। स्वानुभूति के अभिव्यंजन की प्रेरणाएं उनको भी उसी प्रकार विकल किये थीं—

"होकर भी मैं विमन कहाँ तक
मन की बात छिपाऊँ।"

श्री सुभद्रा कुमारी चौहान भी अप्रत्यक्षता छोड़कर प्रत्यक्ष रीति से स्वानुभूति की मतवाली हो उठती थीं—

"अपने को माना करती थी
मैं वृषभानु-किशोरी।
भाव-गगन के कृष्णचन्द्र की
मैं थी चारु चकोरी!"

प्रेमी भी कृष्णचन्द्र से न्यारा न था—

"मैं राधा बन गयी, न था वह
कृष्णचन्द्र से न्यारा।"

बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' की ब्रजभाषा की कविताओं में आयी भाषा की लाक्षणिक सज्जा, अप्रस्तुतों की उपचार-वक्रता और आन्तरिकता भी 'छाया'-प्रवृत्तियों की जन्मदायिनी तत्कालीन परिस्थितियों की छाप का प्रमाण है। 'रत्नाकर' जी की चित्रात्मकता भी लक्षणीय है—

"पानी आज सकल सँवारयो काज बानी है।"
—['उद्धव-शतक']

"आँसु ह्वै बहन लागी बात अँखियानि तैं।"
—['उद्धव-शतक']

'मानवीकरण' की छटा भी दर्शनीय है—

"सुधि ब्रजवासिनि दिवैया सुख-रासिनि की
ऊधव नित हमकौ बुलावन कौं आवतीं।"
—[वही]

अलकार-निर्वाह की सतर्कता को छूट देकर देखा जा सकता है कि गोपियाँ अपनी पीडा में ही वसन्त और वर्षा की अनुभूति करती हैं। 'रत्नाकर' जी का लाक्षणिक वैभव निस्सन्देह छायावादी परिवेश से ही प्रतिकृत है। वस्तुत. 'रत्नाकर' जी की भाषा-शैली और उनकी गोपियों तथा उनसे पूर्व के ब्रजभाषा कवियों की भाषाभिव्यक्ति एव गोपियों में जो अन्तर है, वह समाज के जीवन में व्याप्त इसी छायावादी परिवेश का अन्तर है। 'रत्नाकर' जी की गोपियों की नागरिकता, व्यक्तित्व-पोषण और अनुभूतिशीलता इसी युग के वातावरण में व्याप्त 'छाया'-प्रभाव है। प० सोहनलाल द्विवेदी की इतिवृत्तात्मक अभिधेयता में भी, 'कुणाल' और 'वासवदत्ता' जैसी रचनाओं में छायावादी कल्पना और अप्रस्तुतों ने विशिष्ट योग दिया है।

वस्तुत' समाज में अधिकाधिक नव-शिक्षा-प्रसार और अपनी रूढि-शृखलाओं के प्रति बढ़ते प्रवुद्धमान विद्राह ने व्यक्ति की सवेदन-शीलता, सौन्दर्य-स्पृहा, जीवन की लालसा, कुतूहलमयो जिज्ञासा, प्रकृति के प्रति आत्मायता और अपने व्यक्तित्व के प्रति आकर्षण का नवीन द्वार खाल दिया था। व्यक्ति के भीतर, जीवन के वृहत्तर विस्तार से सम्पर्क स्थापित कर नवीन विधि-निषेधों की चेतना आँख खोल रही थी। समाज के भीतर व्याप्त यह नव-निर्माण की कसमसाहट इस युग की कलात्मक अभिव्यक्तियों में मुखर हुई है। अपने गुण-दोष और सीमा

एवं विस्तार को लेकर, ये प्रवृत्तियाँ अपनी सगती सामाजिक परिस्थिति के साथ पूर्णतः सम्बद्ध हैं और इनका योग समाज की प्रगति की दिशा में ही है, विकृति की नहीं। सांस्कृतिक दृष्टि की उपेक्षा कर, विचार करनेवाला ही इस सत्य से इनकार कर सकता है।

छायावाद के इस विस्तार ने प्रगतिवाद को भी प्रभावित किया है। आज यह कहने की आवश्यकता नहीं रह गयी है कि प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति, लाक्षणिक लाघव और चित्रात्मकता की छायावादी देन, भाषा के क्षेत्र में प्रगतिवाद को विरासत में मिली है। 'अंचल' जी में जो शरीरी सौन्दर्य, रूप लालसा, प्रेम-तृषा और प्रज्वलित अवसाद के स्वर आये हैं, वे तत्कालीन व्यक्ति-कुंठाओं और छायावादी विद्रोह की उग्रतर ध्वनियाँ ही हैं। 'अंचल' की लौकिकता भौतिकता छायावादी मानववाद का ही एक दूर-गत छोर है। 'मधूलिका', 'अपराजिता', 'लाल चूनर' और 'वर्षान्त के बादल' के कितने ही गीतात्मक प्रयास स्पष्टतः छायावादी रोमांचकता और कल्पनाशीलता की उपज हैं। कुछ पंक्तियाँ उदाहरणार्थ पर्याप्त होंगी—

"आज की रजनी बड़ी लोलुप जलन से तप्त लथ-पथ,
आज निद्रा भी न आती कौन अन्तर है रहा मथ।
आज से जीवन-मरण में रह गया कोई न अपना,
आज तो बस प्राण ले लेगा भयंकर रूप-सपना।"

ऊपर की प्रज्वलन-शीलता अवश्य ही छायावादी संवेदनशीलता से उग्रतर है, पर कथ्य और उपादान एक ही परिवेश से लिये गये हैं। निम्नपंक्तियों में आये प्रतीकात्मक प्रयोग एक दम छायावादी हैं—कथ्य भी छायावादी और अभिव्यक्ति भी। स्वानुभूति की प्रखरता भी स्पष्ट है—

"उर में आग, नयन में पानी, होठों में मुस्कान सजा,
हम हँसते इठलाते चलते, इतरा इतरा बल खा-खा।
अपनी तरणी फेंक प्रलय की लहरों में खुल खेलें हम;
आज भाग्य के उल्कापातों को हँस-हँसकर झेलें हम।"

—['मधूलिका']

पद्धति वही है; कुछ, शब्दों की प्रकृति और उनके प्रयोगों में अन्तर अवश्य है। जिस प्रकार व्यक्ति-परक होकर भी छायावादी कविताओं में एक उदात्तीकरण और भावों में उन्नयन एवं परिमार्जन की रुचि दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार उनकी भाषा में भी एक कोमलता और शालीनता की दीप्ति है। 'अंचल' के भाव तीव्र, उग्र और प्रभंजनवत् होते हैं, अतएव उनकी अभिव्यक्ति की

प्रेमी भी कृष्णचन्द्र से न्यारा न था—

"मैं राधा बन गयी, न था वह
कृष्णचन्द्र से न्यारा।"

बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' की व्रजभाषा की कविताओं में आयी भाषा की लाक्षणिक सज्जा, अप्रस्तुतों की उपचार-वक्रता और आन्तरिकता भी 'छाया'-प्रवृत्तियों की जन्मदायिनी तत्कालीन परिस्थितियों की छाप का प्रमाण है। 'रत्नाकर' जी की चित्रात्मकता भी लक्षणीय है—

"पानी आज सकल सँवारयो काज बानी है।"

—['उद्धव-शतक']

"आँसु ह्वै बहन लागी बात अँखियानि तैं।"

—['उद्धव-शतक']

'मानवीकरण' की छटा भी दर्शनीय है—

"सुधि व्रजवासिनि दिवैया सुख-रासिनि की
ऊधव नित हमकौ बुलावन कौं आवतीं।"

—[वही]

अलकार-निर्वाह की सतर्कता को छूट देकर देखा जा सकता है कि गोपियाँ अपनी पीड़ा में ही वसन्त और वर्षा की अनुभूति करती हैं! 'रत्नाकर' जी का लाक्षणिक वैभव निस्सन्देह छायावादी परिवेश से ही प्रतिकृत है। वस्तुतः 'रत्नाकर' जी की भाषा-शैली और उनकी गोपियों तथा उनसे पूर्व के व्रजभाषा कवियों की भाषाभिव्यक्ति एव गोपियों में जो अन्तर है, वह समाज के जीवन में व्याप्त इसी छायावादी परिवेश का अन्तर है। 'रत्नाकर' जी की गोपियों की नागरिकता, व्यक्तित्व-पोषण और अनुभूतिशीलता इसी युग के वातावरण में व्याप्त 'छाया'-प्रभाव है। पं० सोहनलाल द्विवेदी की इतिवृत्तात्मक अभिधेयता में भी, 'कुणाल' और 'वासवदत्ता' जैसी रचनाओं में छायावादी कल्पना और अप्रस्तुतों ने विशिष्ट योग दिया है।

वस्तुतः समाज में अधिकाधिक नव-शिक्षा-प्रसार और अपनी रूढ़ि-शृखलाओं के प्रति बढ़ते प्रवुद्धमान विद्रोह ने व्यक्ति की सवेदन-शीलता, सौन्दर्य-स्पृहा, जीवन की लालसा, कुतूहलमयी जिज्ञासा, प्रकृति के प्रति आत्मीयता और अपने व्यक्तित्व के प्रति आकर्षण का नवीन द्वार खोल दिया था। व्यक्ति के भीतर, जीवन के वृहत्तर विस्तार से सम्पर्क स्थापित कर नवीन विधि-निषेधों की चेतना आँख खोल रही थी। समाज के भीतर व्याप्त यह नव-निर्माण की कसमसाहट इस युग की कलात्मक अभिव्यक्तियों में मुखर हुई है। अपने गुण-दोष और सीमा

एवं विस्तार को लेकर, ये प्रवृत्तियाँ अपनी सगती सामाजिक परिस्थिति के साथ पूर्णतः सम्बद्ध हैं और इनका योग समाज की प्रगति की दिशा में ही है, विकृति की नहीं। सांस्कृतिक दृष्टि की उपेक्षा कर, विचार करनेवाला ही इस सत्य से इनकार कर सकता है।

छायावाद के इस विस्तार ने प्रगतिवाद को भी प्रभावित किया है। आज यह कहने की आवश्यकता नहीं रह गयी है कि प्रतीवात्मक अभिव्यक्ति, लाक्षणिक लाघव और चित्रात्मकता की छायावादी देन, भाषा के क्षेत्र में प्रगतिवाद को विरासत में मिली है। 'अंचल' जी में जो शरीरी सौन्दर्य, रूप लालसा, प्रेम-तृषा और प्रज्वलित अवसाद के स्वर आये हैं, वे तत्कालीन व्यक्ति-कुठाओं और छायावादी विद्रोह की उग्रतर ध्वनियाँ ही हैं। 'अंचल' की लौकिकता भौतिकता छायावादी मानववाद का ही एक दूर-गत छोर है। 'मधूलिका', 'अपराजिता', 'लाल चूनर' और 'वर्षान्त के बादल' के कितने ही गीतात्मक प्रयास स्पष्टतः छायावादी रोमाचकता और कल्पनाशीलता की उपज हैं। कुछ पंक्तियाँ उदाहरणार्थ पर्याप्त होगी—

"आज की रजनी बडी लोलुप जलन से तप्त लथ-पथ,
आज निद्रा भी न आती कौन अन्तर है रहा मथ।
आज से जीवन-मरण में रह गया कोई न अपना,
आज तो बस प्राण ले लेगा भयंकर रूप-सपना।"

ऊपर की प्रज्वलन-शीलता अवश्य ही छायावादी सवेदनशीलता से उग्रतर है, पर कथ्य और उपादान एक ही परिवेश स लिये गये हैं। निम्नपंक्तियों मे आये प्रतीकात्मक प्रयोग एक दम छायावादी हैं—कथ्य भी छायावादी और अभिव्यक्ति भी। स्वानुभूति की प्रखरता भी स्पष्ट है—

"उर मे आग, नयन में पानी, होठों में मुस्कान सजा,
हम हँसते इठलाते चलते, इतरा इतरा बल खा-खा।
अपनी तरणी फेंक प्रलय की लहरों मे खुल खेलें हम;
आज भाग्य के उल्कापातों को हँस-हँसकर झेलें हम।"

—['मधूलिका']

पद्धति वही है; कुछ, शब्दों की प्रकृति और उनके प्रयोगों में अन्तर अवश्य है। जिस प्रकार व्यक्ति-परक होकर भी छायावादी कविताओं में एक उदात्तीकरण और भावों में उन्नयन एव परिमार्जन की रुचि दिखाई पडती है, उसी प्रकार उनकी भाषा में भी एक कोमलता और शालीनता की दीप्ति है। 'अचल' के भाव तीव्र, उग्र और प्रभंजनवत् होते हैं, अतएव उनकी अभिव्यक्ति की

प्रेमी भी कृष्णचन्द्र से न्यारा न था—

"मैं राधा बन गयी, न था वह
कृष्णचन्द्र से न्यारा।"

बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' की व्रजभाषा की कविताओं में आयी भाषा की लाक्षणिक सज्जा, अप्रस्तुतों की उपचार-वक्रता और आन्तरिकता भी 'छाया'-प्रवृत्तियों की जन्मदायिनी तत्कालीन परिस्थितियों की छाप का प्रमाण है। 'रत्नाकर' जी की चित्रात्मकता भी लक्षणीय है—

"पानी आज सकल सँवारयो काज बानी ह्वै।"

—['उद्धव-शतक']

"आँसु ह्वै बहन लागी बात अँखियानि तैं।"

—['उद्धव-शतक']

'मानवीकरण' की छटा भी दर्शनीय है—

"सुधि व्रजवासिनि दिवैया सुख-रासिनि की
ऊधव नित हमको बुलावन कौं आवतीं।"

—[वही]

अलकार-निर्वाह की सतर्कता को छूट देकर देखा जा सकता है कि गोपियाँ अपनी पीड़ा में ही वसन्त और वर्षा की अनुभूति करती हैं! 'रत्नाकर' जी का लाक्षणिक वैभव निस्सन्देह छायावादी परिवेश से ही प्रतिकृत है। वस्तुत. 'रत्नाकर' जी की भाषा-शैली और उनकी गोपियों तथा उनसे पूर्व के व्रजभाषा कवियों की भाषाभिव्यक्ति एव गोपियों में जो अन्तर है, वह समाज के जीवन मे व्याप्त इसी छायावादी परिवेश का अन्तर है। 'रत्नाकर' जी की गोपियों की नागरिकता, व्यक्तित्व-पोषण और अनुभूतिशीलता इसी युग के वातावरण में व्याप्त 'छाया'-प्रभाव है। पं० सोहनलाल द्विवेदी की इतिवृत्तात्मक अभिधेयता में भी, 'कुणाल' और 'वासवदत्ता' जैसी रचनाओं में छायावादी कल्पना और अप्रस्तुतों ने विशिष्ट योग दिया है।

वस्तुत समाज में अधिकाधिक नव-शिक्षा-प्रसार और अपनी रूढि-शृखलाओं के प्रति बढ़ते प्रवृद्धमान विद्रोह ने व्यक्ति की सवेदन-शीलता, सौन्दर्य-स्पृहा, जीवन की लालसा, कुतूहलमयी जिज्ञासा, प्रकृति के प्रति आत्मीयता और अपने व्यक्तित्व के प्रति आकर्षण का नवीन द्वार खोल दिया था। व्यक्ति के भीतर, जीवन के वृहत्तर विस्तार से सम्पर्क स्थापित कर नवीन विधि-निषेधों की चेतना आँख खोल रही थी। समाज के भीतर व्याप्त यह नव-निर्माण की कसमसाहट इस युग की कलात्मक अभिव्यक्तियों में मुखर हुई है। अपने गुण-दोष और सीमा

आँखों का नशा उतरता है,
झरना अब झर-झर झरता है;
उद्भ्रान्त भाव यह उमड़ पड़ा, आश्वासन मुझे अखरता है।"

'बिंदिया' कविता छायावादी अप्रस्तुत-विधान का सुन्दर उदाहरण और कल्पना-शीलता का उज्ज्वल प्रमाण है—

"मेरी वेदना व्यथा की रंजित आरक्त कहानी—
आँसू में घुलमिल रानी, बिंदिया बनगयी सयानी!"

छायावादी कवियों द्वारा प्रवर्तित मानववाद, हृदय-वाद (अनुभूति-वाद) और जीवन-वाद निरन्तर सूक्ष्म-कल्पना, आदर्श-भावुकता और अशरीरी सौन्दर्य के धुँधलेपन से स्पष्टता, मानवीयता और लौकिकता की ओर बढ़ा है। विकास का यह क्रम 'प्रसाद', 'निराला', 'पन्त', महादेवी, भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, नरेन्द्रशर्मा, नेपाली, अञ्चल, शम्भूनाथ सिंह, जानकीवल्लभ शास्त्री, हंसकुमार, भारती, महेन्द्र, साही, अरुण, किशोर, रमानाथ, गिरिधर, रवीन्द्र, भ्रमर, केदार सिंह आदि की कविताओं में देखा जा सकता है। 'प्रगति' और 'प्रयोग' उसी जीवन-मुखी काव्यधारा की दो शाखाएँ हैं और सहजतामय भावोग्म मानववादी गीत-धारा उसका वास्तविक प्रतिनिधि। सैद्धान्तिक रूढ़िवादिता के बावजूद 'प्रगतिवाद' ने इस धारा के 'श्रेय'-तत्त्व को लेकर ही अपने ढंग से मानव का मस्तक विजय चंदन से चर्चित करना चाहा है और 'प्रयोग' ने परिस्थितियों के नव्यतर विकासों को नवीन आकलन और अभिव्यक्ति देकर सन्तुलन की स्थापना करनी चाही है। छायावादी व्यक्ति के भीतर की वेदना से आगे यह कवि 'अहं' को अपना 'पिता' और 'वेदना' को अपनी 'माता' समझता है। 'अस्तित्व-वाद' के सहारे आयी मान्यता वैयक्तिकता को दार्शनिक भूमिका दे रही है। वह बावरा अहेरी नवीन लक्ष्यों का संधान करने निकल पड़ा है—अपनी पीड़ा, तपन और आत्मविश्वास के संबल पर।

'छायावाद की मान्यताएँ और गृहीत माध्यम केवल उस परिवृत्त के भीतर 'फैशन' या प्रचलन बनकर ही नहीं रह गये। इन प्रवृत्तियों का मूल, तत्कालीन समाज की वस्तु-भूमि में है। यह काव्य-प्रसार यहाँ के जीवन और सांस्कृतिक परिवेश से विच्छिन्न वंग-अनुकरण रवीन्द्र-प्रभाव या पाश्चात्य-अनुकरण-वृत्ति नहीं है। ये उपकरण अनुकूल होकर सहायक भले बन गये हों, पर ये ही मूल उपजीव्य नहीं कहे जा सकते। ऐसा कहना सांस्कृतिक विकास और संस्कृति के परिस्थिति-सम्बन्ध के महासत्य को झुठलाना होगा। साहित्य भी एक सांस्कृतिक

एक दिन कवि आषाढ़ की रिमझिम में धनखेतों की ओर भी मचला था। 'वन फूलों की ओर' कविता [पृ० ३१] में वन-फूल जीवन की सहजता, सरलता और ग्रामीणता का प्रतीक है। कवि नागरिक वातावरण को छोड़कर बन-तुलसी की गंध, खेतों की संध्या श्याम-परी और चौपालों की ओर से निमंत्रण पा रहा है—

> "आज यह राज वाटिका छोड़
> चलो कवि बन-फूलों की ओर।"
> —['हुँकार' पृ० २९]

'फूलों का पूर्वजन्म' कविता ['हुँकार', पृ० ५९] की भोली एवं कान्त कल्पना छाया-मयी है। ये फूल और कली आदि उस जन्म के स्त्री-बालिका आदि थे। कवि की भावुकता में आया कल्पना-कैशोर लक्षणीय है। 'रसवन्ती' के गीत 'दिनकर' के अन्तर के उच्छ्वास हैं। वे 'अगेय' स्वप्न के श्रोता भी रहे हैं।

पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की उदग्र राष्ट्रीयता और क्रान्तिकारिता भी अपने अगरग के कोमल वैयक्तिक कोण की चिकनाई नहीं भूल पायी है। कवि साकी से कहता है—

> "साकी मन घन गन घिर आये उमड़ी श्याम मेघमाला।
> अब कैसा विलम्ब तू भी भर भर ला गहरी गुल्लाला।"

'नवीन' जी की रचना में आया दुःख निराशा, व्याकुलता और उन्मादकता का तत्त्व उनके पीड़ित व्यक्ति की स्वानुभूति की ही प्रतिध्वनि है। कवि अपने प्राणों की पुतली से कहता है।

> "ओ मेरे प्राणों की पुतली,
> आज जरा कुछ कह लेने दो।
> सिर्फ आज भर ही कहने दो,
> यह प्रवाह कुछ तो वहने दो,
> संयम! मेरी प्राण जरा तो
> आज असंयम मे वहने दो!
> मौन-भार से दवे हृदय को कुछ मुखरित सुख सह लेने दो।
> आज जरा कुछ कह लेने दो!"

रो लेने से भार हलका हो, अतएव—

> "टुक रो लेने दो जरा देर, क्यों छेड़ रहे हो वेर-वेर।

स्वच्छन्दता-वाद : छायावाद

'स्वच्छन्दतावाद' आचार्य 'शुक्ल' जी द्वारा अंगरेजी 'रोमांटिमिज्म' के लिए दिया गया हिन्दी-पर्याय है। 'क्लासिसिज़्म' और 'रोमाटिसिज्म', ये दो अंगरेजी के पारिभाषिक शब्द हैं जिन पर विचार हो रहा है, किन्तु अभी तक कोई निश्चित और सर्व-मान्य परिभाषा नहीं बन पायी है। अनेकानेक विद्वानों ने बृहद् ग्रंथों में प्रलम्ब विचार-विमर्श प्रस्तुत किया है। कोई 'रोमाटिमिज्म' को 'क्लासिसिज़्म' का विरोधी मानते हैं और कोई 'रियलिज्म' का। संस्कृत-साहित्य में इस प्रकार का कोई विभाजन नहीं मिलता। अतएव हिन्दी के लिए भी ये पारिभाषिक नये ही हैं। इनकी तात्विकता से परिचित होने के लिए अंगरेजी में उपस्थित किये गये कुछ मतों एवं संक्षिप्त विचारों का उल्लेख कदाचित् अप्रासंगिक न होगा।

'रोमाटिसिज़्म' शब्द 'रोमांस' से बना है, जो श्री पियर्सल स्मिथ के अनुसार, 'मध्ययुग' में रोमन अथवा लैटिन के मूल ग्रन्थों के अनुवादों के लिए प्रयुक्त होता था। लैटिन से उद्भूत अपभ्रंश-भाषाओं के लिए भी 'रोमान्स' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार यह शब्द उन सब के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा जो तत्कालीन रीति-रिवाजों एवं सामाजिक प्रचलनों से भिन्न बाहरी या बाहर से आया हुआ, हो। बाद को यह शब्द उन सभी पुस्तकों के लिए भी प्रयोग में आने लगा जो लैटिन में न लिखी जाकर देशी भाषाओं में लिखित हों। क्रमशः यह शब्द वीरों की साहसिकता और संकट-पूर्ण कहानियों के लिए भी गृहीत हुआ। इस प्रकार 'रोमांस' शब्द की व्युत्पत्ति में 'किसी बाहर से आयी हुई वस्तु' का भाव अथवा 'आयात-व्यापार' मूलतया निहित है। इन्हों ने श्री स्टाडर्ट भी 'रोमांस' से किसी ऐसे वस्तु का भाव लेते हैं जो 'स्थानान्तरित' या 'बहिरागत' हो। वे इस सुदूर से आने की विशेषता के साथ इतना और जोड़ देते हैं कि यह वस्तु जिस समाज और जीवन से उद्भूत होती है, वह ग्रहण-कर्ता समाज से उघारतर एवं पूर्णतर होता है। इसीलिए इसके साथ अपरिचितता, सुदूरता और दुर्लभता का भाव भी सम्बद्ध होता है। रोमांस के नाम पर आयी हुई उस वस्तु को तत्कालीन समाज के लोग अपने लिए सुदुर्लभ, आशातीत एवं सुदूर समझते हैं।

आकलन है, इसलिए कोई जीवित और प्रभावशाली साहित्य-कोण आकाश-वेलि नहीं होगा।

छायावाद जीवन की वास्तविक, सामाजिक एवं व्यक्तिगत परिस्थितियों की जीवन-कामी उपज है। उसमें मृत्यु नहीं जीवन, विकृति नहीं प्रगति, जडता नहीं गति-शीलता, पतन नहीं उन्नयन की पुकार है—आत्म-विस्तार, सौंदर्य-प्रेम, मानवता, नैसर्गिकता एव अनुभूति-शीलता की शक्ति है। उसके आदर्श यथार्थ पर पुनर्व्यवस्थित हुए हैं और स्वप्न सत्य के पूर्व-चरण हैं। इन कवियों की कल्पनाओं में विकृतियों को धोने की उत्कट लालसा है। एक साथ ही 'छाया'-युग में महत्ता, उज्ज्वलता, विशालता और सुन्दरता के जो सपने देखे हैं, उन्हें पूरा करने में हमारी जातीय चेतना को कई दशक लगेंगे। सपनों का देखना सर्वथा व्यर्थ नहीं होता, ये ही सपने हमारे चेतन-अवचेतन के स्तरों से उग-बढकर स-फल बनते हैं। छायावाद ने युग-मन के जालों को झाडकर उनमें नवीन सपनों को सजाया। मन का यह आलोक आशा-निराशा, जय-पराजय और गति पलायन के शत-शत द्वारों से फूटकर जगमगा उठा है। प्रगति के सच्चे चरण दुर्बलताओं से सँभल कर स्वस्थता को अपनावेंगे, यही श्रेय का सच्चा पथ होगा।

छायावाद ने बृहत्तर होकर अनेक रूपों में प्राचीन और नवीन धाराओं को प्रभावित किया है। छायावाद के तत्कालीन जीवन-सम्बन्ध और शक्तिमत्ता को समझने के लिए हमें उस बृहत्तर परिवेश की छानबीन करनी ही होगी, जिसमें फैलकर उसने नवीन रूपों और प्रेरणाओं के प्रतिफलन परिणमन में निश्चित योग दिया है। इसी के द्योतन में यहाँ 'बृहत्तर छायावाद' शब्द का प्रयोग हुआ है।

स्वच्छन्दता-वाद : छायावाद

'स्वच्छन्दतावाद' आचार्य 'शुक्ल' जी द्वारा अंगरेजी 'रोमांटिसिज्म' के लिए दिया गया हिन्दी-पर्याय है। 'क्लासिसिज्म' और 'रोमांटिसिज्म', ये दो अंगरेजी के पारिभाषिक शब्द हैं जिन पर विचार हो रहा है, किन्तु अभी तक कोई निश्चित और सर्व-मान्य परिभाषा नहीं बन पायी है। अनेकानेक विद्वानों ने वृहद् ग्रंथों में प्रलम्ब विचार-विमर्श प्रस्तुत किया है। कोई 'रोमांटिसिज़्म' को 'क्लासिसिज्म' का विरोधी मानते हैं और कोई 'रियलिज्म' का। संस्कृत-साहित्य में इस प्रकार का कोई विभाजन नहीं मिलता। अतएव हिन्दी के लिए भी ये पारिभाषिक नये ही हैं। इनकी तात्विकता से परिचित होने के लिए अंगरेजी में उपस्थित किये गये कुछ मतों एवं संक्षिप्त विचारों का उल्लेख कदाचित् अप्रासंगिक न होगा।

'रोमांटिसिज्म' शब्द 'रोमांस' से बना है, जो श्री पियर्सल स्मिथ के अनुसार, 'मध्ययुग' में रोमन अथवा लैटिन के मूल ग्रन्थों के अनुवादों के लिए प्रयुक्त होता था। लैटिन से उद्भूत अपभ्रंश-भाषाओं के लिए भी 'रोमान्स' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार यह शब्द उन सब के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा जो तत्कालीन रीति रिवाजों एवं सामाजिक प्रचलनों से भिन्न बाहरी या बाहर से आया हुआ, हो। बाद को यह शब्द उन सभी पुस्तकों के लिए भी प्रयोग में आने लगा जो लैटिन में न लिखी जाकर देशी भाषाओं में लिखित हों। क्रमशः यह शब्द वीरों की साहसिकता और संकट-पूर्ण कहानियों के लिए भी गृहीत हुआ। इस प्रकार 'रोमांस' शब्द की व्युत्पत्ति में 'किसी बाहर से आयी हुई वस्तु' का भाव अथवा 'आयात-व्यापार' मूलतया निहित है। इसी से श्री स्टाडर्ट भी 'रोमांस' से किसी ऐसे वस्तु का भाव लेते हैं जो 'स्थानान्तरित' या 'बहिरागत' हो। वे इस सुदूर से आने की विशेषता के साथ इतना और जोड़ देते हैं कि यह वस्तु जिस समाज और जीवन से उद्भूत होती है, वह ग्रहण-कर्ता समाज से उच्चतर एवं पूर्णतर होता है। इसीलिए इसके साथ अद्भुतता, मृदुता और दुर्लभता का भाव भी सम्बद्ध होता है। रोमांस के नाम पर आयी हुई उस वस्तु को तत्कालीन समाज के लोग अपने लिए सुदुर्लभ, आशातीत एवं सुदूर समझते हैं।

इस प्रकार जब 'रोमांस' के अन्तर्गत आने वाली सामग्री की बहुत-कुछ परीक्षा हो चुकती है और उसकी कुछ सामान्य विशेषताओं का निर्धारण हो चुकता है, तब 'रोमांटिक' शब्द का प्रयोग प्रारम्भ होता है। व्यवस्था, विवेक और बौद्धिकता के विकास के साथ-साथ धीरे-धीरे 'रोमांटिक' शब्द का प्रयोग 'असत्य', 'अवास्तविक' और 'कल्पित' के अर्थ में होने लगा और इसके वृत्त में अति-प्राकृतिक शक्तियाँ मानवेतर भूत, देव, जादूगर, ऐय्यार आदि, सभी कुछ समाविष्ट कर दिए गये। अव्यावहारिकता, असम्भवता, प्रेम और सम्मान के अतिरंजित संवेग आदि इसमें अन्तर्भूत माने जाने लगे।

अठारहवीं शताब्दी की समाप्ति के आस-पास पियर्सल स्मिथ के अनुसार, इस शब्द का बड़ा हीन अर्थ लगाया जाने लगा था। जो कुछ भी बाल-सुलभ, हास्यास्पद विकल्पित, अविश्वसनीय, अनावश्यक, अनुपयोगी और अनियंत्रित हो, वह सब इसके परिवृत्त में डाल दिया गया। विवेक और बुद्धिवाद के विकास के साथ पोप जैसे कवियों का बोलबाला हुआ।

'रोमानी पुनर्जागरण' के उषा-काल में इस शब्द के साथ नये काननों एवं नवीन पशुचर-भूमियों ('फ्रेश उड्स ऐंड पास्चर्स निउ') का अनुषंग सम्बद्ध होने लगा। 'रोमांटिक' का अर्थ ऐसी वस्तुओं से लिया जाने लगा जिन में बहुत उपयोगिता और सार्थकता भले ही न हो, पर जिनमें कल्पनाओं को मुग्ध करने की शक्ति अवश्य हो। इस प्रकार अब इस के साथ काल्पनिक सौन्दर्य और उनकी तुष्टि का भाव जुड गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के साथ इस शब्द का अर्थविस्तार बढ़ने लगा। अब 'रोमांटिक' का अर्थ लिया जाने लगा एक 'विशेष अनुभूति-प्रणाली', भावों को रूपायित करने का एक विशिष्ट ढंग। रस्किन ने स्पष्ट रूप से कहा कि यह सम्भव नहीं, उच्च प्रतिभा पर सदा शास्त्रीय (क्लासिकल) चेतना का ही अधिकार रहे।

साधारणतः लोग 'रोमांटिक' शब्द को सामान्य, अति-प्रचलित और समय-जीर्ण घिसी-पिटी वस्तु की विशेषताओं का विरोधी मानते हैं। इस प्रकार रोमांटिक वह है जो सामान्य से विशेष, निकट से सुदूर, निर्जीव आत्म-सन्तुष्टि से भावावेग पूर्ण महत्वाकांक्षाओं की ओर चलनेवाला हो, जिसे असाधारण और असामान्य के प्रति तीव्र राग हो, जो संकटों से जूझने और बाधाओं को चीडने को प्रस्तुत हो। अप्राप्त और सुदूर से प्रेम होने के कारण इस रागावेग में अस्पष्टता और अनिश्चितता भी होगी।

इसकी दूसरी विशेषता सम्भावितावस्था के विरुद्ध, अपने अभीष्ट की कल्पना में रमण माना गया है। 'रोमांटिक' इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होता कि अमुक अभीष्ट की प्राप्ति सम्भावित है। वह उस अभीष्ट के प्रति, अपनी कल्पना-शक्ति से तादात्म्य की अनुभूति का प्रेमी होता है, अतएव उसकी कल्पना को अपनी आकांक्षाओं की रम्य स्थली में विहार करना अत्यन्त रुचिकर प्रतीत होता है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि 'रोमांटिक' 'इतिवृत्त' से कभी भी सन्तुष्ट नहीं रहता। वह प्रतीकात्मकता का प्रेमी होता है और उसके प्रतीकों के वास्तविक अर्थों की उपलब्धि उन्हीं को हो सकती है जिनमें विशिष्ट आत्म-शक्ति होती है, जो उद्दीप्त होकर उन्हें उन उच्च आशयों का भावन और रंजन करा देती है। रोमांटिक अपने शुष्क विषयों का आदर्शीकरण देता है। 'रोमांटिसिज़्म' का यह पक्ष रहस्यवाद और प्रतीक-वाद से सम्बद्ध है।

'रोमांटिक' शास्त्रीयविधानों, औपलाक्षणिक मान्यताओं (कन्वेंशनाल धारणाओं) एवं परंपरा-भुक्त पद्धतियों का भी विरोधी देखा जाता है। वह सिंह की भाँति लीक छोड़कर चलने वाला सपूत होता है। उसे बन्धन, नियम और जीर्ण विधान प्रिय नहीं। इस लिए 'रोमांटिसिज़्म' और 'क्लासिसिज़्म' के बीच भी बड़े-बड़े तनावों और विरोधों की उद्भावना की गयी है। १८ वीं शती का अवसान-काल द्वन्द्व का प्रारम्भ है।

श्री हीने का कहना है कि ग्रीस और रोम के आदर्शों पर चलनेवाला काव्य 'क्लासिकल' और 'मध्य-युग' का वह काव्य जो इससे भिन्न है, 'रोमांटिक' कहा जाना चाहिए। किन्तु यह विभाजन ठीक नहीं जँचता। विषयों और कुछ स्थूल तथ्यों के आधार पर किया जानेवाला वर्गीकरण अवैज्ञानिक होगा। इसके लिए विद्वानों ने कुछ विशिष्टताएँ ढूँढ निकाली हैं। उनका कहना है कि दोनों के मनोकोण, प्रवृत्ति, विचार-प्रणाली, अनुभव-रीति और शैली में अन्तर होता है। उनके अनुसार 'क्लासिकल' कवि की प्रतिभा स्पष्टता, सुबोधता, संयम, रूप की अन्विति और अंगों के आनुपातिक सम्बन्धों के पालन में अभिरुचि रखती है। अतएव सुस्पष्टता, नियमानुसरण, रचना-सामञ्जस्य, साधनों के उपयोग में यथासाध्य मितव्ययिता और वर्णन-विवरणों की निर्दिष्टता एक 'क्लासिकल' प्रतिभा के लक्षण होंगे। श्री स्टोंडर्ड के अनुसार एक 'क्लासिकल' कृति की रचना में एक निश्चित आंगिक अनुपात, प्रेरणा और रूप-व्यवस्था के नियम का सावधानी से पालन किया जाता है। ऐसी कृति किसी पूर्व-निर्धारित नियमावली, रूप-तंत्र या उद्देश्य को मानकर चलती है। उसके

पीछे सामंजस्य, औचित्य, सुष्ठुना, आन्तरिक तत्वों का निश्चित अनुपात और पूर्व-मान्य आदर्श होता है। अनुशासन, सन्तुलन, निश्चित विन्यास के सिद्धान्त उसके मार्ग-दर्शक होते हैं। दूसरे शब्दों में, उसे पुरातन-वादी भी कह सकते हैं। स्टॉवर्ड महोदय के अनुसार "रोमाटिसिज्म की आधारभूत धारणा स्वीकार नहीं, अस्वीकार है। यह यथातथ्यता को छोडकर प्रतीकात्मकता को अपनाता है। यह दृश्य से अदृश्य, प्रकट से सूक्ष्म विचारों के प्रतीकों की ओर जाता है। यह शास्त्र-नियमों के विरुद्ध असन्तोष से उत्पन्न होता है, यह परम्परा प्राप्त नियमों के शासन को अस्वीकार कर नये नियमो की खोज करता है। इसीलिए 'क्लासिसिस्ट' को 'रोमाटिक' में आनुपातिक सम्बन्ध, सामजस्य और सजाव की कमी दिखलाई पडती है। 'क्लासिसिज्म' परिमार्जित एवं अनुसारित मार्ग के स्वीकार की स्थिति है और 'रोमाटिसिज्म' अ शासित साझा।" यहा रोमाटिसिज्म की 'नवीन' की खोज की प्रवृत्ति की ओर सकेत किया गया है।

श्लीगल महोदय 'क्लासिकल' की तुलना मूर्ति और 'रोमाटिक' की चित्र से करते हैं। ग्रीक मूत्ति की भाँति कोई अपूर्णता नहीं होती, न उसमें और कुछ पाने की सम्भावना हा शेष रह जाती है। जो कुछ उसमें अभिव्यक्त होता है उसके अतिरिक्त कुछ सकेत नहीं होता। यह ज्ञानेन्द्रियों को तृप्त करने के बाद कल्पना के लिए कुछ भी नहीं छोडता। यह शुद्ध, सयत, सुविभाजित और दिन के प्रकाश सा स्पष्ट होता है। यहाँ कवि के कृतीत्व से आगे कुछ भी अवशेष नहीं। इसके विपरीत 'रोमाटिसिज्म' की कला में यह समग्रता अत्यन्त विरल होती है। लगता है, जैसे कलाकार कुछ रुक कर सोचता है, फिर तूलिका चलाता है, किन्तु उसका आदर्श, जैसे अभी भी पूरा-पूरा पकड में न आया हो। चित्रकार की भाषा में ये छाया और रगों का प्रयोग करते हैं, रेखाओं का नहीं। यहाँ श्लीगल ने रोमानी काव्य की प्रतीकात्मकता, व्यजनात्मकता एव सवेग-सफूर्त्तता की ओर इंगित किया है, जब कि रोमानी कवि सब कुछ कह कर भी, अनुभव करता है, जैसे अभी पूरा पूरा न कह पाया हो!

'क्लासिकल' कवि अपने कथ्य को हस्तामलकवत् सामने रख देता है। उसका कथन पूर्ण निरावरण होता है, उसमें अस्पष्टता के लिए स्थान नहीं होता। वह अपनी बात को खुली धूप में रख देता है और उसकी बात बिना किसी अन्य सहारे के अपना पूर्ण प्रभाव डालती है। 'रोमाटिक कवि का कथ्य एक रगीन प्रकाश में प्रस्तुत किया गया लगता है। मुख्य भाव के साथ सहायक रूप मे और भी सह-भाव होते हैं, कभी-कभी प्रभाव को गम्भीर करते करते वे उस मुख्य भाव को भी धुँधलाकर देते हैं। प्रथम का स्वभाव सवेग-शील, दूसरे का सयमी,

पहले का उत्साही तथा दूसरे का शान्त होता है। पहले की शैली में स्पष्टता के साथ विषयों की ग्रहण-शक्ति तथा औचित्य के साथ प्रस्तुत करने की विशेषता प्रमुख होती है, दूसरे में भावों के प्रकाश की जगमगाहट और सम्पन्न व्यंजना का जादू विद्यमान होता है।

वाल्टर पीटर महोदय सौन्दर्य को सभी कलाओं की विशेषता घोषित करते हुए, 'क्लासिकल' की तुलना उस सुनी कहानी से करते हैं, जिसके द्रव्य में नहीं, उसकी कथन-शैली में रोचकता होती है। 'रोमांटिक' सौन्दर्य के साथ अपरिचय अथवा विचित्रता का मिश्रण कर देता है। रोमानी स्वभाव में सौन्दर्येच्छा के साथ अतृप्त जिज्ञासा और कुतूहल के भाव का भी योग होता है। यहाँ कुतूहल-तत्त्व की ओर इंगित किया गया है। इस सौन्दर्य की छाया में हम प्रशान्त होकर निकट परिचय का अनुभव नहीं करते, वरन् उसके प्रति एक कुतूहल, अनोखेपन और वैचित्र्य का अनुषंग जुड़ा होता है।

डा० स्टैंडाल महोदय का सिद्धान्त एक दम नया और अपना है। उनका कथन है कि हर सुन्दर साहित्य अपने समय में 'रोमांटिक' होता है। राष्ट्र के सम्मुख किसी भी कृति को प्रस्तुत करने की वह कला 'रोमांटिक' कही जानी चाहिए जिसमें वह कृति अपने निजी गुणों और मानों से लोगों को अधिकाधिक आनन्द दे सके। वही वस्तु आगे आने वाली पीढ़ी के लिए 'क्लासिकल' बन जाती है। आज हमें जो क्लासिकल लग रही हैं, वे हमारी पूर्व पीढ़ी को पूर्ण आनन्द-दान कर चुकी हैं। इस प्रकार इनके मत से रोमांटिसिज्म प्रगति, मुक्ति, मौलिकता और भविष्य की चेतना का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि 'क्लासिसिज़्म' पुरातनवादिता, प्रामाणिकता, अनुकृति एवं अतीत की चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। अतः हर 'रोमांटिक' काव्य 'क्लासिकल' का पूर्व-रूप और हर 'क्लासिकल' 'रोमांटिक' काव्य का परिपक्व रूप होता है।

अतएव यह निश्चित लगता है कि दोनों का विभेद विषय अथवा वर्ण्य-वस्तु का नहीं, प्रस्तुत करने के ढङ्ग और शैली का है। लवरक्राम्बी महोदय भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दोनों कोई विशिष्ट और परस्पर भिन्न तत्त्व नहीं हैं। कविता के तत्त्व तो वे ही हैं, जो प्रत्येक सच्ची और उच्च कविता में एक ही होते हैं। यह भेद तत्त्वों का नहीं, तत्त्वों के संयोग की पद्धति का है—ये तत्त्व किस ढंग से परस्पर मिलाये गये हैं। इसलिए उन्होंने कहा—"(यह अर्थात्) क्लासिसिज़्म् कला की स्वस्थावस्था है, जहाँ सभी तत्त्वों का उचित अनुपात प्राप्त होता है। 'क्लासिसिज़्म' कोई स्वतंत्र काव्य-तत्त्व नहीं। तत्त्व तो वे ही हैं, पर 'क्लासिसिज़्म' में वे एक सामञ्जस्य-पूर्ण सन्तुलन प्राप्त करते हैं। तत्त्वों

पीछे सामंजस्य, औचित्य, सुष्ठुना, आन्तरिक तत्वों का निश्चित अनुपात और पूर्व-मान्य आदर्श होता है। अनुशासन, सन्तुलन, निश्चित विन्यास के सिद्धान्त उसके मार्ग-दर्शक होते हैं। दूसरे शब्दों में, उसे पुरातन-वादी भी कह सकते हैं। स्टॉडर्ड महोदय के अनुसार "रोमांटिसिज्म की आधारभूत धारणा स्वीकार नहीं, अस्वीकार है। यह यथातथ्यता को छोडकर प्रतीकात्मकता को अपनाता है। यह दृश्य से अदृश्य, प्रकट से सूक्ष्म विचारों के प्रतीकों की ओर जाता है। यह शास्त्र-नियमों के विरुद्ध असन्तोष से उत्पन्न होता है, यह परम्परा प्राप्त नियमों के शासन को अस्वीकार कर नये नियमों की खोज करता है। इसीलिए 'क्लासिसिस्ट' को 'रोमाटिक' में आनुपातिक सम्बन्ध, सामजस्य और सजाव की कमी दिखलाई पड़ती है। 'क्लासिसिज्म' परिमार्जित एवं अनुसारित मार्ग के स्वीकार की स्थिति है और 'रोमाटिसिज्म' अ शासित आज्ञा।" यहा रोमाटिसिज्म की 'नवीन' की खोज की प्रवृत्ति की ओर सकेत किया गया है।

श्लीगल महोदय 'क्लासिकल' की तुलना मूर्ति और 'रोमाटिक' की चित्र से करते हैं। ग्रीक मूर्त्ति की भाँति कोई अपूर्णता नहीं होती, न उसमें और कुछ पाने की सम्भावना ही शेष रह जाती है। जो कुछ उसमें अभिव्यक्त होता है उसके अतिरिक्त कुछ सकेत नहीं होता। यह ज्ञानेन्द्रियों को तृप्त करने के बाद कल्पना के लिए कुछ भी नहीं छोडता। यह शुद्ध, सयत, सुविभाजित और दिन के प्रकाश सा स्पष्ट होता है। यहाँ कवि के कृतीत्व से आगे कुछ भी अवशेष नहीं। इसके विपरीत 'रोमाटिसिज्म' की कला में यह समग्रता अत्यन्त विरल होती है। लगता है, जैसे कलाकार कुछ रुक कर सोचता है, फिर तूलिका चलाता है, किन्तु उसका आदर्श, जैसे अभी भी पूरा-पूरा पकड में न आया हो। चित्रकार की भाषा में ये छाया और रगों का प्रयोग करते हैं, रेखाओं का नहीं। यहाँ श्लीगल ने रोमानी काव्य की प्रतीकात्मकता, व्यजनात्मकता एवं सवेग-सफूर्त्तता की ओर इंगित किया है, जब कि रोमानी कवि सब कुछ कह कर भी, अनुभव करता है, जैसे अभी पूरा पूरा न कह पाया हो!

'क्लासिकल' कवि अपने कथ्य को हस्तामलकवत् सामने रख देता है। उसका कथन पूर्ण निरावरण होता है, उसमें अस्पष्टता के लिए स्थान नहीं होता। वह अपनी बात को खुली धूप में रख देता है और उसकी बात बिना किसी अन्य सहारे के अपना पूर्ण प्रभाव डालती है। 'रोमाटिक कवि का कथ्य एक रगीन प्रकाश में प्रस्तुत किया गया लगता है। मुख्य भाव के साथ सहायक रूप मे और भी सह-भाव होते हैं, कभी-कभी प्रभाव को गम्भीर करते करते वे उस मुख्य भाव को भी धुँधलाकर देते हैं। प्रथम का स्वभाव सवेग-शील, दूसरे का सयमी,

पहले का उत्साही तथा दूसरे का शान्त होता है। पहले की शैली में स्पष्टता के साथ विषयों की ग्रहण-शक्ति तथा औचित्य के साथ प्रस्तुत करने की विशेषता प्रमुख होती है, दूसरे में भावों के प्रकाश की जगमगाहट और सम्पन्न व्यंजना का जादू विद्यमान होता है।

वाल्टर पीटर महोदय सौन्दर्य को सभी कलाओं की विशेषता घोषित करते हुए, 'क्लासिकल' की तुलना उस सुनी कहानी से करते हैं, जिसके द्रव्य में नहीं, उसकी कथन-शैली मे रोचकता होती है। 'रोमांटिक' सौन्दर्य के साथ अपरिचय अथवा विचित्रता का मिश्रण कर देता है। रोमानी स्वभाव मे सौन्दर्येच्छा के साथ अतृप्त जिज्ञासा और कुतूहल के भाव का भी योग होता है। यहाँ कुतूहल-तत्त्व की ओर इंगित किया गया है। इस सौन्दर्य की छाया में हम प्रशान्त होकर निकट परिचय का अनुभव नहीं करते, वरन् उसके प्रति एक कुतूहल, अनोखे-पन और वैचित्र्य का अनुषंग जुड़ा होता है।

डा० स्टैंढाल महोदय का सिद्धान्त एक दम नया और अपना है। उनका कथन है कि हर सुन्दर साहित्य अपने समय मे 'रोमांटिक' होता है। राष्ट्र के सम्मुख किसी भी कृति को प्रस्तुत करने की वह कला 'रोमांटिक' कही जानी चाहिए जिसमें वह कृति अपने निजी गुणों और मानों से लोगों को अधिकाधिक आनन्द दे सके। वही वस्तु आगे आने वाली पीढ़ी के लिए 'क्लासिकल' बन जाती है। आज हमें जो क्लासिकल लग रही हैं, वे हमारी पूर्व पीढ़ी को पूर्ण आनन्द-दान कर चुकी हैं। इस प्रकार इनके मत से रोमांटिसिज्म प्रगति, मुक्ति, मौलिकता और भविष्य की चेतना का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि 'क्लासिसिज़्म' पुरातनवादिता, प्रामाणिकता, अनुकृति एवं अतीत की चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। अतः हर 'रोमांटिक' काव्य 'क्लासिकल' का पूर्व-रूप और हर 'क्लासिकल' 'रोमांटिक' काव्य का परिपक्व रूप होता है।

अतएव यह निश्चित लगता है कि दोनों का विभेद विषय अथवा वर्ण्य-वस्तु का नहीं, प्रस्तुत करने के ढंग और शैली का है। अबरक्राम्बी महोदय भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि दोनों कोई विशिष्ट और परस्पर भिन्न तत्त्व नहीं हैं। कविता के तत्त्व तो वे ही हैं, जो प्रत्येक सच्ची और उच्च कविता में एक ही होते हैं। यह भेद तत्त्वों का नहीं, तत्त्वों के संयोग की पद्धति का है—ये तत्त्व किस ढंग से परस्पर मिलाये गये हैं। इसलिए उन्होंने कहा—"(वह अर्थात्) क्लासिसिज़्म कला की स्वस्थावस्था है, जहाँ सभी तत्त्वों का उचित अनुपात प्राप्त होता है। 'क्लासिसिज्म' कोई स्वतंत्र काव्य-तत्त्व नहीं। तत्त्व तो वे ही हैं, पर 'क्लासिसिज्म' में वे एक सामंजस्य-पूर्ण सन्तुलन प्राप्त करते हैं। तत्त्वों

का यही स्वस्थ सयोग और सामंजस्य "क्लासिसिज्म' है ।" अवरक्राम्बी महोदय 'क्लासिकल' के समर्थक हैं, अतएव उन्होंने उसे ही स्वस्थ कला माना है । इनके अनुसार 'रोमाटिक' कवि और 'क्लासिकल' कवि के काव्यों में पाये जाने वाले 'रोमाटिसिज्म' मे तात्त्विक अन्तर नहीं होता । अन्तर केवल संयोग के अनुपात का होता है । 'रोमाटिक' कवि के काव्य में इनमें से कोई भी तत्व, और सभों पर प्रमुख और हावी होता है और 'क्लासिकल' कवि के काव्य में सभी अन्तरस्थ तत्वों का परस्पर समन्वित अनुपात होता है—वे एक दूसरे के साथ एक सामञ्जस्य सूत्र में सम्बद्ध होते हैं । अवरक्राम्बी महोदय के अनुसार दोनों में केवल सन्तुलन का भेद होता है । वे विज्ञान के 'रासायनिक परिवर्तन' और 'मिश्रण' का उदाहरण देते हुए दोनों प्रवृत्तियों की मीलित दशा की सम्भावना का भी विवेचन करते हैं, कहाँ दोनों परस्पर मिलकर एक तीसरी नवीन विशेषता का सृजन करते दिखलाई पडती हैं, जहाँ उनकी उपस्थिति केवल विश्लेषण से ही ज्ञात हो पाती है । कहीं ये दोनों प्रवृत्तियाँ इस प्रकार एक साथ होती हैं कि वे एक दूसरे से अलग की जा सकती हैं । इसे उन्होंने क्रमशः सोफोक्लिस और शेक्सपियर के उदाहरणों से स्पष्ट किया है । वे 'रोमाटिसिज्म' का विरोध **यथार्थवाद** से मानते हैं ।

प्राय' वाद-विवाद की विशाल राशि में यह विस्मृत कर दिया जाता है कि वे एक दूसरे की पूरक हैं । जीवन और इतिहास में गतिरोध, स्थिरता और एक-स्वरता का बासीपन दूर करने लिए, दोनों के समानान्तर विकास और उनके आते-जाते रहने की अत्यन्त आवश्यकता है । ऐसा न होने से समाज जडीभूत हो जायगा । इतिहास के ये श्वास-प्रश्वास मानव-व्यक्तित्व के उभय भागों के संगती हैं । मानव व्यक्तित्व का एक भाग ठास व्यवस्था को अपनाता है, और दूसरा भाग 'गतिहीन' और 'स्थिर' के विरुद्ध प्रतिक्रियाशील होता है । किसी एक की एकागिता से जीवन विकृत हो जाता है, एक सजीव-सावयव-सम्बन्ध और गतिमत्ता के स्थान पर निष्प्राण यान्त्रिकता आ जाती है । हमारे विवेक एव विवेकेतर प्रवृत्तियों में निरन्तर गतिशील सन्तुलन आवश्यक होता है । नियम-विरोध और व्यवस्था का यही द्वन्द्व निरन्तर चलता रहता है । इस नियम से, एक के बाद आने वाले हर दूसरे युग का अवतरण अनिवार्य और एक ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति होता है ।

'रोमाटिसिज्म' कोई अधुनातन प्रवृत्ति मात्र नहीं है । इसके गति-चक्र में समस्त इतिहास समाविष्ट है । अवरक्राम्बी महोदय के मत से, इन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध युग-विशेष के साथ, अत्यन्त कठोरता के साथ नहीं बिठाया जा सकता ।

(जहाँ भी जडता की अनुभूति हुई, चेतना गति के लिए विद्रोह कर उठती है और जहाँ गति के अतिरेक से व्यवस्था भंग होने लगती, चेतना विश्राम की पुकार करती है।) इसका सम्बन्ध किसी काल या संस्कृति-विशेष जोडकर पुनस्स-भावना का द्वार सब दिन के लिए बन्दकर बैठना ठीक नहीं। 'इतिहास की यात्रा में ऐसी स्थितियाँ आई हैं, जब विचित्रता, अनोखापन और नवीनता की अपेक्षा लोक-प्रवृत्ति शास्त्रानुसरण, शान्ति और सुव्यवस्था से प्रेम, नियम और आदर्शों को मानने और परम्परागत मानों की स्वीकृति के प्रति रुचिशील होती है। इस प्रकार पेटर महोदय 'क्लासिसिज्म' और 'रोमांटिसिज़्म' को भिन्न साहित्य या साहित्यिक इतिहास के भिन्न युग नहीं मानते। (वे इन्हें प्रत्येक देशकाल में चलने वाली प्रतिसन्तुलनकारी (काउन्टर बैलेंसिंग) विशेषताएँ या प्रवृत्तियाँ मानते हैं, जो समानान्तर बहती रहती हैं और सबल या क्षीण रूप में ढूँढने और परखने पर सभी युगों में यत्किंचित मात्रा में मिल जायेंगी।)

प्रश्न हो सकता है, यदि 'रोमांटिसिज्म' का सम्बन्ध किन्हीं काल या देश-विशेष तक ही नहीं सीमित है, तो क्या वह किसी एक शैली से अविनाभाव सम्बद्ध है? ('रोमांटिक' कहे जानेवाले सभी कवियों में न विषय की समानता है और न शैली की ही। दो रोमानी कवियों के विषय, भाषा-प्रयोग और शैली में लक्षणीय अन्तर होता है, फिर किसी कवि की शैली को आदर्श रोमानी शैली मानी जाय? (विद्वानों का कहना है कि शैली के क्षेत्र में भी कोई जड विभाजक रेखा या निर्धारक इयत्ता नहीं बनायी जा सकती। इस प्रकार किसी प्रचलित शैली के विरुद्ध विद्रोह भी अनिवार्यतः 'रोमांटिक' नहीं कहा जायगा। कहा जाता है कि 'वर्डस्वर्थ' द्वारा की गयी विद्रोह की घोषणा में कोई 'रोमांटिसिज्म' नहीं है, भले ही उसने और कवियों को 'रोमांटिक' बनाने में सहायता पहुँचाई हो। उन लोगों को अभीष्ट-प्राप्ति में इससे बड़ी सहायता मिली जिनमें 'रोमांटिसिज़्म' का तत्त्व साधारण नहीं, असाधारण रूप में सर्वातिशायी था। इसी प्रकार यह आन्दोलनों तक सीमित नहीं है, यद्यपि व्यापक रोमानी शैली का निर्माण तभी होता है, जब इसका प्रामुख्य होता है। 'रोमांटिसिज्म' शैली में उतना नहीं होता, जितना कि एक विशिष्ट अनुपात के साथ वह कवि विशेष के भावना वैचित्र्य में निहित होता है। यही भावना-वैचित्र्य और काव्य के विभिन्न तत्वों का एक विशिष्ट अनुपात में मिश्रण, 'रोमांटिसिज्म' का विभेदक लक्षण है। अब तक के समस्त लक्षण काव्य के बाहरी रूप और स्थूल तथ्यों के आधार पर स्थिर किये गये हैं।

इसी प्रकार संकटों के समक्ष साहसिकता और 'रोमांटिसिज़्म' में भी, कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। संकटों का सामना करते रहने पर भी कोई रोमानी

प्रकृति का नहीं भी हो सकता। एक साहसिक व्यक्ति, मान्य मर्यादाओं के भीतर ही जीवन को प्रचलित मान्यताओं को स्वीकृति देते हुए, जीवन को सम्पन्न और गतिमान बनाना चाहता है। 'रोमांटिक' व्यक्ति अपने यथार्थ जीवन के स्थान पर कोई और दूसरा तीव्रतर और सुन्दरतर जीवन लाने का प्रयासी होता है।

प्रश्न उठता है क्या 'रोमांटिक' केवल अस्वीकृति और विद्रोह ही करता रहता है या उसका कुछ विध्यात्मक (पॉजिटिव) लक्ष्य भी होता है? यदि वह मात्र निषेधवादी है, तब तो उसकी सारी विकलता अभावात्मक या निषेधात्मक ही रह जाती है। यह भौतिक, मानसिक और आत्मिक क्षेत्रों में आदर्श की एक नई खोज होती है। संघर्ष ही धीरे-धीरे मन में एक विशिष्ट आकांक्षा को जन्म देते हैं। इस प्रकार सच्चा 'रोमांटिसिज्म' एक संकेत और अनागत की घोषणा होता है। स्टाडर्ड महोदय, इसीलिए कहते हैं कि "अपने शिष्टतम रूप में 'रोमांटिसिज्म' एक नवीन नियम, नवीन तथ्य, नवीन सामंजस्य और एक नूतन मानसिक परिदृश्य के अनुसन्धान में, प्रचलित नियम, तथ्य, सामंजस्य एवं मानसिक परिप्रेक्षित का परित्याग है। अपने सुन्दरतम उदाहृत रूप में, एक रोमानी सृष्टि एक अज्ञात देवता की परिवेदिका है।"

देश, काल, शैली और विषय से अलग करते हुए अबरक्राम्बी महोदय 'रोमांटिसिज्म' को एक विशिष्ट मानसिक प्रवृत्ति झुकाव या रुख मानते हैं। वे इसे यथार्थता से दूर एक विशिष्ट प्रवृत्ति घोषित करते हैं। धीरे-धीरे मानसिक चेतना बाह्य संसार के व्यापारों से खिंचकर अपने भीतर की उपलब्धियों पर ही निर्भर होना चाहती है। यह बाहरी अनुभवों की अपेक्षा आन्तरिक अनुभूतियों को महत्त्व देती है। अबरक्राम्बी महोदय के मत से स्वयं परियाँ अपने में 'रोमांटिक' नहीं हैं। 'रोमांटिसिज्म' का जन्म तो तब होता है जब वे ऐसी परियाँ बन जाती हैं जिनमें 'रोमांटिक' विश्वास करने लगता है। 'रोमांटिक' परियाँ काव्य के सहारे सच-सी नहीं लगतीं, वरन् काव्य ही उनसे सम्बद्ध होकर सच-सा लगने लगता है। उनकी सत्ता मात्र कल्पना-सिद्ध नहीं रह जाती, स्वयं कल्पना ही उनतक पहुँचकर उनमें एक इन्द्रियोत्तर सत्ता की प्राप्ति करती है। परियों तक पहुँच कर कवि अपनी आस्था-शक्ति को अन्तरीण या अन्तर्मुखी करता है। कवि ऐन्द्रिय जीवन से अपना विश्वास खींच लेता है। 'रोमांटिक कवि के लिए परियों के जीवन का दर्शन एक ऐसे सत्य का दर्शन है जो प्रत्येक वस्तु के महत्त्व से कहीं ऊपर है, जो मानव के अनुभव से परे फैला हुआ है, जो प्रतीकता के एक अनिवार्य किन्तु असमर्थ माध्यम में ही व्यक्त हो सकता है, जिसका अनुभव अन्तर्जगत् में ही सम्भव है। 'रोमांटिक' कवि अपने कल्पना-गत अनु-

भवों में इसलिए विश्वास करता है, कि वह मानता है कि ये स्फूर्तियाँ उसकी चेतना को ऐसे विशाल प्रसंगों से प्राप्त हुई हैं जो उसकी समझ के बाहर हैं। अतएव परियों का भौतिक अथवा आत्मनिरपेक्ष रूप 'रोमांटिक' नहीं है, वह तो निम्न श्रेणी के विश्वासों की कोटि की एक हेय मान्यता होगी। 'रोमांटिक' काव्य में परियों का महत्व उसी मात्रा में बढ़ जाता है जिस मात्रा में वे आन्तरिक अनुभूतियों के प्रतीक रूप में अवतरित होती हैं।

कुछ लोगों ने दोनों प्रवृत्तियों के भेद की मूल भित्ति एक और अनेक के अन्तर को माना है। 'रोमांटिसिज्म' विवेक पूर्ण कल्पना द्वारा प्रस्तुत एक सानुकूल वस्तु उद्भावना है। 'क्लासिसिज्म' ज्ञानेन्द्रियों द्वारा गृहीत एक अपूर्ण-मीलित वस्तु-दर्शन है। प्रथम, मात्र ज्ञानेन्द्रियों द्वारा पूर्ण सत्य के गृहीत होने का विश्वासी नहीं है, वह एक में ही अनेक का अन्तर्भाव कर देता है और यह अन्तर्भाव एक सार्थक कल्पना द्वारा सम्भव होता है। दूसरा बुद्धि और ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव, दोनों की परिपूरकता में सत्य की पूर्णता मानता है, केवल एक में नहीं। यहाँ प्रथम में अन्य सभी तत्वों पर एक विधायक कल्पना का आधिपत्य मानते हैं जब कि दूसरे में बुद्धि और इन्द्रिय-बोध दोनों की समतुल्यता पर बल देते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि 'रोमांटिसिज्म' रचनात्मक कल्पना की सर्वोच्चता पर स्थित होता है।

किसी ने 'रोमांटिसिज्म' को अस्वस्थ-रुग्ण और 'क्लासिसिज्म' को स्वस्थ-नीरोग माना है। हेज महोदय ने रहस्य और विस्मय को प्रथम का प्राण माना है। इनका कहना है कि यह रहस्य का तत्व ईसाई-धर्म की इस मान्यता से आया है कि इन्द्रिय-बोध के संसार के परे सत्य की स्थिति है। इन्होंने उल्लास-मयी प्रेरणा को भी इसका सार माना है। हेज महोदय ने एक और सत्य का उद्घाटन किया है। 'क्लासिसिज्म' आत्म-दमन और अपना नियन्त्रण है। वस्तुओं की स्पष्टता, निरुद्वेगता एवं तटस्थता के साथ प्रस्तुति इसकी विशेषताएँ हैं। 'रोमांटिक' आत्म-निष्ठ, अन्तर्मुखी, तीव्र भावुक होता है और स्वानुभूति के रंग में सब कुछ रँग देने वाला होता है। इसके विपरीत 'क्लासिकल' शुष्क, शान्त, रंग-हीन और सरल होता है। हेज महोदय एक अत्यन्त स्पष्ट विशेषता यह बतलाते हैं कि 'रोमांटिक' वस्तु नहीं, वस्तु के प्रति अपनी धारणा व्यक्त करता है। इसके विपरीत 'क्लासिकल' शुष्क, शान्त, रंग-हीन और सरल होता है। 'रोमांटिक' अपनी सारी बातों को अन्तिम रूप से पूरा-पूरा कह नहीं देता, उन पर रहस्य और महात्वाकांक्षा का पूर्ण प्रभाव रहता है। मूर्तिकार या चित्रकार अपना सब कुछ अभिव्यक्ति

को सौंप देता है, पर 'रोमाटिक' रचनाकार का कथ्य स्पष्टतः उसके माध्यम में अँट भी नहीं 'पाता', इसीलिए 'क्लासिकल' यदि मूर्तिकार है तो 'रोमाटिक' संगीतकार। प्रथम का प्रभाव बुद्धि और दूसरे का भावना पर पडता है, प्रथम में अभिव्यक्ति दूसरे में व्यंजना प्रमुख होती है।

ब्रूनेटियर महोदय, 'रोमाटिसिज्म' को गीतात्मकता का पर्याय मानते हैं। इस प्रकार उनके मत से यह अह की मुक्ति है। हरफोर्ड महोदय इसको कल्पनात्मक सवेदना का असाधारण विकास मानते हैं। जानफास्टर महोदय इसे विवेक के ऊपर कल्पना का प्रभुत्व कहते हैं। कैजामिया महोदय ने इसकी शुद्ध मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते हुए कहा है कि अन्य किसी प्रकार की व्याख्या या तो इसे सीमित कर देती है या इसकी आत्मा को विपर्यस्त कर देती है। अतएव वे कहते हैं कि इसमें बुद्धि की अपेक्षा तीव्र भावात्मकता या भाव-प्रवणता की प्रधानता होती है। यह भाव-प्रवणता या सवेगात्मकता कवि की कल्पना-दर्शिता से प्रेरित या प्रोन्मेषित होती है। इस व्यापार की प्रक्रिया में जो रचना होती है वह भी भावात्मकता या कल्पना-दृश्यों की ही सृष्टि करती है। इस प्रकार 'रोमाटिक' कृति कल्पनोत्तेजित सवेगों की सृष्टि और उन्हीं की आविर्भाविका भी होती है।

डा० राम विलास शर्मा ने अपनी अंगरेजी की 'एन इन्ट्रोडक्शन टु इंगलिश रोमाटिक पोयटरी' में रोमाटिसिज्म को 'रोमान्चों के जीवन की अभिव्यक्ति' माना है। इसमें सन्देह नहीं कि उन्हें इस निष्कर्ष की प्रेरणा कीट्स की 'ओ फार ए लाइफ आफ सेंसेशस' कविता-पक्ति से मिली है। कवियों की प्रतिनिधि कविता-पंक्तियों को शीर्षक-उपशीर्षक बनाकर विचार करने की यह पद्धति कदाचित् उनकी निजी है। 'छायावाद' के लेखक श्री नामवर सिंह ने भी इस पद्धति पर प्रेरणा से हिन्दी में एक और 'मरे' की पुस्तक लिखी है। इस पद्धति के गुण भी हैं और सीमाएँ भी। गुण तो यह है कि लेखक अपनी बात को प्रारम्भ में ही प्रतीक-रूप में कह कर, बाद में उसी की पुष्टि कर लेखक को आकृष्ट कर लेने में अधिक सरलता से सफल हो जाता है, सीमा यह है कि एक पूर्वाग्रह बन जाता है और आगे की समस्त विचारणा को लेखक को उसी साँचे में कसना पडता है। कीट्स की अति-सवेदनशीलता को ही समस्त रोमानी काव्य का प्राण मान लेना कदाचित् अतिरेक था, इसीसे बाद में 'शर्मा' जी ने अपने 'सवेदना एव शैली में परिवर्तन, शीर्षक अध्याय में 'रोमाटिसिज्म' के विद्रोह-पक्ष को स्पष्ट किया। उनका कहना है कि अपनी सम्पन्न और निर्बन्ध

अभिव्यक्तियों मे इस नवीन सवेदना का किंचित् असन्तुलित हो जाना एक बाध्यता थी। नवीन सवेदना ने नये पद्य-रूपों, नये चित्र-विधान और नयी काव्य-व्यंजना पद्धति को जन्म दिया। इसके पूर्व १८ वीं शती में एक रुग्ण शास्त्रीय काव्य-परपरा चल रही थी। यह नया 'रोमाटिसिज्म' उसी की प्रतिक्रिया था। फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति, रूसो और वाल्टेयर आदि के विचारों ने इसको बडा बल और खाद्य दिया है। उनके मत से, चित्र-विधान की शोभा और कल्पना की प्रमुखता, अन्याय के प्रति घृणा, प्रकृति की ओर प्रत्यावर्त्तन, एक सम्पन्नतर और पूर्णतर ऐन्द्रिय जीवन का भोग, असफलता की भावना, प्रतीकात्मक चित्र-विधान, नयी काव्य-भाषा का विकास, चित्र-मय विशेषणों का प्रयोग, व्यंजना और अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति, आदि इस काव्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

अब तक ऊपर जितने विचार, मत-वाद और व्याख्याएँ उल्लिखित हुए हैं, वे दो प्रकार की हैं। कुछ विद्वानों ने 'रोमाटिक काव्य' को जिस रूप मे पाया, कृतिकार से अलग उसकी कृति की धरातलीय या विचार अथवा शैली-सम्बन्धी विशेषताओं को गिना दिया है। उनकी दृष्टि काव्य के बाह्य शरीर और उसमे प्राप्त तत्त्वों के निरपेक्ष विश्लेषण पर है। दूसरे कुछ विद्वानों ने (अवरक्राम्बी आदि) 'रोमाटिसिज्म' को समझने मे कृति ही नहीं, कृतिकार की मानसिक काव्य-प्रक्रिया की भी व्याख्या की है और इस प्रकार उन्होंने एक डग और आगे बढ़ कर यह प्रयास किया कि यह कृति ऐसी क्यो बनी? इस 'क्यों' के उत्तर में उन्होंने इस श्रेणी के अनेक कवियों की काव्य-गत परिणतियों की समानता को लक्षित कर, कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले और घोषित किया कि इन कृतियों के बीच कवि के मन में चलने वाली कुछ विशिष्ट मनोधाराएँ होती हैं। कजामिया महोदय भी इसी श्रेणी के एक विश्वस्त आलोचक हैं। इन दो विचार-सोपानों के बाद एक तीसरा भी सोपान है; वह यह है कि अन्ततः 'रोमाटिक' कवि ऐसा सोचते ही क्यों हैं? वह कौन-सी शक्ति है जो उन्हें ऐसा सोचने को बाध्य करती है, वे ऐसा किन कारणों से सोचते हैं? कवि किसी वायवीय लोक में नहीं रहता, वह इसी समाज का प्राणी होता है और अपने अस्थि-मास-गत अस्तित्व के लिए इसी समाज पर निर्भर होता है। एकाध कवि, कहीं छिटर-पिटके, विद्रोह, असफलता या रागात्मक तीव्रता के शिकार हो जाँय, पर कभी-कभी एक युग का युग एक प्रकार से खड़ा होकर, एक ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित करने लगता है, ऐसा क्यों?

मेरे इस प्रश्न के उत्तर में भी मत व्यक्त हुए हैं और पहले से होते भी रहे हैं। कुछ विद्वानों ने कहा है कि रोमाटिक कवि मनमानी होता है। उसे समाज में अपनी शैलानी जिन्दगी और विचित्र रुचियों की तृप्ति के लिए पर्याप्त साधन नहीं मिलते। कुछ मनोविश्लेषण-शास्त्र के आधार पर कवि का फ्रायडाय निदान करने लगते हैं और उन्हें, उनके व्यक्तिगत जीवन के व्यक्तिगत कारणों की रुग्ण सृष्टि या व्याधि-ग्रस्त परिणाम मानकर सन्तोष कर लेते हैं। कुछ, ऐसे सार्वभौम नियम की प्रधारणा कर सन्तुष्ट हो जाते हैं कि परिवर्तन अथवा क्रिया की प्रतिक्रिया सृष्टि और मानव-मन का धर्म है। मानव-चेतना कभी 'स्थूल' के प्रति आकृष्ट होती है और फिर 'स्थूल' से ऊब कर 'सूक्ष्म' के प्रति लालायित हो उठती है। 'स्थूल' और 'सूक्ष्म', इन दो छोरों के बीच, उनके मत से, मानव-चेतना संचरण किया करती है। कुछ इस द्वन्द्व और अन्तर्विरोध को जगत्-प्रवाह और मानव-मन के स्तर से उठा कर, केवल साहित्य के क्षेत्र में सीमित कर यह कह उठते हैं कि विश्व के साहित्य के इतिहास का यही क्रम है, इस प्रकार साहित्य-तुला का यह अधोगमन-उत्तोलन चला करता है।

मेरे विचार से यह क्रिया-प्रतिक्रिया न किसी जड साहित्यिक सिद्धान्त का ऐकान्तिक परिणाम है और न मानव-मन के किसी निरपेक्ष सिद्धान्त का प्रतिफल। मनुष्य मन और उसके बाह्य जगत् के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है। मानव अपनी परिस्थितियों का निर्माता भी होता है और अपनी परिस्थितियों का स्रष्टा भी। स्रष्टा और सृष्टि की युगपत् स्थिति विरोधाभासी भले लगे, पर यह अपने में एक अविरोधी सत्य है। एक निश्चित परिस्थिति में मानव का सीमित अस्तित्व कुछ मूल्यों का निर्धारण कर लेता है और उन्हीं के सहारे वह अस्तित्व-रक्षा और उसके योग-क्षेम का उपक्रम करता है। एक परिस्थति में परिकल्पित और अवधारित सामाजिक एव व्यक्तिगत मूल्य, उस प्ररिस्थिति के भीतर सुविधा, सुकरता और सुख प्रदान करते हैं, किन्तु जब भौतिक परिस्थितियाँ बदलने लगती हैं, तो वे मूल्य असुविधा-जनक लगने लगते हैं। उन मूल्यों के अभ्यस्त और उनके संस्कार में पले व्यक्ति के मन को, उन मूल्यों से आत्मीयता और कभी-मोह भी हो जाता है। वह देखता है कि एक बार उसके समाज और व्यक्ति ने जिन मूल्यों को स्नेह दिया था, जिनकी छाया में कितने ही सुख-दु ख के सपने पाले-देखे थे, वे टूट रहे अथवा मिटते जा रहे हैं। मूल्य-परिवर्तन की यह स्थिति बडी आमाधारण होती है। समाज में वर्तमान स्थिति और वस्तुओं की अवस्था से बडा असन्तोप, विद्रोह और विपाद फैलने लगता है। एक निश्चित प्रकार के सामाजिक मूल्य-मानों और सम्बन्धों के परिप्रेक्षित की यह समाप्ति बड़ी भोपण

होती है। यह एक युग की साँझ होती है, जहाँ सामने एक प्रकार की मान्यता और व्यवस्था का सूर्य डूबता हुआ दिखलाई पड़ता है। विकलता, खीझ, उदासी, हार, असफलता, चोट, मोह और विद्रोह से वातावरण अँधियाला होने लगता है। निराशा का तिमिर घना हो चलता है, विचलता की हवाएँ झकझोरने लगती हैं, विषाद के जलद-खण्ड चलायमान हो जाते हैं। आशा के तारे भी झलक मारने लगते हैं, कभी विश्वास की चाँदनी खिलखिला उठती है। आस्था का चाँद सामने आ जाता है। अरमानों के दिये जलने लगते हैं, भावी के सपने पलकों पर मचलने लगते हैं, विहान और नये दिन की ज्योति कल्पना-क्षितिज पर उतरने-चढ़ने लगती है। तम और आलोक के इस स्नेहालिंगन में नये मूल्यों की ओस-वर्षा से अनजाने प्राणी-मन भीगने लगते हैं। नयी आस्थाओं की मेंहदी, पुरानी मान्यताओं की रात-रानी, नवीन आदर्शों के बेले भीतर ही भीतर साँसों को महकाते रहते हैं। जीवन-पवन की शीतल सिहरनों से पुराने मूल्यों के हरसिंगार झरते रहते हैं। रात के आँचल से ढकी अभिलाषाओं की अमराई में प्रीति की कोयल कूकती रहती है। छूटती हुई सीमाओं से तड़पती सी भावुकता की चातकी, चहिरागत विचारों के चमन से गाती नवीनता की बुलबुलें टूटती हुई रात को जादुई बना देती हैं। विकृतियों के घुग्घू और दुर्बलताओं के शृगाल शान्त और हतप्रभ होने लगते हैं। रात की बेहोशी से टकराने वाले कवि-पहरुओं की पुकारें असंख्य ज्योति-दर्शी कण्ठों का जागरण-गान बन जाती हैं! संक्रान्ति की रात बीत जाती है, नव-युग का सवेरा मुस्कुरा उठता है। नये मूल्यों का सूरज युग-चेतना के आकाश में चढ़ता हुआ नयी सर्जना की बाँहों को चुनौती देने लगता है। एक युग की समाप्ति के निकट से बीच के संक्रमण-काल और नये जीवन मूल्यों की स्वीकृति तक 'रोमांटिसिज्म' का प्रसार रहता है। इस प्रकार रोमानी काव्य के मूल में मूल्य-परिवर्तन अथवा मूल्य-संघर्ष की स्थिति और उससे उद्भूत चेतना प्रमुख होती है। यह मूल्य-संघर्ष ही रोमानी कवि से लेकर रोमानी-युग तक के प्रादुर्भाव का कारण होता है।

प्रश्न हो सकता है कि कुछ रोमानी तत्त्व होते हैं और वे जिन कवियों या कवि की जिन कृतियों में आ जाँय, वे रोमानी कवि या रोमानी कृतियाँ कहे जाँयगे, या रोमानी कवि या काव्य युग-विशेष और विशिष्ट सामाजिक परिस्थिति में ही प्रादुर्भूत हो सकते हैं, सर्वत्र और सर्वदा नहीं? यदि पहली स्थापना सत्य है, तब तो 'रोमांटिसिज्म' एक विशिष्ट और मान्य शाश्वत् काव्य-प्रवृत्ति है जिसके लिए देश-काल की बाधा नहीं। तब किसी भी युग की किसी भी परिस्थिति में कोई 'रोमांटिक' कवि पैदा हो सकता है और कुछ निर्दिष्ट प्रवृत्तियों एवं

विशिष्टताओं की प्राप्ति पर कोई कृति 'रोमाटिक' कही जा सकती है। यदि दूसरी स्थापना सत्य है तो रोमाटिसिज्म एक सामूहिक आन्दोलन और एक व्यापक युग-निहित जन चेतना का प्रतीक होना चाहिए। कवि-विशेष और कृति-विशेष के स्तर पर इसका निर्धारण-निरूपण होना ही न चाहिए, अभिधान की बात तो दूर रही। इसी 'साध्य' का एक 'अनुमान' यह भी हो जाता है कि मूल्य-परिवर्तन या 'मान'-सघर्ष की प्रत्येक सक्रमण-स्थिति काव्य में एक ही प्रकार की विशेषताएँ पैदा करेगी और कवि-मात्र के भीतर एक ही प्रकार की प्रवृत्तियों को जन्म देगी या उनमें भेद होगा? दो सक्रमण-स्थितियों के ऐसे रोमानी काव्यों में कितनी समानता होगी? क्या रागात्मकता कल्पनात्मकता, अति-सवेदनशीलता, परम्परा-विद्रोह, नीति-विद्रोह, प्रेयवादिता, साहसिकता आदि गुण किसी न किसी प्रकार प्रत्येक मूल्य-संक्रमण-काल में आविर्भूत होंगे ही?

इन सब प्रश्नों और शकाओं के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि 'रोमानी काव्य के लिए मूल्यों के सघर्ष की स्थिति अनिवार्य है। इस मूल्य-सघर्ष की चेतना चाहे एक व्यक्ति ने की हो या एक वर्ग अथवा पूरे जन-समूह ने। एक व्यक्ति ही जब ऐसा अनुभव करता है कि उसकी अन्तरात्मा कुछ दूसरे मानोंपर चलना चाहती है या कुछ दूसरे मूल्यों को उचित, न्याय्य और विवेकपूर्ण मानती है जबकि समाज या उसके आस-पास का जन जीवन दूसरी मान्यताओं पर चल रहा है, तो उसके मन में विद्रोह पैदा होता है। वह अपनी मान्यताओं की सबल रूप से स्थापना करना चाहता है और अन्यों की मान्यताओं को उत्पाटित करने का प्रयास करता है। अपने अभावों में वह विषण्ण, भावुक और विद्रोही होगा तथा अपनी आस्थाओं के प्रति आशावान् और निष्ठाशील वह अपनी विधायक कल्पना से अपने अभीष्ट का चित्र उतारेगा, उसमें रमण करेगा। असफलताओं की चेतना के क्षणों में उदास भी होगा और विजय के क्षणों में उल्लास-पूर्ण। वह व्यक्ति जब अपने काव्य में अभिव्यक्त होगा, तो उसका काव्य 'रोमाटिक' ही कहा जायगा। उसके काव्य की शक्ति और महत्ता, समाज-स्वीकृत मूल्यों के समक्ष उसके निजी मूल्यों की क्षमता, उपयोगिता तथा औचित्य पर निर्भर होगी। प्रेरणा की शक्तिमत्ता और उसकी सामाजिक उपादेयता उसके काव्य की लघुता और गुरुता का निर्णय करेगी। सामाजिक वस्तु-स्थिति और व्यक्ति-विशेष या कवि-विशेष के मूल्यों का यह अन्तर और उनका संघर्ष ज्यों-ज्यों सामाजिक चेतना का रूप ग्रहण करता जायगा अथवा कवि के सहधर्मियों की सख्या बढ़ती जायगी, यह सघर्ष-चेतना बृहत्तर व्यापकतर और अधिकाधिक

सामाजिक होती जायगी । आगे चलकर यही रोमानीकाव्य-युग की पीठिका बन जाती है । उच्चकाव्य के स्तर पर, व्यक्ति और समाज की चेतनाओं में इतना अन्तर नहीं हो सकता; इसीसे महाकवियों की वाणी युग-वाणी बन जाती है और युग-चेतना महाकवि के कंठो मुखरित होकर महाकाव्य बन जाती है । उद्देश्य, दृष्टि, विचार, संस्कार और साधना की उच्चावस्था में महानात्मा या महाप्राण व्यक्ति, तथा युग के समष्टि-गत तथ्यदर्शन और सामूहिकअनुभूति का अन्तराय मिट जाता है । इसासे तुलसी का 'स्वान्तः-सुखाय' 'लोक हिताय', सूर की 'पुष्टि' युग की पुष्टि बन सकी । कवि सामान्य प्राणियों से वैसे भी, अधिक संवेदनशील होता है और संक्रमण-काल का कवि तो अनेक तनावों में और भी संवेदनशील हो जाता है । सामान्य काल के व्यक्ति से ही जब संक्रमण-काल का सामान्य जन अधिक संवेदनशील होता है, तो दोनों स्थितियों के 'स्वभाव से ही संवेदनशील होने वाले कवियों' की संवेदनशीलता का अन्तर तो और भी अधिक होगा !

उद्वेग, भावुकता, कल्पना-प्रवणता, मुक्ति पाने की उत्कण्ठा, रूढियों के विरुद्ध विद्रोह, पिछले मूल्यों की मधुर स्मृतियों के प्रति मोह और नये मूल्यों की प्राप्ति के प्रयास का वेग, युगानुसार यत्किंचित् अन्तर के होते हुए भी, एक श्रेणी और दिशा के होंगे । इन वृत्तियों के संघात-विघात से, 'रूप' के जो ढाँचे और अभिव्यक्ति की जो भाव-भंगियाँ होंगी, उनमें कुछ न कुछ सामान्यता और समता अवश्य होगी । साहित्य में परिवर्तन का क्रम उतना त्वरित नहीं होता जितना सामान्य जीवन में होता है । परिस्थितियों और जीवन के परिवर्तनों की गति साहित्य में अपने 'रूगती' परिवर्तन की गति से तीव्रतर होती है । दूसरे शब्दों में, साहित्य जीवन-जगत् की अपेक्षा अधिक स्थितिशील (कन्जर्वेटिव) होता है । इसलिए प्रायः युग के भाव और विचारों के द्रव्य में परिवर्तन हो जाने पर भी, उसके साहित्यिक साँचे में उस गति से परिवर्तन नहीं होता । इसीलिए दो विभिन्न मूल्य-संक्रमण कालों के आन्तरिक काव्य-द्रव्यों और बाहरी अभिव्यक्ति-रूपों में भिन्नता अवश्य हो सकती है, पर काव्य-द्रव्य की मूल चेतना और शैली-रूप के आन्तर साम्य में विशेष विजातीयता नहीं होती । वस्तु के भेद भले हों, पर वस्तु के प्रति मन के कोण अथवा दृष्टि—देखने के ढंग या अनुभव करने की पद्धति के भेद अत्यन्त नगण्य होंगे । वस्तु नहीं, वस्तु की ओर देखने का ढंग एक-सा होगा : अनुभूति नहीं, अनुभव करने का ढंग एक प्रकार का होगा । वर्ण्य-विषय तो युगानुसार बदलते चल सकते हैं, पर वर्णन-प्रणाली में एक-प्रकारता हो सकती है । कल्पना, भावना, संवेदन-शीलता, संवेगिता,

विशिष्टताओं की प्राप्ति पर कोई कृति 'रोमांटिक' कही जा सकती है। यदि दूसरी स्थापना सत्य है तो रोमांटिसिज्म एक सामूहिक आन्दोलन और एक व्यापक युग-निहित जन चेतना का प्रतीक होना चाहिए। कवि-विशेष और कृति-विशेष के स्तर पर इसका निर्धारण-निरूपण होना ही न चाहिए, अभिधान की बात तो दूर रही। इसी 'साध्य' का एक 'अनुमान' यह भी हो जाता है कि मूल्य-परिवर्तन या 'मान'-संघर्ष की प्रत्येक संक्रमण-स्थिति काव्य में एक ही प्रकार की विशेषताएँ पैदा करेगी और कवि-मात्र के भीतर एक ही प्रकार की प्रवृत्तियों को जन्म देगी या उनमें भेद होगा? दो संक्रमण-स्थितियों के ऐसे रोमानी काव्यों में कितनी समानता होगी? क्या रागात्मकता कल्पनात्मकता, अति-संवेदनशीलता, परम्परा-विद्रोह, नीति-विद्रोह, प्रेयवादिता, साहसिकता आदि गुण किसी न किसी प्रकार प्रत्येक मूल्य-संक्रमण-काल में आविर्भूत होंगे ही?

इन सब प्रश्नों और शंकाओं के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि 'रोमानी काव्य के लिए मूल्यों के संघर्ष की स्थिति अनिवार्य है। इस मूल्य-संघर्ष की चेतना चाहे एक व्यक्ति ने की हो या एक वर्ग अथवा पूरे जन-समूह ने। एक व्यक्ति ही जब ऐसा अनुभव करता है कि उसकी अन्तरात्मा कुछ दूसरे मानोंपर चलना चाहती है या कुछ दूसरे मूल्यों को उचित, न्याय्य और विवेकपूर्ण मानती है जबकि समाज या उसके आस-पास का जन-जीवन दूसरी मान्यताओं पर चल रहा है, तो उसके मन में विद्रोह पैदा होता है। वह अपनी मान्यताओं की सबल रूप से स्थापना करना चाहता है और अन्यों की मान्यताओं को उत्पाटित करने का प्रयास करता है। अपने अभावों में वह विषण्ण, भावुक और विद्रोही होगा तथा अपनी आस्थाओं के प्रति आशावान् और निष्ठाशील वह अपनी विधायक कल्पना से अपने अभीष्ट का चित्र उतारेगा, उसमें रमण करेगा। असफलताओं की चेतना के क्षणों में उदास भी होगा और विजय के क्षणों में उल्लास-पूर्ण। वह व्यक्ति जब अपने काव्य में अभिव्यक्त होगा, तो उसका काव्य 'रोमांटिक' ही कहा जायगा। उसके काव्य की शक्ति और महत्ता, समाज-स्वीकृत मूल्यों के समक्ष उसके निजी मूल्यों की क्षमता, उपयोगिता तथा औचित्य पर निर्भर होगी। प्रेरणा की शक्तिमत्ता और उसकी सामाजिक उपादेयता उसके काव्य की लघुता और गुरुता का निर्णय करेगी। सामाजिक वस्तु-स्थिति और व्यक्ति-विशेष या कवि-विशेष के मूल्यों का यह अन्तर और उनका संघर्ष ज्यों-ज्यों सामाजिक चेतना का रूप ग्रहण करता जायगा अथवा कवि के सहधर्मियों की संख्या बढ़ती जायगी, यह संघर्ष-चेतना बृहत्तर व्यापकतर और अधिकाधिक

सामाजिक होती जायगी। आगे चलकर यही रोमानी-काव्य-युग की पीठिका बन जाती है। उच्चकाव्य के स्तर पर, व्यक्ति और समाज की चेतनाओं में इतना अन्तर नहीं हो सकता; इसीसे महाकवियों की वाणी युग-वाणी बन जाती है और युग-चेतना महाकवि के कंठों मुखरित होकर महाकाव्य बन जाती है। उद्देश्य, दृष्टि, विचार, संस्कार और साधना की उच्चावस्था में महानात्मा या महाप्राण व्यक्ति, तथा युग के समष्टि-गत तथ्यदर्शन और सामूहिकअ नुभूति का अन्तराय मिट जाता है। इसीसे तुलसी का 'स्वान्तः-सुखाय' 'लोक हिताय', सूर की 'पुष्टि' युग की पुष्टि बन सकी। कवि सामान्य प्राणियों से वैसे भी, अधिक संवेदनशील होता है और संक्रमण-काल का कवि तो अनेक तनावों में और भी संवेदनशील हो जाता है। सामान्य काल के व्यक्ति से ही जब संक्रमण-काल का सामान्य जन अधिक संवेदनशील होता है, तो दोनों स्थितियों के 'स्वभाव से ही संवेदनशील होने वाले कवियों' की संवेदनशीलता का अन्तर तो और भी अधिक होगा!

उद्वेग, भावुकता, कल्पना-प्रवणता, मुक्ति पाने की उत्कण्ठा, रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह, पिछले मूल्यों की मधुर स्मृतियों के प्रति मोह और नये मूल्यों की प्राप्ति के प्रयास का वेग, युगानुसार यत्किंचित् अन्तर के होते हुए भी, एक श्रेणी और दिशा के होंगे। इन वृत्तियों के संघात-विघात से, 'रूप' के जो ढाँचे और अभिव्यक्ति की जो भाव-भंगियाँ होंगी, उनमें कुछ न कुछ सामान्यता और समता अवश्य होगी। साहित्य में परिवर्तन का क्रम उतना त्वरित नहीं होता जितना सामान्य जीवन में होता है। परिस्थितियों और जीवन के परिवर्तनों की गति साहित्य में अपने 'सगती' परिवर्तन की गति से तीव्रतर होती है। दूसरे शब्दों में, साहित्य जीवन-जगत् की अपेक्षा अधिक स्थितिशील (कंज़र्वेटिव) होता है। इसलिए प्रायः युग के भाव और विचारों के द्रव्य में परिवर्तन हो जाने पर भी, उसके साहित्यिक साँचे में उस गति से परिवर्तन नहीं होता। इसीलिए दो विभिन्न मूल्य संक्रमण कालों के आन्तरिक काव्य-द्रव्यों और बाहरी अभिव्यक्ति-रूपों में भिन्नता अवश्य हो सकती है, पर काव्य-द्रव्य की सूक्ष्म चेतना और शैली-रूप के आन्तर साम्य में विशेष विजातीयता नहीं होती। वस्तु के भेद भले हों, पर वस्तु के प्रति मन के योग अथवा ढंग—देखने के ढंग या अनुभव करने की पद्धति के भेद अत्यन्त नगण्य होंगे। वस्तु नहीं, वस्तु को ओर देखने का ढंग एक-सा होगा : अनुभूति नहीं, अनुभव करने का ढंग एक प्रकार का होगा। वर्ण्य-विषय तो युगानुसार बदलते चल सकते हैं, पर वर्णन-प्रणाली में एक-प्रकारता हो सकती है। कल्पना, भावना, संवेदन-शीलता, संवेगिता,

विद्रोह-प्राणता, खिन्नता आदि के परिमाण में, परिवर्तन के वेग और परिणाम की मात्रा के अनुसार (दो रोमानी युगों में) न्यूनाधिक्य हो सकता है, पर दोनों के बीच विजातीयता और सर्वथा नवीनता की स्थिति असम्भव है। 'रूप' और 'छन्द' की स्थूल रूप-रेखा मे अन्तर हो सकता है, पर इन रूपों और छन्दों के मूल में एक-से प्रकार की प्रेरणा अवश्य रहेगी। प्यास लगने पर हम चाहे दौडकर कुएँ से पानी पियें या नल से, पर प्यास का तथ्य अपनी जगह पर है मनः स्थिति की यही एकता, मनोवेगों का यही साम्य सामान्यता का प्रतिपादक होगा, इन समान मनोवेगों और मनःस्थितियों की प्रतिक्रिया का बाह्य रूप युग-विशेष की पृष्ठभूमि में चाहे जैसा हो। एक ही युग के विभिन्न कवियों की कृतियों की बात छोड दी जाय, एक ही कवि की विभिन्न कृतियों में ही परपरा और प्रगति, प्राचीन और नवीन का पारस्परिक अनुपात एक ही नहीं होगा।

इसी प्रकार यह प्रश्न भी विचारणीय है कि—क्या सच है कि 'रोमाटिक' काव्य में काव्य के विभिन्न आन्तरिक तत्त्वों में असन्तुलन होता है और 'क्लासिकल' काव्य में सन्तुलन ? क्या सगति, सामजस्य, औचित्य, सानुपातिकता, सयम, सुस्पष्टता, अगोपन, परम्परा-पालन, प्रत्यक्षता और पूर्णता 'क्लासिकल' काव्य का साध्य होता है और असंगति, असामजस्य, अनौचित्य, अनुपात-व्यतिक्रम, भावुकता, रहस्यमयता, परोक्ष सकेत, परम्परा-विद्रोह, व्यंग्यात्मकता और अपूर्णता 'रोमाटिक' कवि का लक्ष्य ? 'क्लासिकल काव्य' व्यवस्थित, संतुलित, सन्तुष्ट एव सुस्पष्ट मूल्य स्थिति का काव्य होता है, और 'रोमाटिक' काव्य अव्यवस्था असन्तुलन और असन्तोष उत्पन्न करनेवाली विषम मूल्य-व्यवस्था की सृष्टि होता है। वह जिन मूल्यों और आदर्शों के लिए व्याकुल होता है, अलब्ध और अप्राप्त होने के कारण वह बहुत कुछ अनुभव नहीं, कल्पना का विषय होता है। कल्पना से दुर्बोधता और रहस्यात्मकता की छाया का आ जाना स्वाभाविक ही है। 'रोमाटिक' कवि का आदर्श-लक्ष्य (अनुभूयमान) दृष्ट नहीं दृश्यमान और प्राप्त नहीं प्राप्यमाण होता है; अतएव उसमें सगति, व्यवस्था और पूर्णता का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? अप्राप्त के प्रति कल्पना का प्रामुख्य स्वाभाविक है, दूसरा कोई आधार नहीं।

इसी प्रकर मनचाही स्थिति के अभाव में भावुकता बढ ही जाती है; इस बढी भावुकता में कल्पना ही सहारा होती है। यही कल्पना वर्तमान की पीडाओं से उठाकर कवि को अभीष्ट की रमणीय वीथियों की सैर कराती है। कल्पना के पख पर उड कर ही वह अनागत प्रभात का चित्र लाता है। भाव-प्रेरित कल्पना ही भविष्य के अधकार में डूबी रेखाओं को प्रकाश देती है।

'रोमाटिक' कवि मे कल्पना-तत्त्व अनिवार्य रूप से प्राधिपति होता है। एक बात और है; स्वय कवि को उसका कल्पनातीत चित्र अस्वाभाविक और असन्तुलित नहीं लगता; वह तो उसे विजय-स्वर्ण-सा सोल्लास लगता है। यह असन्तुलन तो उन पाठकों और आलोचकों को अनुभव होता है, जिनकी रुचि विशिष्ट रूपाकारों, बुद्धि विशिष्ट मूल्य-मानों और कल्पना परिचित एवं प्राप्त स्वरूपों के सस्कारों में परिबद्ध और अभ्यस्त होती है। हम 'रोमाटिक' कवि के नये चित्र को पुराने से मिलाकर देखते हैं, अतएव अन्तर नजर आता है; भ्रम से इस अन्तर और अपरिचय को ही हम अधिकाशतः दोष मान बैठते हैं। कुछ गिने-चुने रूपों को देखते-देखते हम उन मापों एव आयामों से इतना एकात्म हो जाते हैं कि नवीन माप और नये आयामों पर आया रूप-चित्र हमारी आँख में बैठता नहीं। एक प्रकार के पदार्थों को देखते-देखते हमारी दृष्टि इतनी सीमित और नियत-क्षम हो जाती है कि नवीन ज्योतियाँ हमें चौंधिया देती हैं। हमारी आस्वाद्-रसना एक निश्चित अश के स्वादो का आभोग करते-करते उससे इतनी अभ्यस्त हो जाती है कि मात्रा में तनिक न्यूनाधिक्य होते ही वह हमारे मुँह नहीं लगता। 'रोमाटिक' कवि के अपरिचय, असामान्यता, असाधारणता, विचित्रता और असगति का बहुत कुछ यही रहस्य है।

'रोमाटिक' की वाणी कुछ रहस्य-मयी और सुदूर की लगती है, क्योंकि अपने जीवन में तत्काल मान्य मूल्यों में उसका विश्वास नहीं होता। मूल्यों की नई खोज में वह सुदूर अतीत के सुखद और स्वर्णिम पृष्ठों की ओर भी जाता है। वह उन क्षणों की सुखदता और स्वर्णिमता के मूल में निहित मानवीय मूल्यों और भावों को पकडने का प्रयास करता है। उन्हीं के आधार पर वह अपनी वर्तमान माँग और प्यास के औचित्य की पुष्टि करता है। कभी वह बदली परिस्थितियों में भावी का सुन्दर सुनहला स्वप्न-लोक भी टटोलता है। अतीत और भविष्य के इन चित्रणों में नई व्याख्या और नये मूल्यों के पूर्णतः भावित और अनुभूत न होने के कारण कुछ रहस्य-मय भी लगता है। कुछ लोगों में वह रहस्यमयता स्वयं अपने में भी एक मान्यता और उद्देश्य बन जाती है, पर शुद्ध 'रोमाटिक' एक निश्चित 'वाद' अथवा 'मत' के रूप में रहस्यमयता का विश्वासी नहीं होता। उसकी रहस्यमयता का धुँधला स्वर्णलोक उसके भावी जीवन-चित्र की विशालता और उसके प्रति अपनी भावात्मक सत्य-निष्ठा या कल्पना की वेगमयी गति द्वारा लाया गया परिणाम होता है; वह गति रोग अथवा विकृत मानसिक ग्रन्थि का अस्वस्थ प्रतिफल नहीं होता, वरन् भावातिरेक और कल्पना के सक्रिय उद्वेलन की अनिवार्य परिणति होता है। वह समाज

की रूढियों और साहित्य की परंपरा का विद्रोही होता है, क्योंकि वह एक परंपरा और रूढि को निश्चित जीवन-मूल्यों का परिणाम मानता है और नये मूल्यों का विश्वासी होने के कारण पुराने जीवन-मूल्यों को परिणति के रूप में चलती परंपराओं के विरोध में नये पथ का प्रवर्तन करता है।

नयी व्याख्या और नये प्रवर्तन की स्थिति में वह मानव-हृदय के स्थायी भावों और मानव-चेतना के चिन्तन मूल्यों को आधार-भूमि बनाकर चलता है। ये भाव और चिरन्तन चेतना-रूप उसकी प्रस्थान-भूमि होते हैं। वह व्यक्ति-व्यक्ति के बीच प्रेम को एक बलवत्तर एकता-कारक शक्ति मानता है और सौन्दर्य-प्रेम को एक चिरन्तन शील। अपने मन की प्रेम-प्यास और सौन्दर्य की भूख को तृप्त करने के साधनों का अभाव अनुभव कर, वह एक तड़प, विरह और वेदना का भी अनुभव करता है, बाधा के क्षणों में, उसके हृदय के विषाद के भावुक गीत भी फूट पड़ते हैं। रोमानी कवि नये मूल्यों और नये-पुराने मूल्यों के बीच संघर्ष की स्थिति के प्रति संवेदन-शील होता है।

स्थिति-शील्ता और यथा-स्थिति की रक्षा में रुचि-शील परंपरावादी आलोचक और पाठक इस नवीनता के गायक कवि को विरोधी, अनैतिक, अवांछनीय उच्छृङ्खल और असंयत भी घोषित करता है। वह समाज के आन्तरिक संघटन के भीतर सुलगने वाली आग का अनुभव न कर रोमानी कवि समस्त प्रतिक्रियाओं को मात्र व्यक्तिगत प्रतिक्रिया के स्तर पर ग्रहण करता है, वह इसे समाज के बृहत्तर परिपार्श्व के साथ उसका सम्बन्ध नहीं मानता। ऐसे लोग जीवन की गतिशील चेतना और परिवर्तन-शील सामाजिक परिस्थितियों के साथ बदलते हुए मूल्यों के सत्य में विश्वास नहीं करते। वे एक प्रकार से शाश्वत वादी और सनातनी होते हैं। पुराने अथवा प्रचलित के प्रति असन्तोष से लेकर नवीन की अनुभूति और उसके चित्रण के दो छोरों के बीच कई मानसिक स्थितियाँ आती हैं। भावी रूप और नये मूल्यों की स्थापना के सामाजिक दायित्व के प्रति जो स्थिति जितनी ही सचेत और सतेज होती है वह 'रोमांटिसिज्म' का उतना ही स्वस्थ और श्रेष्ठ रूप होती है। इस प्रकार उस सबलता-दुर्बलता, सतेजता निष्प्रभता और सचेतता-अवचेतता के मात्रा-क्रम से इसमें विभिन्नताएँ भी होती हैं।

सामाजिक मान्यता के विरुद्ध अपनी निजी चेतना की कसौटी और आन्तरिक अनुभूति को आधार बनाकर चलने के कारण इसमें एक एक निश्चित सीमा तक व्यक्तिवाद भी आ जाता है। 'रोमाटिक' बाह्य जगत् नहीं उसके द्वारा उद्भूत और प्रेरित भावानुभूति को वह प्राधान्य देता है। और सुन्दर-असुन्दर एवं ग्राह्य-अग्राह्य के चयन में वह स्वानुभूति को निकष बनाता है,

इसलिए वह बहिर्मुखी नहीं अन्तर्मुखी भी होता है। अपनी वर्तमान वास्तविकताओं और तथ्यों की प्रतिक्रिया में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ सम्भव हैं—या तो वह यथार्थ से भगे या सुधारने-बदलने को कटिबद्ध हो। प्रथम प्रकार की प्रतिक्रिया पलायन-वाद और दूसरी प्रकार की प्रवृत्ति सुधार-वाद, पुनरुत्थान-वाद या नव-जीवन-वाद कहला सकती है। एक रहस्यवाद में जड हो सकती है, दूसरी जीवन की पूर्णता की स्वप्नदर्शिका। अंगरेजी के ब्लेक और शेली तथा हिन्दी की महादेवी और प्रसाद या पन्त इसके उदाहरण हो सकते हैं। प्रथम कोटि के लोग अपनी अन्तर्दृष्टि और कल्पना के आध्यात्मिक वातायन से दिव्य दृश्यों की झाँकिया लेते हैं और उस कल्पना दृश्य, आध्यात्मिक लोक के असंवरणीय कुतूहल और उल्लास के समक्ष इस पार्थिव जगत् को हेय और शुष्क मानते हैं। उनके लिए वह लोक शाश्वत और अधिक विश्वसनीय तथा यह लोक नश्वर और असत्य होता है। इस प्रकार ये पूर्णतः अन्तर्वादी और अपनी प्रातिभ (इन्ट्यूटिव) अनुभूतियों के लोक के बन्दी बन जाते हैं, अपने आत्म-लोक और शुद्ध चैतन्य में डूब जाते हैं। अपनी कल्पना के निरपेक्ष प्रत्ययों और प्रतीकों को ही चरम सत्य मान लेने वाले ये 'रोमांटिक' रहस्यवादी और मतवादी बन जाते हैं। 'रोमाटिसिज़्म' का शुद्ध, स्वस्थ, ऐतिहासिक महत्त्व तथा सामाजिक उपयोगिता का वरेण्य रूप वह मानसिक स्थिति है जहाँ कवि-कलाकार मानसिक प्रत्ययों एवं प्रातिभ दृश्यों के स्वप्न-लोक में न खोकर, सामाजिक दायित्व, जीवन बदलने की चेतना तथा नवीन समाज की स्थापना के सदाशय से सदैव प्रेरित और जागरूक रहता है। उसका लक्ष्य यह विशिष्ट मानसिकता नहीं, जीवन और जगत् होता है।

इसी प्रकार निष्क्रिय और स्वप्न-भ्रान्त पक्ष के विपरीत, सक्रिय और समाज-सचेत 'रोमांटिक' पक्ष में भी दो प्रकार के कवि होते हैं और कभी-कभी एक ही कवि के भीतर दोनों प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं, यहाँ तक कि एक रचना एक प्रकार की और दूसरी दूसरी प्रकार की भी होती है। एक ही कृति के अन्दर भी दोनों ही तत्त्व न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान पाये जाते हैं। कोई वर्तमान से असन्तुष्ट होकर पुरानी मान्यताओं और पुराने मूल्यों में ही कल्याण और उद्धार का स्वप्न देखता है और कोई नयी परिस्थितियों में मानव की मानवीयता की रक्षा और उसके विकास का ध्यान रखते हुए, नये मूल्यों की स्थापना और मान्यता में समाज का कल्याण और मानवता का विकास देखता है। प्रथम को पुनरुत्थान-वादी और द्वितीय को नवीनता-वादी कह सकते हैं। जो मान्यताएँ नये सामाजिक सत्यों और नवीन परिस्थिति-विकासों की दुनियाँ में असम्भव और अव्यावहारिक

लगती हैं, उनके प्रति मोह इसका दुर्बल पक्ष और जो सचमुच कल्याण-कारी, नवीन विकासों के अनुकूल और श्रेयस्कर हैं, उन्हें स्वीकरणाय महत्त्व देना रोमाटिसिज्म का सबल पक्ष है। वर्डस्वर्थ तत्कालीन समाज के उद्योग-युगीन परिवर्त्तनों और कृत्रिमताओं से प्रतिक्रियमाण होकर प्रकृति की ओर गया था, जहाँ तक वह निरुद्देश्य और निष्क्रियवादी बन गया, वह एक सीमा है।

जीवन में श्रेय और प्रेय दो पहलू हैं। हर व्यक्ति में इनका निजी अनुपात होता है। 'रोमाटिक' कवि श्रेय का प्रेय-भूमि पर शृगार करता है, 'क्लासिकल' प्रेय के ऊपर श्रेय की व्याख्या करता है। एक में दूसरे के सर्वथा अभाव या प्रतिस्पर्धा की बात नहीं होती। प्रथम श्रेय के प्रेय-पक्ष के उद्घाटन में अधिक रुचिशील होता है, दूसरा प्रेय के श्रेय रूप को प्रकट करने का अधिक अभ्यासी। प्रेम, सौन्दर्य, कल्पना और रागों को प्रथम में प्रधानता मिल जाती है और द्वितीय में कल्याण, विवेक, संयम तथा प्रत्यक्ष-वाद को।

यह 'रोमाटिसिज्म' अब तक जिन रूपों में व्यक्त हुआ है उसमें कुछ अत्यन्त प्रमुख हैं। ऐसा कवि आत्म-चेता ही नहीं, आत्म-सम्मानी और अपने अस्तित्व के महत्त्व के प्रति भी सजग होता है। समाज के प्रचलनों के विरुद्ध खड़ा होने से यह पक्ष और स्पष्ट हो जाता है।

व्यक्ति के स्तर से प्रारम्भ करने पर भी, 'रोमांटिक' कवि अपनी सीमित सत्ता और वैयक्तिक अस्तित्त्व की सँकरी परिधियों से ऊपर उठा हुआ भी दिखलाई पड़ता है। घोर अन्तर्वादिता के परिणाम-स्वरूप आयी निजी अनुभूतियों, व्यक्तिगत मनोमुद्रा, पीड़ा और विषाद से ऊपर उठकर इन कवियों ने एक उच्चतर मानवीय सामजस्य का भी भावन किया है। भले ही वह इस प्रवृत्ति को पूर्ण सक्रियता न दे सका हो, पर इस तीव्र भाव-स्थिति में वह मानवता के उस सार्वभौम स्तर को भी स्पर्श करने लगता है जिसके फल-स्वरूप ही मानव मानवता का विस्तार कर सका है। सच्चा 'रोमाटिक' कवि मानववादी होता है, वह मानव की महिमा का विश्वासी और उसकी उच्चतर महत्वाकाक्षाओं और सम्पन्नता-सम्भावनाओं का स्वप्न-दर्शी होता है।

विषण्णता और निराशा का स्वर भी इसका एक रूप है। यह नवीन परिस्थितियों के समक्ष कवि की पराजय और निष्क्रियता का द्योतक है। जहाँ तक यह विषणता स्वय अपने में निरपेक्ष सत्य और ऐकान्तिक लक्ष्य है, अगति और विकृति का पक्ष है। जहाँ तक यह एक अस्थायी भाव-दशा और विरोध को बल देने की शुभ प्रेरणा से प्रणोदित होता है, कवि की एक मधुर मनोमुद्रा और कला का एक आस्वाद्य पक्ष है। कभी-कभी पराजय और निष्क्रियता को

ढकने के लिए एक 'बड़बोलापन' (ब्रैवेडोइज्म), आत्म-तुष्टि एवं आत्मरक्षा के अस्त्र के रूप में, मिथ्या भावना-वाद भी सामने आता दिखाई पड़ता है। यहाँ कवि अपनी असमर्थता को छिपाने और आत्म-समर्थन के लिए तर्काभासों और भाव-वादी उक्तियों का समवाय प्रस्तुत करने लगता है।

आन्तरिक जीवन पर बल देने के कारण ये आत्म-स्वातन्त्र्य और व्यक्ति की स्वतन्त्रता के भी समर्थक होते हैं। इस स्वातन्त्र्य में पुरानों को अनैतिकता और विधि-विद्रोह की गन्ध भी मिलती है, कहीं अपनी मान्यता के विरोध के कारण और कहीं कवि की दुर्बलता या असयत भावुकता के बहाव के कारण।

कभी-कभी बर्क की भाँति अस्पष्टता को भी कुछ 'रोमांटिक' एक सौन्दर्य मानने लगते हैं। स्पष्टता उनके लिए प्रेरणा का शत्रु होती है। इसी अस्पष्टता से वे भाव और विचारों को एक सम्भ्रान्तता एवं प्रभविष्णुता उत्पन्न करते हैं। स्पष्टता इनकी दृष्टि मे विचार और भाव की तुच्छता या लघुता का प्रमाण है। अस्पष्टता महत्ता और आन्तरिक जीवन की महिमा का अनिवार्य गुण है।

प्रकृति के साथ तादात्म्य और प्रकृति को मानव-भावों में रगने की प्रवृत्ति भी उनमें दिखलाई पड़ती है। कभी-कभी उन्हें, प्रकृति के विकास में आत्म-विकास और प्रकृति की सपन्न शान्ति में अपनी आत्मा की शान्ति का सगीत सुनाई पड़ता है। वर्डस्वर्थ ने प्रकृति के एक वासन्ती झोंके को साधु-महात्माओं के प्रवचनों और ज्ञानोपदेशों से भी अधिक मूल्यवान बतलाया है। उसे दुनिया की दुनियाँदारी भी अखरी है, व्यावसायिक आदान-प्रदान से उसे घृणा थी। ऐसे कवि प्रकृति पर अपने सुख-दुःख की छाया डालकर उसके शृङ्गार मे आत्म-पूर्णता का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार खँडहरों से प्रेम, ध्वस्त जीवन के प्रति उनकी सहानुभूति का एक रूपान्तर बन जाता है। चाँदनी का जादू, सिन्धु कूल का उन्मुक्त वातावरण उनके लिए परिशोधक, प्रेरक और उत्फुल्लकारी होता है। दृश्यों के लिए इनके मन मे असीम अनुराग होता है। वर्तमान जीवन के प्रति असन्तोष उन्हें न केवल नियमित अनुभव से अलग ले जाता है, वरन् कभी-कभी सुदूर भूभाग, इतिहास या विचित्र कथाओं की दुनियाँ में भी भ्रमण कराता है।

इस प्रकार 'रोमांटिक' लोगों के प्रकार भी निर्धारित हुए हैं। कुछ मे भावुकता, चिन्ता शीलता और स्वप्न-तल्लीनता का अश बहुत होता है, किसी का कल्पना-पक्ष प्रमुख होता है, कोई अपने से बाहर विदेशी वस्तुओं में रमण करता है। कोई रहस्यवादी या दार्शनिक-सा होता है, कोई भाव-प्रधान होता

है, कोई विश्लेषण-प्रिय भी बनता है। किसी का विश्वास सैनिक की भाँति विद्रोह शील होता है, कुछ वास्तव-वादी होता है। कोई स्वच्छन्दतावादी सौन्दर्य-भावना में रत रहते हैं, कुछ रोमाटिक मानवतावादी या सामाजिक स्वप्नवादी भी होते हैं। हिन्दी में 'रोमांटिसिजम' के लिए प्रायः 'स्वच्छन्तावाद' शब्द का प्रयोग 'शुक्ल' जी द्वारा प्रारम्भ में चल पड़ा है। 'क्लासिसिज्म' के लिए भी 'शास्त्रीयतावाद', 'परम्परावाद', 'संयम वाद', 'नीति-वाद' जैसे शब्द चल पड़े हैं।

हिन्दी में 'स्वच्छन्दता-वाद' शब्द मान्य तो हो गया है, पर इसकी मान्यता भी 'छायावाद' शब्द जैसो ही ऐतिहासिक है। 'छायावाद' शब्द का प्रारम्भ उस वर्ग द्वारा हुआ जो नये काव्य के प्रति सन्देहवान्, अनास्थावान्, व्यंग्यात्मक और विरोधी था। बाद में यह पारिभाषिक इस काव्य के लिए एक सर्व-मान्य शब्द हो गया, यद्यपि अर्थ साहचर्य में बडा बदलाव हो गया। 'शुक्ल' जी स्वय 'संयम-वादी' विचारक थे। उन्होंने 'स्वच्छन्दता' को अनुशासन-हीनता, नियमावज्ञा और मनमानापने के हलके अर्थों की व्यजना में ग्रहण किया था, अन्यथा 'स्वच्छन्दता' से अधिक गम्भीर शब्द उस दिशा में 'स्वातत्र्य' अथवा 'मुक्ति' था। इनसे यह नहीं झलकता कि कवि किसी भी अन्य मर्यादा को न मानकर अपने मन की ही करना पसन्द करता है। 'रोमांटिसिज्म' शब्द की व्युत्पत्ति का इतिहास भी यह सिद्ध करता है कि इस शब्द का आरम्भ भी अनुवाद, अन्तरण, अनूदय, विजातीयता, सुदूरता, काल्पनिकता, अविश्वसनीयता आदि हेय अर्थों में हुआ था। ऑरनोल्ड आदि संयमवादी स्थितिशील आलोचकों ने शेली आदि की कितनी भर्त्सना की है। अवरक्राम्बी जैसे आलोचकों की गम्भीर व्याख्याओं के पीछे भी इसके प्रति उनके अ-पूर्ण स्वीकार की झलक, दिखलाई ही पडती रहती है।

'स्वच्छन्द' शब्द को एक दृष्टि से देखें और उसको आधुनिकतम 'मनमानीपने' या 'सैलानीपने' के अर्थ को ध्यान से हटा दें, तो यह पर्याय बडा अर्थ पूर्ण भी है। 'स्वच्छन्द' शब्द यदि स्वात्म शासन अथवा अपनी 'आत्मा की वास्तविक प्रेरणा की छाया में होने वाले आचरण' के विशेषण के रूप में व्याख्यात हो तो यह इन कवियों की उन प्रवृत्तियों की ओर बडा सुन्दर संकेत करता है जिनके शासन में वे समाज के किसी परम्परा-प्राप्त विधि-निषेध के समक्ष अपनी अन्तरात्मा, अन्तरीण स्वानुभूति, हार्दिक प्रेरणा, स्वानुभूति-निरूपण को महत्त्व देकर चलते दिखलाई पडते हैं। स्वच्छन्दतावादी अपने से बाहर किसी मर्यादा या प्रतिबन्ध को न मानकर, अपनी आत्मा का स्वीय शासन स्वीकार कर चलता

है। परंपरा-विद्रोह, रूढ़ि-घृणा, बन्धन-मुक्ति, भावोन्मुक्ति, कल्पनातिशय्य, भाषा के प्रति स्वकीय रुचि, जिज्ञासा और कुतूहल के दृष्टिकोण, अतीत रमणीयता के प्रति स्मृतिशीलता, 'भावी' के चित्रों के प्रति अनुराग आदि सभी विशेषताएँ इस शब्द के तात्त्विक अर्थ के भीतर समाहित हो जायँगी। यह तभी होगा, जब 'स्वच्छन्दता' के साथ 'निरंकुशता' की चेतन-अचेतन कोई भी अनुषंग-छाया सम्बद्ध न मानी जाय।

इस शब्द में, मेरी दृष्टि में, फिर भी एक अव्याप्ति रह ही जाती है। तथाकथित स्वच्छन्दतावादी कवि केवल अपनी स्वच्छन्दता के लिए ही विद्रोह-शील नहीं होते। इस 'स्वच्छदता' शब्द मे 'व्यक्तिवादिता' और 'वैयक्तिक कारणों से प्रेरित समाज-विद्रोह' की ध्वनि भी सुनी जा सकती है। स्वच्छन्दता-वादी कवि इंगलैंड में, समाज और उसके प्रचलनों तथा कृत्रिम विकासों के विरुद्ध जन-जीवन की मुक्ति के लिए भी उठे थे। इन्होंने समाज के लघु माने जाने वाले अस्तित्वों, किसानों, चरवाहों एवं मल्लाहों आदि के नगण्य जीवन को भी अपने काव्य में महत्त्व प्रदान किया है। इनके मनमें जन-जीवन और समाज-व्यवस्था का एक चित्र था। स्वच्छन्दतावाद को केवल वैयक्तिक सीमाओं में बाँध देना उसके सामाजिक दायित्व और लोक-पक्ष के प्रति अन्याय होगा। 'शुक्ल' जी छायावाद के प्रति व्यक्तिवादिता के आरोप को लेकर बड़े सजग रहते थे। जिन लोगों ने छायावाद की सामाजिक क्रान्ति की बात की, उनके विरुद्ध उन्होंने यही धारणा दुहराई कि 'सामाजिक आँधी' आदि जैसी कोई बात न थी, छायावाद बँगला का अनुकरण-मात्र है।

स्वच्छन्दता-वाद के लिए लेखक ने भी कई पर्याय सोचे हैं। जब उसकी संवेगात्मकता की ओर ध्यान जाता है तो 'राग-वाद' कहने को जी मचल उठता है; जब सौन्दर्य के प्रति उनकी अप्रतिहत प्यास की स्मृति आती है तो 'प्रेय-वाद' कहने की लालसा उठती है, 'रोमांटिसिज़्म' की अनुध्वनि पर 'रोमान-वाद' शब्द भी सामने आ खड़ा होता है। स्वच्छन्दता-वादी रागी होता है। वह समस्त प्रचलित मान्यता-बन्धनों को अपने आन्तरिक राग की प्रेरणा से अस्वीकार करने क आन्तरिक शक्ति रखता है। राग की यही प्रबलता उसे कल्पना-रमण, वर्तमान की कटुता से उन्मुक्ति, सुदूर-संचरण और स्वानुभूतियों के वस्तूपेक्ष निरूपण की ओर प्रेरित करती है। अपनी राग की ही कसौटी पर वह एक नये मूल्यों पर आधारित समाज की कल्पना को भी साकार करता है। रागों के प्रमाण पर ही वह श्रुतियों से समाज-समर्थन-प्राप्त व्यवस्था को चुनौती देकर नवीन को स्वीकृति देता है।

स्वछन्दतावादी हर प्रकार के सौन्दर्य के प्रति अ-साधारण रूप से संवेदन-शील होता है। 'प्रसाद' जी ने तो श्रेय को प्रेय रूप की चारुता में पकड़ने वाली 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' को कवि-मात्र की विशेषता माना है। स्वच्छ-न्दता-वादी की तृप्ति केवल श्रेय से नहीं होती। उसके लिए प्रेय में श्रेयता की स्थिति अनिवार्य रूप से स्वयं-सिद्ध होती है। यह मन के शासन में चलता है, इसकी ध्वनि भी इस शब्द में प्राप्त हो सकती है। विवेक, बुद्धि, व्यावहारिकता, शास्त्रा नुगामिता, सामान्य बोध, तर्क आदि की गौणता भी इसके परिवृत्त में समा सकती है। प्रेम से राग की विजातीयता नहीं, सजातीयता है। नवीन व्यञ्जनाओं, नयी शब्दावली एवं संगीतमयी रागानुगा पदावलियों से भाषा के नव शृङ्गार की विशेषता भी प्रेयता की दृष्टि से परे नहीं है। यह प्रेयता यदा-कदा उनकी स्वच्छन्दता और निरंकुशता की भी व्याख्या करने में समर्थ होगी। स्वच्छन्दता में व्यक्ति और समाज के पक्षों पर अलग-अलग बल देनेवाले विद्वानों के सामने भी कोई अनुल्लंघ-नीय रेखा नहीं उपस्थित होगी। विद्रोह और मुक्ति-कामना के तत्त्व प्रेम-दृष्टि के ही शिविर के सहकर्मी हैं। यह 'प्रेयवाद' शब्द इस धारा के काव्य की समस्त प्रवृत्तियों के समाहार की शक्ति रखता है। स्वानुभूति-निरूपण भी 'मूल्य'-संघर्ष को स्थिति में, किन्हीं मूल्यों के साथ अपनी रुचि प्रकट करते हुए, उन्हें प्रियता देने की वृत्ति का ही प्रसार है।

प्रश्न होता है, क्या 'छायावाद' स्वच्छन्दतावाद या 'प्रेयवाद' ही है या उससे कुछ इतर और भिन्न भी ? आचार्य 'शुक्ल' जी ने पं० मुकुटधर पाडेय आदि द्वारा प्रदर्शित 'स्वच्छन्दता वाद' की स्वाभाविक धारा से छायावाद को भिन्न, विदेशीय और कृत्रिम माना है। "गुप्त और मुकुटधर पाडेय आदि के द्वारा यह स्वच्छन्द नूतन धारा चली ही थी कि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उन कविताओं की धूम हुई जो अधिकतर पाश्चात्य ढाँचे का आध्यात्मिक रहस्यवाद लेकर चली थीं। पुराने ईसाई सन्तों के छायाभास (फैन्टसमेटा) तथा यूरोपीय काव्य-क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीक-वाद (सिम्बॉलिज्म) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएँ 'छायावाद' कही जाने लगी थीं। (—'इतिहास', पृ० ६५०—५१)।

'शुक्ल' जी छायावाद की विशेषताओं में रहस्यात्मकता, अभिव्यञ्जना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विशृङ्खलता, चित्रमयी भाषा (प्रतीकवाद, चित्र-भाषा-वाद) और मधुमयी कल्पना को गिनाते हुए, सम्भवत. 'स्वच्छन्दता-वाद' को इन प्रवृत्तियों का विरोधी मानते या इनसे और स्वच्छन्दता-वाद में

विरोध स्थापित करते हैं। अंगरेजी के रोमानी पुनर्जागरण-युग के कवियों में क्या लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता रहस्यात्मकता आदि विशेषताएँ नहीं हैं ? फिर इनमें और स्वच्छन्दतावाद में द्वन्द्व कहाँ है ? स्वच्छन्दतावाद जीवन के भार-स्वरूप बन्धनों और साहित्यिक रूढ़ियों की हीनार्थता के विरुद्ध विद्रोह है। छायावाद ने भी तत्कालीन जीवन की भार-मयता, कृत्रिमता, प्रकृति-विरोधिता और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-हीनता के विरुद्ध स्वर ऊँचा किया है। इतिवृत्तात्मक काव्य-प्रणाली की अति-अभिधेयता, कृत्रिम अलंकृतता और गद्यात्मकता के विरुद्ध छायावादी कवियों ने लक्षणा, व्यंजना, प्रतीकात्मकता, छाया-विच्छित्ति, विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण, मानसीकरण, चित्रात्मक विशेषणों की योजना, विरोधाभास-प्रियता को प्रश्रय देकर भाषा की अर्थ-व्यंजकता, सूक्ष्म संकेत-शक्ति का विस्तार किया है। छन्द-विधान में भी उन्होंने आन्तरिक लय और भाव-संगीत के साथ शब्द-संगीत का सामरस्य-पथ प्रशस्त किया। रागात्मकता, स्वच्छन्दता-प्रेम, कल्पनातिशयता, प्रेय-दृष्टि, परंपरा एवं रूढ़ि का विरोध, नवीन जीवन-मूल्यों की चेतना आदि सभी स्वच्छन्दवादी पक्ष इस काव्य-धारा पर तल-स्पष्ट हैं, फिर दोनों में कोई विरोध मानना कहाँ से सिद्ध होता है ?

छायावाद को प्रकृतिवादी दर्शन या वस्तुओं में व्यष्टि-आत्मा के दर्शन की दार्शनिक पद्धति मानने वाले मतों पर, 'छायावाद की काव्य-साधना' नामक ग्रंथ के 'छायावाद : व्याख्या-परिभाषा' शीर्षक अध्याय में विस्तार के साथ विचार किया गया है। जीवन की कृत्रिमता और दुर्भरता से प्रतिक्रियमाण इन कवियों के मन का प्रवेग प्रकृति की प्रशस्त गोद में शान्त और सम्पन्न, दृढ़तर और निश्चित-प्राय होता जा रहा है। 'शुक्ल' जी के काल और अब के समय में ही 'छायावाद'-सम्बंधिनी मान्यताओं में बड़ा अंतर आ गया है। अब 'छाया' के प्रसंग में 'अनुकृति', 'विदेशीयता' या जानबूझ कर लायी जाने वाली अप्रत्यक्ष कथन-जनित 'अस्पष्टता' का भाव लुप्त-प्राय है। जिस प्रकार आचार्य 'शुक्ल' जी ने छायावाद को एक विदेशी प्रभाव माना था, वैसे ही अंगरेजी के नये रोमानी काव्य को भी लोग फ्रांस का प्रभाव मानते थे। कैज़ामियाँ महोदय ने इसका निराकरण करते हुए कहा है कि यह विदेशी प्रभाव का ही परिणाम नहीं है। इंगलैंड में एक विशाल और अपेक्षाकृत स्वतंत्र मध्यवर्ग पहले से ही वर्तमान था, अतएव सर्व प्रथम इसी देश ने संयम, शुष्क तर्क, व्यक्ति पर समाज के अनुचित प्राधान्य के विरुद्ध भावात्मकता, कल्पना और एक सच्ची मानववादिता का तूर्य बजाया था। रूसो के क्रान्तिकारी प्रकृति-वाद ने उन्हें अनुकूल प्रेरणा दी थी। काण्ट और शेलिंग के जर्मनी से चले 'भूतोत्तरवादी' (ट्रान्सेंडेंटाल) विचारों ने भी गति-वेग प्रदान

स्वच्छन्दतावादी हर प्रकार के सौन्दर्य के प्रति अ-साधारण रूप से संवेदन-शील होता है। 'प्रसाद' जी ने तो श्रेय को प्रेय रूप की चारुता में पकड़ने वाली 'आत्मा की सकल्पात्मक अनुभूति' को कवि-मात्र की विशेषता माना है। स्वच्छ-न्दता-वादी की तृप्ति केवल श्रेय से नहीं होती। उसके लिए प्रेय में श्रेयता की स्थिति अनिवार्य रूप से स्वयं-सिद्ध होती है। यह मन के शासन में चलता है, इसकी ध्वनि भी इस शब्द में प्राप्त हो सकती है। विवेक, बुद्धि, व्यावहारिकता, शास्त्रा नुगामिता, सामान्य बोध, तर्क आदि की गौणता भी इसके परिवृत्त में समा सकती है। प्रेम से राग की विजातीयता नहीं, सजातीयता है। नवीन व्यंजनाओं, नयी शब्दावली एवं संगीतमयी रागानुगा पदावलियों से भाषा के नव शृङ्गार की विशेषता भी प्रेयता की दृष्टि से परे नहीं है। यह प्रेयता यदा-कदा उनकी स्वच्छन्दता और निरकुशता की भी व्याख्या करने में समर्थ होगी। स्वच्छन्दता में व्यक्ति और समाज के पक्षों पर अलग-अलग बल देनेवाले विद्वानों के सामने भी कोई अनुल्लंघ-नीय रेखा नहीं उपस्थित होगी। विद्रोह और मुक्ति-कामना के तत्त्व प्रेम-दृष्टि के ही शिविर के सहकर्मी हैं। यह 'प्रेयवाद' शब्द इस धारा के काव्य की समस्त प्रवृत्तियों के समाहार की शक्ति रखता है। स्वानुभूति-निरूपण भी 'मूल्य'-संवर्ष को स्थिति में, किन्हीं मूल्यों के साथ अपनी रुचि प्रकट करते हुए, उन्हें प्रियता देने की वृत्ति का ही प्रसार है।

प्रश्न होता है, क्या 'छायावाद' स्वच्छन्दतावाद या 'प्रेयवाद' ही है या उससे कुछ इतर और भिन्न भी? आचार्य 'शुक्ल' जी ने प० मुकुटधर पाडेय आदि द्वारा प्रदर्शित 'स्वच्छन्दता वाद' की स्वाभाविक धारा से छायावाद को भिन्न, विदेशीय और कृत्रिम माना है। "गुप्त और मुकुटधर पाडेय आदि के द्वारा यह स्वच्छन्द नूतन धारा चली ही थी कि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की उन कविताओं की धूम हुई जो अधिकतर पाश्चात्य ढाँचे का आध्यात्मिक रहस्यवाद लेकर चली थीं। पुराने ईसाई सन्तों के छायाभास (फैन्टसमेटा) तथा यूरोपीय काव्य-क्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीक-वाद (सिम्बॉलिज्म) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएँ 'छायावाद' कही जाने लगी थीं। (—'इतिहास', पृ० ६५०—५१)।

'शुक्ल' जी छायावाद की विशेषताओं में रहस्यात्मकता, अभिव्यजना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विशृंखलता, चित्रमयी भाषा (प्रतीकवाद, चित्र-भाषा-वाद) और मधुमयी कल्पना को गिनाते हुए, सम्भवतः 'स्वच्छन्दता-वाद' को इन प्रवृत्तियों का विरोधी मानते या इनसे और स्वच्छन्दता-वाद में

विरोध स्थापित करते हैं। अंगरेजी के रोमानी पुनर्जागरण-युग के कवियों में क्या लाक्षणिकता, प्रतीकात्मकता रहस्यात्मकता आदि विशेषताएँ नहीं हैं ? फिर इनमें और स्वच्छन्दतावाद में द्वन्द्व कहाँ है ? स्वच्छन्दतावाद जीवन के भार-स्वरूप बन्धनों और साहित्यिक रूढ़ियों की हीनार्थता के विरुद्ध विद्रोह है। छायावाद ने भी तत्कालीन जीवन की भार-मयता, कृत्रिमता, प्रकृति-विरोधिता और व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-हीनता के विरुद्ध स्वर ऊँचा किया है। इतिवृत्तात्मक काव्य-प्रणाली की अति-अभिधेयता, कृत्रिम अलकृतता और गद्यात्मकता के विरुद्ध छायावादी कवियों ने लक्षणा, व्यंजना, प्रतीकात्मकता, छाया-विच्छित्ति, विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण, मानसीकरण, चित्रात्मक विशेषणों की योजना, विरोधाभास-प्रियता को प्रश्रय देकर भाषा की अर्थ-व्यंजकता, सूक्ष्म सकेत-शक्ति का विस्तार किया है। छन्द-विधान में भी उन्होंने आन्तरिक लय और भाव-सगीत के साथ शब्द-सगीत का सामरस्य-पथ प्रशस्त किया। रागात्मकता, स्वच्छन्दता-प्रेम, कल्पनातिशयता, प्रेय-दृष्टि, परंपरा एव रुढि का विरोध, नवीन जीवन-मूल्यों की चेतना आदि सभी स्वच्छन्दवादी पक्ष इस काव्य-धारा पर तल-स्पष्ट हैं, फिर दोनों में कोई विरोध मानना कहाँ से सिद्ध होता है ?

छायावाद को प्रकृतिवादी दर्शन या वस्तुओं में व्यष्टि-आत्मा के दर्शन की दार्शनिक पद्धति मानने वाले मतों पर, 'छायावाद की काव्य-साधना' नामक ग्रंथ के '*छायावाद : व्याख्या-परिभाषा*' शीर्षक अध्याय में विस्तार के साथ विचार किया गया है। जीवन की कृत्रिमता और दुर्भरता से प्रतिक्रियमाण इन कवियों के मन का प्रवेग प्रकृति की प्रशस्त गोद में शान्त और सम्पन्न, दृढ़तर और निश्चित-प्राय होता जा रहा है। 'शुक्ल' जी के काल और अब के समय में ही 'छायावाद'-सम्बंधिनी मान्यताओं में बड़ा अंतर आ गया है। अब 'छाया' के प्रसग में 'अनुकृति', 'विदेशीयता' या जानबूझ कर लायी जाने वाली अप्रत्यक्ष कथन-जनित 'अस्पष्टता' का भाव लुप्त-प्राय है। जिस प्रकार आचार्य 'शुक्ल' जी ने छायावाद को एक विदेशी प्रभाव माना था, वैसे ही अंगरेजी के नये रोमानी काव्य को भी लोग फ्रांस का प्रभाव मानते थे। कैज़ामियाँ महोदय ने इसका निराकरण करते हुए कहा है कि यह विदेशी प्रभाव का ही परिणाम नहीं है। इगलैंड में एक विशाल और अपेक्षाकृत स्वतंत्र मध्यवर्ग पहले से ही वर्तमान था, अतएव सर्व प्रथम इसी देश ने सयम, शुष्क तर्क, व्यक्ति पर समाज के अनुचित प्राधान्य के विरुद्ध भावात्मकता, कल्पना और एक सच्ची मानववादिता का तूर्य बजाया था। रूसो के क्रान्तिकारी प्रकृति-वाद ने उन्हें अनुकूल प्रेरणा दी थी। कांट और हीगल के जर्मनी से चले 'भूतोत्तरवादी' (ट्रान्सेंडेंटाल) विचारों ने भी गति-वेग प्रदान

किया, पर उसे यूरोपीय या फ्रास के आन्दोलन का प्रक्षेप मात्र मानना ठीक नहीं। यही बात छायावादी काव्य के विषय में भी चरितार्थ है। जहाँ तक झुकाव (टेंडसी) और रुख का प्रश्न है, छायावाद निश्चय ही एक प्रेम-वादी या स्वच्छन्दतावादी आन्दालन है। उसमें आयी कुछ निजी वृत्तियाँ 'वस्तु-द्रव्य' का अन्तर प्रकट करती हैं, 'मूल प्रकृति' का भेद नहीं।

जीवन और प्रकृति के सम्बन्ध, स्वानुभूतियों के महत्त्व-दान, प्रेम के प्रति उत्साह-भाव, नारी-गौरव की दृष्टि, विवेक के समक्ष भावात्मक सत्यता की गरिमा, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की मान्यता आदि, तत्कालीन भारतीय समाज के परम्परागत जीवन-मूल्यों के विरुद्ध नवीन प्रजातान्त्रिक मानव मूल्यों के विद्रोह के प्रतिपादक हैं। मूल्य-गत आलाचना-पद्धति का उत्तरोत्तर सतुलित विकास ही छायावाद के महत्त्व का खोज में सफल हा सकेगा। जीवन का पूर्णतर रूप देखना अमनोवैज्ञानिक नहीं। छायावादी काव्य निश्चित रूप से जीवन-मूल्यों के सघर्ष-काल की आविर्भूति है। औद्योगिक विकास की निरन्तर वर्धमान छाया के नीचे, एक नगर-प्रधान सभ्यता का विस्तार होता जा रहा था। कृषि और ग्राम-जीवन की समाज-व्यवस्था में निरूपित 'मूल्य', उद्योग-प्रधान सभ्यता के नवीन मूल्यों से सघर्ष अनुभव करने लगे थे। जीवन प्रकृति और स्वाभाविकता से दूर नागर कृत्रिमता से घिरता जा रहा था। 'समाज'-प्रधान सम्बन्ध-व्यवस्था 'व्यक्ति' के अस्तित्व के प्रति निरपेक्ष होती जा रही थी। व्यक्ति स्वातन्त्र्य की एक निश्चित सीमा में ही व्यक्ति के व्यक्तित्व-विकास की सम्भावना के प्रति विश्वास बढ़ने लगा था। प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के नये मान व्यक्तियों के मन में घर करने लगे थे। प्रेम और करुणा आदि भाव-मूल्यों का महत्त्व, अतिरिक्त भावुकता कहलाकर बौद्धिकता के निर्मोह चक्र से चूर्णित हो रहा था। इसी समय व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, भावानुभूति की प्राथमिकता, कल्पना के प्राधान्य और नवीन नीति-उद्भावना को लेकर रूढि विद्रोही 'छाया'-काव्य हिन्दी के पद्य-क्षितिज पर अवतरित हुआ। मेरी समझ में छायावाद एक स्वच्छन्दतावादी या प्रेयवादी काव्यान्दोलन ही है। अन्य देशों के प्रेमवादी आन्दोलनों की प्रवृत्तियों से भिन्न यदि कुछ अतिरिक्त वृत्तियाँ इसमें दिखलाई पडती हैं, तो उन्हें देश-काल-गत भेद मानकर छूट ही देनी होगी। इतिहास और परपरा ने इसे 'छायावाद' नाम दे दिया है, ओर अब इस नाम के अन्तर्गत इसकी सृष्टियों में इतनी प्रौढता और निश्चितता आ गयी है कि उसे निराकृत कर केवल प्रेय-वाद या स्वच्छन्दता-वाद कहना अनावश्यक प्रयास-मात्र होगा। धीरे धीरे इस नाम के 'छाया' अश के साथ उन समस्त विशिष्टताओं का मानसिक अनुषग (असोशिएशन) दृढ़ होता

गया है और आज छायावाद अपने उन समस्त गुणों का प्रतीक और प्रतिनिधि बन गया है जो इस में निहित हैं। अब यह स्वयं एक पारिभाषिक शब्द बन गया है।

इसके विकास-इतिहास के विवेचन के लिए १९ वीं शती के 'पुनरुत्थान-युग' में हुए मुद्रण-यन्त्र के प्रचार, पुस्तक-प्रकाशन, जन-शिक्षा, पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन' प्राचीन संस्कृत-साहित्य के अधिकाधिक अध्ययन, 'बंगाल एशियाटिक सोसाइटी' की स्थापना, देशी विदेशी अनुवाद, लोक-साहित्य की ओर रुचि-जागरण, दर्शन के नवीन अभ्युत्थान, बौद्ध-दर्शन के प्रसार, अनेक सुधार और धर्म सम्बन्धी संस्थाओं के उद्घाटन, चित्र और मूर्त्ति-कला के नवोत्थान, संगीत के व्यापक उन्मेष, पुरातत्त्व-विभाग की खोजों एवं खुदाइयों-आदि के व्यापक परिदर्श में उतरना पड़ेगा। इन विविध उत्थानों ने इस काव्य की 'वस्तु' तथा शैली को प्रभावित किया है। इन विविध स्रोतों से प्रेरित-उद्बोधित यह धारा, नये युग की नवीन परिस्थितिओं में वस्तु के नये धरातल, सौन्दर्य-बोध के नये आयामों और नवोदित प्रतिमानों के साथ एक ऐतिहासिक आवश्यकता के रूप में आयी है।

साराश यह है कि मानवीयता, व्यक्ति की आत्म-प्रतिष्ठा, प्रकृति के प्रति नयी दृष्टि, नारी के साथ नव सम्बध-चेतना, ध्वन्यात्मकता, प्रतीकात्मकता, लाक्षणिक शब्द-विधान, विशेषण-विपर्यय, नादार्थ-व्यंजना, चित्र-मय विशेषणों के प्रयोग, विरोधाभासी उक्तियों-आदि विशेषताओं से संवलित यह 'छायावाद' व्यक्ति, परिवार और समाज के स्तर पर नवीन मूल्यों की चेतना का परिबोध और नवीन सन्तुलन की प्राप्ति का साहित्यिक प्रयास है।

सहायक ग्रंथ-सूची

१—'हिन्दी-साहित्य का इतिहास'—आ० रामचन्द्र शुक्ल, सं० २००३.

२—'रहस्यवाद' — „ „

३—'हिन्दी-साहित्य की भूमिका'—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

४—साहित्य के साथी— „ „

५—'आधुनिक साहित्य' (प्र० सं०)—आ० नन्ददुलारे वाजपेयी

६—'जयशंकर प्रसाद „ „

७—'हिन्दी-साहित्य : बीसवीं शताब्दी'— „ „

८—'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास'—डा० श्री कृष्ण लाल

९—'आधुनिक काव्य-धारा'—डा० केसरी नारायण शुक्ल

१०—'कामायनी-अनुशीलन'—श्री राम लाल सिंह

११—'छायावाद का पतन'—डा० देवराज

१२—'छायावाद-युग'—डा० शम्भूनाथ सिंह

१३—'प्रसाद का काव्य'—डा० प्रेमशंकर तिवारी

१४—'क्रांतिकारी कवि निराला'—श्री बच्चन सिंह

१५—'साहित्य का मर्म'—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी

१६—'चिन्तामणी' पहला भाग—आ० रामचन्द्र शुक्ल

१७—'चिन्तामणि', दूसरा भाग— „ „

१८—'हिन्दी-कविता में युगान्तर'—डा० सुधीन्द्र

१९—'पन्त का काव्य और युग'—श्री यशदेव

२०—'सुमित्रा नन्दन पन्त'—डा० नगेन्द्र

२१—'महादेवी वर्मा'—शचीरानी गुर्टू

२२—'महादेवी की रहस्य-साधना'—श्री विश्वम्भर 'मानव'

२३—'प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन'—श्री किशोरी लाल गुप्त

२४—'सुमित्रानंदन पन्त'—श्री 'मानव'

२५—'कवि प्रसाद, आँसू तथा अन्य कृतियाँ'—प्रो० विनय मोहन शर्मा

२६—'कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह'—नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० १९८५.

२७—'मिट्टी की ओर'—'दिनकर'

२८—'हीरकजयंती-ग्रंथ' (ना० प्र० स०)—सं०—डा० श्रीकृष्ण लाल,
प० करुणापति त्रिपाठी, स० २००१ वि०
२९—'काव्य, कला तथा अन्य निबंध'—जयशंकर प्रसाद
३०—'आँसू की व्याख्या'—श्री विश्वनाथ लाल 'शैदा'
३१—'हिन्दी-साहित्य'—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, १९५२.
३२—'आधुनिक हिन्दी-साहित्य का इतिहास'—पं० कृष्ण-शंकर शुक्ल
३३—'आधुनिक हिन्दी-साहित्य'—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
३४—'हिस्ट्री आव इंगलिश लिटरेचर' (संशोधित संस्करण)–लिग्वी और कैजामियाँ
३५—'दि प्रोग्रेस आव रोमांस'—क्लारारीव, १७८५.
३६—'प्राब्लम्स आव आर्ट एंड कल्चर'—माउत्सेतुंग, १९५०.
३७—'इल्यूजन एण्ड रिअलिटी' (नवीन संस्करण, १९४६)—क्रिस्टफर कॉडवेल
३८—'हिन्दी-भाषा और साहित्य का विकास'—प० अयोध्याप्रसाद सिंह
'हरिऔध', सं० १९९७.
३९—'वाङ्मय-विमर्श'—आ० विश्वनाथप्रसाद मिश्र
४०—'हिन्दी का समसामयिक साहित्य'—आ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
४१—'सोसाइटी, कल्चर एण्ड पर्सनेलिटी'—पिटिरिम ए० सोरोकिन

सहायक पत्रिकाएँ

१—'प्रसाद' पत्रिका (डा० जगन्नाथ शर्मा का छायावाद-सम्बन्धी निबंध)—
काशी, स० १९५५.
२—'इन्दु' के अंक—काशी, स० १९०८, १९०९, १९१०.
३—'श्री शारदा' के अंक (श्री मुकुटधर पाण्डेय के लेख)—जबलपुर,
सन् १९२०.
४—'राष्ट्र-वाणी' पत्रिका—पूना, स० १९५६ ई०.
५—'साहित्यकार'—'साहित्यकार-संसद्', प्रयाग, स० १९५५.
६—'धर्म-युग'—बम्बई, १९५५–५६ ई०.
७—'हंस'—काशी, १९३२.